रसाभास और भावाभास

(संस्कृत काव्यशास्त्र में निबद्ध रसाभास और भावाभास का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से विवेचन)

केदारनाथ शर्मा

रसाभास और भावाभास

[संस्कृतकाव्यशास्त्र में निबद्ध रसाभास और भावाभास का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से विवेचन]

रसाभास और भावाभास

[संस्कृतकाव्यशास्त्र में निबद्ध रसाभास और भावाभास का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से विवेचन]

डॉ० केदारनाथ शर्मा
एम०ए०, एम०फिल्०, पीएच०डी०
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू तवी – १८०००४

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली - ११०००७
दूरभाष : २५२०२८७

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : ४००.००

आई० एस० बी० एन् ०: ८१-८६३३९-६७-१

टाईप सैटिंग : नॉस्कॉस

मुद्रक : शाम प्रिंटिंग ऐजन्सी
१/३६ए, विजय नगर, दिल्ली-७

समर्पण

तामर्पयमि मयि या
सततं विरक्ता।

प्राक्कथन

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही मेरी रुचि रही है। एम्० ए० एवं एम्० फिल्० के पाठ्यक्रमों में निर्धारित काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, दशरूपक आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थें में उद्धृत उदाहरणों के विषय में जब कभी मैं गम्भीर होकर विचार करता तो उनमें से कई उदाहरणों में व्यक्त भावों के विषय में मुझे प्राय: यह अनुभव होने लगता था कि इनमें कहीं नैतिक मूल्यों की अवहेलना हुई है। अपनी इस धारणा को लेकर जब मैं साहित्यशास्त्र के प्राध्यापक अपने गुरु प्रो० रामप्रताप के सम्मुख उपस्थित हुआ तो मुझे उनसे यह सुनकर सुखद आश्चर्य हुआ कि इन उदाहरणों के सम्बन्ध में वे भी मेरी जैसी ही धारणा रखते हैं। उनके विचार में भी **'शून्यं वासगृहम्'** जैसे पति-पत्नी के एकान्त मिलन के चित्र ही संयोगशृङ्गार-रस के विषय हैं और **'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्'** जैसे व्यभिचारपूर्ण यौन-चित्रण नैतिक दृष्टि से रसाभास की परिधि में आते हैं। यह शोध ग्रन्थ अनौचित्य प्रवर्त्तित रस एवं भाव-रसाभास एवं भावाभास – के प्रति मेरी बढ़ती जिज्ञासा का परिणाम है। प्रो० रामप्रताप जी ने मेरी इस रचना की स्तर वृद्धि में यथेष्ट सहयोग दिया है। एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

आरदणीया डा० वेदकुमारी, तत्कालीन प्रोफेसर एवं अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, जम्मू यूनिवर्सिटी, जम्मू से इस पुस्तक के लेखन में जो प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अविस्मरणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र **'निर्गुण'** जी (वाराणसी) के प्रति मैं श्रद्धानत हूँ, रसाभास - भावाभास सम्बन्धी अनेक गुत्थियों को स्पष्ट करने में मुझे उनसे यथेष्ट सहायता मिली है।

मेरी शैक्षणिक उपलब्धि पर मुझसे अधिक रुचि मेरे अग्रज श्री वद्रीनाथ जी की रही है। ईश्वर से प्रार्थना है कि मैं सदैव उनके स्नेह का पात्र बना रहूँ। इस अवसर पर ममता की देवी माता जी, स्वर्गीय पिता जी एवं छोटे भाई - बहनों की मूर्त्तियाँ भी मेरी स्मृतिपटल पर उभर कर आ रही हैं। हृदय उनके प्रति श्रद्धा एवं स्नेह अनुभव कर रहा है। ग्रन्थ रचना के लिए सदा प्रेरित करने वाले अपने मित्र पं० शिवदत्त शास्त्री का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभागीय तथा केन्द्रीय पुस्तकालय; श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू के पुस्तकालय; श्रीरणवीर - संस्कृत - अनुसन्धान पुस्तकालय, जम्मू; होशियारपुर (पंजाब) के विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के पुस्तकालय; वाराणसी के श्रीगोयनका - पुस्तकालय एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत - विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्षों एवं कर्मचारियों ने यथाशीघ्र पुस्तक उपलब्ध कराने तथा अध्ययन सुविधा प्रदान करने में जो सहायता की है, उसके लिए मैं इन सब का आभारी हूँ।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक को पूरा करने में जिन विद्वानों, मित्रों, महानुभावों एवं स्वजनों से प्रेरणा एवं सहयोग मिला है, उन सबके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में, मैं उन प्राचीन आचार्यों एवं आधुनिक समीक्षकों का भी कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों की सामग्री का मैंने इस प्रबन्ध में यथेष्ट उपयोग किया है। ग्रन्थ को इस सुन्दर रूप में मुद्रित करने वाले-ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली के अधिकारीगण भी साधुवाद के पात्र हैं।

विनीत -

डा० केदारनाथ शर्मा

दिनाङ्क : मई, १९९७ ई०

सङ्केत - सूची

क्रमांक	संकेत		ग्रन्थ का नाम
१.	अ० भा०	:	अभिनव भारती
२.	अ० महो०	:	अलङ्कार महोदधि
३.	अ० र०	:	अलङ्कार रत्नाकर
४.	अ० शा०	:	अभिज्ञानशाकुन्तल
५.	अ० स०	:	अलङ्कारसर्वस्व
६.	अ० सा० सं०	:	अलङ्कारसारङ्ग्रह
७.	औ० वि० च०	:	औचित्यविचारचर्चा
८.	का० अ०	:	काव्यालङ्कार
९.	का० द०	:	काव्यदर्पण
१०.	का० प्र०	:	काव्यप्रकाश
११.	का० प्र० वा०	:	काव्यप्रकाश वामन-झलकीकर कृत टीकायुक्त
१२.	का० प्र० वि०	:	काव्यप्रकाश विवेक
१३.	का० आ०	:	काव्यादर्श
१४.	का० अनु०	:	काव्यानुशासन
१५.	का० अ०	:	काव्यालङ्कार
१६.	का० अ० सा० सं० का० सा० सं०	:	काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह
१७.	का० अ० सू०	:	काव्यालङ्कारसूत्र
१८.	कु० आ०	:	कुवलयानन्द
१९.	कु० सं०	:	कुमारसम्भव
२०.	चं० आ०	:	चन्द्रालोक

२१.	द० रू०	:	दशरूपक
२२.	ध्व० आ० ध्व० लो० लो०	:	ध्वन्यालोकलोचन
२३.	ना० शा०	:	नाट्यशास्त्र
२४.	भ० र० सिं०	:	भक्तिरसामृतसिन्धु
२५.	र० गं०	:	रसगङ्गाधर
२६.	रं० मं०	:	रसमंजरी
२७.	र० त०	:	रसतरङ्गिणी
२८.	र० र० प्र०	:	रसरत्नप्रदीपिका
२९.	र० सु०	:	रसार्णवसुधाकर
३०.	व० जी०	:	वक्रोक्तिजीवित
३१.	व्य० वि०	:	व्यक्तिविवेक
३२.	शृं० ति०	:	शृङ्गारतिलक
३३.	स० कं०	:	सरस्वतीकण्ठाभरण
३४.	सा० द०	:	साहित्यदर्पण
३५.	सम्	:	सम्वत्

भूमिका

रसध्वनि के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाशबलता का समावेश किया गया है। रस एवं भाव की भाँति रसाभास एवं भावाभास भी काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनकी रसवत्ता एवं काव्य में अनिवार्य स्थान को दृष्टिगत करके ही प्राचीन आचार्यों ने रसााभास - भावाभास को ध्वनिकाव्य अथवा उत्तम काव्य का ही एक प्रकार स्वीकृत किया है।

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि काव्य में इतने महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हुए भी इनके विवेचन की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया - न प्राचीन काल में, न आधुनिक समय में।

वस्तुतः भारतीय आचार्यों की दृष्टि अकेले रस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप के विवेचन में ही अधिक उलझी रही। रसाभास एवं भावाभास के प्रति आचार्यों की उपेक्षा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि अधिकांश आचार्यों ने रसाभास एवं भावाभास के प्रसङ्ग को केवल एक - आध सूत्र एवं उदाहरण देकर समाप्त कर दिया है। अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, जगन्नाथ आदि कुछ आचार्य अवश्य अपवाद हैं। इन आचार्यों के विवेचन में सामग्री की विपुलता के साथ-साथ आवश्यक विचारगाम्भीर्य भी पाया जाता है।

यही स्थिति आधुनिक विद्वानों एवं शोध-कर्त्ताओं की भी है। रस को आधार बनाकर जितने ग्रन्थों एवं शोधप्रबन्धों का प्रणयन आज तक हो चुका है, रसाभास - भावाभास पर उसका दशमांश भी कार्य नहीं हुआ है। हिन्दी के क्षेत्र में कुछ आधुनिक विद्वानों एवं डा० प्रशान्त कुमार आदि शोधकर्त्ताओं ने रसाभास के विवेचन में अवश्य रुचि दिखाई है, परन्तु संस्कृत जगत् में आज भी यह विषय पूर्णतः उपेक्षित है। इसी अभाव को ध्यान में रखकर प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध** इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध** सात अध्यायों में विभक्त है -

प्रथम अध्याय :

इस अध्याय में रसाभास एवं भावाभास का काव्य में स्थान निर्दिष्ट करते हुए

रसादि आठों तत्त्वों के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। रस एवं भाव के स्वरूप-विवेचन से जहाँ एक ओर रसाभास एवं भावाभास के स्वरूपनिर्धारण एवं उनकी विषयसीमा के निर्धारण में सुकरता हुई है, वहाँ दूसरी ओर रसादि आठों तत्त्वों के सोदाहरण स्वरूप-विवेचन से उनकी अनुभूतिगत भिन्नता भी स्पष्ट हो सकी है।

द्वितीय अध्याय :

इस में रसाभास के सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास दिखाया गया है। रसाभास-भावाभास के उदाहरणों के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए इनके स्वरूप एवं प्रक्रिया से परिचित होना आवश्यक है। अतः इस अध्याय में संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से रसाभास एवं भावाभास सम्बन्धी अंशों का आकलन एवं समाचयन किया गया है। भरतादि जिन आचार्यों के ग्रन्थों में रसाभास पर प्रत्यक्ष विचार नहीं हुआ है, उन ग्रन्थों से भी कुछ ऐसे संकेतबिन्दुओं का अन्वेषण किया गया है, जिनकी रसाभास-भावाभास की परिकल्पना में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सम्बन्धित विषय के स्पष्टीकरण के लिए यथावसर आवश्यक अंशों की व्याख्या भी कर दी गई है। पूरे शोध-प्रबन्ध में नये प्रकरण अथवा अध्याय को शुरू करने से पूर्व यथापेक्षित छोटी-छोटी भूमिकाएँ भी दी गई हैं ताकि प्रकरणों की सङ्गति स्पष्ट हो सके।

संस्कृत आचार्यों की रसाभास विषयक सामग्री को प्रस्तुत करने के पश्चात् इस सम्पूर्ण सामग्री का निष्कर्ष दिया गया है। इसी अध्याय में रसाभास - भावाभास के आधार-अनौचित्य-पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। अनौचित्य का आधार लोकव्यवहार एवं शास्त्र को मानते हुए भी अन्ततः सहृदय के चित्त को ही अनौचित्य-विवेक की कसौटी माना गया है। प्रसंगवश इसी अध्याय में तीन और विषयों पर भी कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है। 'ये तीन विषय हैं – 'रस और रसाभास,' रसाभास और साधारणीकरण', 'रसाभास की अनुभूति।' 'रसाभास और साधारणीकरण' शीर्षक के अन्तर्गत हमने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि 'साधारणीकरण' से तात्पर्य केवल पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्यानुभव ही नहीं है। कई काव्यप्रसङ्गों में सहृदय का तादात्म्य काव्य-प्रङ्ग्ग अथवा कवि की अनुभूति से भी होता है। इसी प्रसङ्ग में अनौचित्यानुभूति के आधार पर रसाभास-काव्यों को प्रमुख तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। यहीं पर, समाजविरुद्ध यौनचित्रण में सहृदय को रसास्वाद क्यों होता है ? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है। अध्याय के अन्त में, काव्य में रसाभास का महत्त्व एवं अनिवार्यता सिद्ध की गई है।

तृतीय अध्याय :

इस अध्याय में कतिपय काव्यतत्त्वों - अलङ्कार, औचित्य एवं काव्यदोषों - से रसाभास का सम्बन्ध निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। अलङ्कारवादी आचार्यों ने रसाभास-भावाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वि अलङ्कार में किया है। उपलब्ध सामग्री का विस्तृत विश्लेषण करने के पश्चात् यह निर्णय प्रस्तुत किया गया है कि भामह एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत ऊर्जस्वि का रसाभास भावाभास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। रसाभास-भावाभास के साथ ऊर्जस्वि का सम्बन्ध स्थापित करने वाले प्रथम आचार्य उद्भट हैं। उनके पश्चात् परवर्ती सभी अलङ्कारवादियों ने ऊर्जस्वि की स्थापना रसाभास-भावाभास के आधार पर ही की है। तदनन्तर ऊर्जस्वि के अतिरिक्त समासोक्ति आदि कुछ अन्य अलङ्कारों का रसाभास के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है। विलोम रूप में औचित्य के साथ भी रसाभास का सम्बन्ध है। अत: इस प्रसङ्ग में भरत से लेकर क्षेमेन्द्र पर्यन्त आचार्यों की औचित्य विषयक सामग्री को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। और रसाभास (अथवा इसके प्रमुख आधार अनौचित्य) की स्वरूप-कल्पना में औचित्य का अप्रत्यक्ष योगदान स्वीकार किया गया है। यहीं पर क्षेमेन्द्र द्वारा पद, वाक्य आदि काव्य तत्त्वों का अनौचित्य प्रदर्शन के लिए उद्धृत कतिपय काव्यतत्त्वों के उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए उनमें रसाभास सिद्ध कियाा गया है। काव्यदोषों में शब्द एवं अर्थदोष से रसाभास का सम्बन्ध प्रदर्शित करने के पश्चात् रसाभास एवं रसदोष के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि यद्यपि रसाभास एवं रसदोष दोनों के मूल में अनौचित्य का विनियोग स्वीकार किया गया है तथापि रसाभास एवं रसदोष के मूल में निहित अनौचित का स्वरूप एक नहीं है। रसदोषों में अनौचित्य का वह रूप स्वीकार किया गया है, जो रसापकर्षक होता है। अत: रसदोष त्याज्य हैं। परन्तु रसाभास का अनौचित्य लोक या शास्त्रविरुद्ध होने पर भी सहृदय की रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न नहीं करता। अत: वह आस्वाद्य होने के कारण ग्राह्य है। इसी आधार पर इसे रसध्वनि अथवा उत्तम काव्य का विषय माना गया है। अन्त में भामह आदि द्वारा स्वीकृत कतिपय अन्य दोषों का उल्लेख कर उनसे भी रसाभास की पुष्टि किये जाने का सङ्केत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय :

इस अध्याय में नायक-नायिका भेद के स्वरूप एवं उदाहरणों का रसाभास की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। नायिका-भेद में स्वकीया के कुछ भेदों को छोड़ कर शेष सभी नायिकाओं के वर्णन में रसाभास स्वीकार किया गया है। स्वकीया नायिका के कुछ भेदों (स्वकीया मध्या एवं प्रगल्भा के धीरा, अधीरा,

धीराधीरा) के वर्णन से अप्रत्यक्ष रूप में नायक के व्यभिचार पर प्रकाश पड़ता है। अत: उन्हें रसाभास का विषय स्वीकार किया गया है। परकीया नायिकाएं कामवश अपने विवाहित पति को धोखा देकर - धर्म एवं समाज के विरुद्ध - किसी अन्य पुरुष से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करती हैं। पराये पुरुष से इनके सम्बन्ध का आधार प्रेम की गम्भीरता न होकर कामुकता लक्षित होती है। ये नायिकाएं लोक एवं शास्त्र की दृष्टि से तो उपेक्षणीय हैं ही काव्यादि में भी ये पाठक की उपेक्षा या घृणा का पात्र बनती हैं। अत: कुछ अपवादों को छोड़कर परकीया के सभी भेद रसाभास की विषय-परिधि में आते हैं। परकीया के अन्तर्गत कुलटा की मान्यता तो व्यभिचार का खुल्ला प्रदर्शन है। यह नायिका अपनी कुत्सित कामवासना की पूर्ति के लिए अनेक पुरुषों की कामना करती है। यह नायिका रति का तो नहीं, घृणा का आलम्बन अवश्य बनती है।

वेश्या का अनुराग कपटपूर्ण होता है। अत: इसका वर्णन अनिवार्यत: रसाभास का विषय है। खण्डिता, विप्रलब्धा, अन्यसंभोगदु:खिता आदि नायिकाओं के वर्णन से पुरुष की धूर्तता, व्यभिचार एवं वंचना का परिचय मिलता है, अत: ये प्रसङ्ग भी रसाभास के विषय हैं। नायक-भेद में से एक अनुकूल पति ही ऐसा है, जो लोक एवं शास्त्र दोनों दृष्टियों से निरापद है। अत: यह प्रसङ्ग विशुद्ध शृङ्गार का विषय है। दक्षिण नायक का प्रसङ्ग बड़ा जटिल है। लौकिक दृष्टि से आपत्तिजनक होते हुए भी यह नायक रसिक प्रकृति के पाठकों को अत्यधिक प्रिय है। अत: भले ही इस प्रसङ्ग से विशुद्ध-प्रेम की अनुभूति प्राप्त न होती हो, पर इसे रसाभास की कोटि में रखते हुए भी संकोच होता है। उपपति के रूप में दक्षिण नायक के प्रसङ्ग से भी रसाभास की ही सम्भावना होती है। धृष्ठ और शठ नायक अपने कपट, धूर्तता एवं छिछलेपन के कारण घृणा का पात्र बनते हैं। अत: ये प्रसङ्ग भी रसाभास हैं – भावानुभूति की दृष्टि से भी, नैतिकता की दृष्टि से भी। इसके अतिरिक्त नायक के सहायक पीठ मर्द, विट और चेटक एवं नायिका की सहायिका दूती की मान्यता का आधार स्त्री-पुरुष के व्यभिचार में सहयोग प्रदान करना है। अत: ये प्रसङ्ग भी अनिवार्यता: रसाभास हैं।

पंचम अध्याय :

इस अध्याय में शृङ्गारादि रसों में आभास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों पर समीक्षात्मक विचार प्रकट किया गया है। अध्याय का आधा से अधिक कलेवर शृङ्गाराभास के भेद एवं उदाहरणों की समीक्षा से भरा हुआ है। इसका कारण यह है कि रसाभास की विवेचना में सभी आचार्यों ने शृङ्गारिक - प्रसङ्गों को ही आधार बनाया है। शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों में रसाभास का स्पष्ट निर्देश केवल अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ एवं

वामनाचार्य झलकीकर ने किया है। यही कारण है कि शृङ्गाराभास की तुलना में अन्य रसाभासों से सम्बन्धित सामग्री अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध हुई है। इसी अध्याय में शृङ्गाराभास के भेद के रूप में कुछ प्रकरणों पर कुछ अधिक विस्तार से विचार प्रस्तुत किया गया है। ये प्रकरण हैं– बहुनायकनिष्ठरति, अनुभयनिष्ठरति, पशु–पक्षिगत रति एवं निरिन्द्रियगतरति। पशु–पक्षिगत रति का सोदाहरण विवेचन करने के पश्चात् यह निर्णय प्रस्तुत किया गया है कि पशु–पक्षिगत रति, शम आदि कुछ भावों को छोड़कर शोक, भय आदि भावों के वर्ण्न में अनौचित्यानुभूति नहीं होती। अतः पशु–पक्षी आदि कुछ विशिष्ट रसों के आलम्बन भी बन सकते हैं। कुछ प्राचीन आचार्यों ने लता आदि जड़ पदार्थों में मानवीय भावारोपण (निरिन्द्रियगत रति) को रसाभास माना है। इस विषय पर आचार्यों के मन्तव्यों को प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष लिया गया है कि ऐसे प्रसङ्गों में लता–वृक्षादि जड़ पदार्थों के माध्यम से यद्यपि सहृदय कवि के भावों की अनुभूति प्राप्त करता है, तथापि कविकल्पना के अतिरेक के कारण इस प्रसङ्ग को रसाभास का विषय माना गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि जड़ पदार्थगत–भाव वर्णन में अनौचित्य से तात्पर्य लोक एवं शास्त्र का अतिक्रमण न होकर कवि की सर्वथा असत्य कल्पना से है।

परन्तु जहाँ प्राकृतिक पदार्थों का स्वाभाविक वर्णन रहता है, ऐसे स्थलों को रस या भाव का ही विषय माना गया है। इसी विवेचन की पृष्ठभूमि में प्रसङ्गवश आचार्य रामचन्द्रशुक्ल आदि आधुनिक विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'प्रकृति' रस पर प्रकाश डालते हुए आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति की रचनाओं से प्रकृतिवर्णन के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अन्त में प्रकृतिवर्णन के कतिपय विधाओं का सोदाहरण उल्लेख भी किया गया है।

षष्ठ अध्याय :

इस अध्याय में सर्वप्रथम संस्कृत आचार्यों द्वारा स्वीकृत भावाभास के लक्षणों का समाचयन किया गया है। उसके पश्चात् क्रमशः भावाभास के वर्ण्यविषय, भेद एवं उदाहरणों पर विवेचना प्रस्तुत की गई है। यहीं पर भावाभास के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकट किये गये हैं। रसाभास एवं भावाभास में वही साम्य या वैषम्य है, जो रस एवं भाव में हैं। अतः आचार्यों ने रसाभास की तुलना में भावाभास पर बहुत संक्षेप में विचार प्रस्तुत किये हैं। फिर भी भावाभास पर जितनी सामग्री उपलंब्ध हुई है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि भावाभास का क्षेत्र रसाभास से अधिक विस्तृत है। भावाभास की अनुभूति, भावास एवं अन्य काव्यतत्त्व, भावाभास एवं नायक–नायिका भेद आदि विषयों पर अलग से विचार कर इस अध्याय को अधिक विस्तृत किया जा

सकता था; परन्तु पिछले अध्यायों में रसाभास के परिवेश में इन विषयों पर जो प्रकाश डाला गया है, उसी से इन विषयों पर भी प्रकाश पड़ जाता है। अतः पिष्टपेषण से बचने के लिए इनका पृथक् उल्लेख करना उचित नहीं समझा गया है।

सप्तम अध्याय – उपसंहार :

इस अध्याय में पूर्वाध्यायों में उल्लिखित सामग्री का सार प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में अनुशीलित-ग्रन्थों की सूची दी गई है।

विषयानुक्रमणिका

तृतीय-अध्याय

चतुर्थ-अध्याय

पंचम-अध्याय

षष्ठ-अध्याय

प्रथम-अध्याय

रसपरिवार में रसाभास एवं भावाभास का स्थान

रस् धातु के अन्त में 'अच्' अथवा 'घ' प्रत्यय लगने से 'रस' शब्द बनता है।[1] पाणिनीय धातु पाठ में यह धातु आस्वादन अर्थ में पढ़ी गई है।[2] शब्दार्थचिन्तामणि में रस शब्द की अधोलिखित तीन प्रकार की व्युत्पत्ति की गई है –

१. रसयतीति रसः,

२. रस्यत इति रसः,

३. रस्यते अनेनेति रसः।[3]

काव्य में रस से तात्पर्य है काव्यानन्द। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता ये सभी 'रस' की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।[4] आचार्य आनन्दवर्धन आदि ने इन आठों को ध्वनि के प्रमुख भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत माना है।[5]

रस के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि को रस कहने

---

१. रसः पु० (...... रस्+पचाद्यच्। यद् वा रस्यते इति रस् आस्वादने+पुंसि संज्ञायां धप्रायेणेति घः।) हलायुधकोशः (अभिधानरत्नमाला) पृ० ५६१ – (सम्पादक जयशङ्कर जोशी, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१४)

२. पाणिनीयधातुपाठ – 'रस आस्वादनस्नेहयोः', धातुसंख्या – १९३२

३. रसः......... रसयति, आस्वाद्यते। रस आस्वादने चुरादिरदन्तः। ...... रस्यते, आस्वाद्यते अनेन वा। कर्मणि धञ्। – सुखानन्दनाथ कृत शब्दार्थचिन्तामणि, चतुर्थ भाग, पृ० ७१ (सज्जन यन्त्रालय, उदयपुर, १३ अक्टूबर, १९८५)

४. रस्यते इति रसः 'इति व्युत्पत्तियोगाद् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते। – सा० द०, १/३ वृत्तिभाग।

५. (क) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। – ध्व० आ०, २/३

का तात्पर्य यह है कि आनन्दानुभूति में न्यूनाधिक्य के रहते हुए भी ये सभी रस्य हैं – आस्वाद्य हैं।[६] परन्तु आस्वादरूप साम्य के रहते हुए भी अनुभूति के सूक्ष्म भेद के आधार पर इन आठों में लक्षण गत भिन्नता पाई जाती है, जिसके आधार पर संस्कृत के काव्याचार्यों ने इन सब की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की है।[७]

रसाभास एवं भावाभास का विवेचन करने से पूर्व रस, भाव आदि के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

रसभावादि का स्वरूप :

१. रस :

आचार्य भरत – रस के इतिहास का प्रारम्भ भरत के नाट्यशास्त्र से माना जाता है, परन्तु भरत से पूर्व भी आचार्यों ने रस-स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया था। यह बात स्वयं भरत के आनुवंश्य श्लोकों एवं कुछ वैकल्पिक विचारों से स्पष्ट होता है।[८] भरत ने अपने पूर्वाचार्यों के विवेचन का यथेष्ट उपयोग करके ही अपना रस-स्वरूप प्रस्तुत किया है।[९] भरत से पूर्व की रसविषयक कोई व्यवस्थित सामग्री उपलब्ध नहीं होती। अत: भारतीय परम्परा के अनुसार भरत को ही आदि आचार्य माना जाता है।

रस-स्वरूप के विवेचन का आधार भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र है – **"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"**[१०] – विभाव, अनुभाव और

(ख) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः।। – का० प्र०, ४/२६

६. (क) रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।। – सा० द०, ३/२५९

(ख) भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।। – भ० र० सि०, ९/२४ (उत्तरविभाग)।

७. अत एव संवित्सतत्त्व निपुणैश्चिरन्तनै र्रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र क्रियते। – अ० भा०, पृ० ५१९

८. (क) 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स' डा० पी० वी० काणे, पृ० - १६
(ख) रस सिद्धान्त - डा० नागेन्द्र, पृ० १०-११

९. 'रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन' – डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ० १०६

व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यद्यपि इस सूत्र में रस-निष्पत्ति की बात कही गई है फिर भी इसके द्वारा रस-स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। परवर्ती आचार्यों ने इसी सूत्र को रस-स्वरूप का भी व्यापक स्वीकार किया है। स्वयं अभिनवगुप्त ने इस सूत्र को इस का लक्षण माना है।[११]

प्रासङ्गिकरूप से यहाँ यह उल्लेख भर कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि भरत मुनि के उपर्युक्त रस-सूत्र में स्थायिभाव का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव के समष्टिरूप को ही रस मानते हैं। इस बात का उल्लेख उन्होंने नाट्यशास्त्र में ही अन्यत्र इस प्रकार किया है – **"विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते"**[१२] रस के स्वरूप के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने इस प्रकार सविस्तार विचार प्रकट किया है –

> **यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्ति र्भवति, यथा हि गुडादिभि र्द्रव्यै र्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।**

अत्राह-रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्ग - सत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मात्-नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः–[१३]

जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि, द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि रस कौन-सा पदार्थ है अथवा 'रस' को रस क्यों कहा जाता है ? उत्तर है – आस्वाद्य होने से अर्थात् जो अस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए

---

१०. हि० अ० भा०, पृ० ४४२ (हिन्दी भाष्यकार, सिद्धांत शिरोमणि, आचार्य विश्वेश्वर, मन्, १९६०)।

११. '....... रसविषयं लक्षणसूत्रमाह' - वही, पृ० ४४२

१२. ना० शा०, ७/७, वृत्तिभाग, पृ० ८१ (चौ० सं० संस्थान, वाराणसी), वि० सं०-२०३७

१३. वही, अ० - ६, पृ० ३१४ -१६ (हिन्दी अनुवाद डा० रघुवंश)।

प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यञ्जित वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायिभावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं।

भरत के रसविषयक विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है :–

१. रस आस्वाद्य होता है, आस्वाद नहीं अर्थात् वह अनुभूति का विषय है, अनुभूति नहीं है।[१५]

२. विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों तथा त्रिविध (वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक) अभिनयों से व्यञ्जित स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है।

३. जिस प्रकार अनेक व्यञ्जनों एवं औषधि के संयोग से भोज्य रस की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अनेक भावों (विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी) के संयोग से नाट्य रस की निष्पत्ति होती है।

४. जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वादन करते हुए सहृदय पुरुष हर्षित होता है उसी प्रकार विविध भावों और त्रिविध अभिनयों द्वारा व्यक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करता है और आनन्दित होता है। इस प्रकार भरत ने रसास्वाद को आनन्दमय माना है।

भरत के परवर्ती टीकाकार अभिनवगुप्त ने रस के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया।[१६] अभिनव के उपरान्त मम्मट ने अभिनवगुप्त के रसस्वरूप विषयक विचारों के सार को लेकर रस की अतिसंक्षिप्त और सरल परिभाषा प्रस्तुत की है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में मम्मट ने रस की परिभाषा को अधोलिखित दो कारिकाओं द्वारा व्यक्त किया है :–

---

१५. यद्यपि आचार्य भरत ने रस को आस्वाद न मान कर आस्वाद्य स्वीकार किया है; इसीलिए उनकी रसविषयक परिभाषा विषयगत है, परन्तु परवर्ती रसध्वनिवादी आचार्यों - अभिनव, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति ने रस को आस्वाद स्वरूप माना है। अत: उनके यहाँ रस की परिभाषा विषयगत न होकर विषयिगत है। – द्रष्टव्य, रससिद्धान्त, पृ० ८०-८१

१६. अभिनव के रस स्वरूप विषयक विचारों के लिए द्रष्टव्य - 'हिन्दी अभिनव भारती', पृ० ४२७-४२८, ४८३-४८७

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तै र्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[१७]

अर्थात् लौकिक व्यवहार में रति आदि (चित्तवृत्ति विशेष) के जो कारण, कार्य और सहकरि कारण होते हैं, वे यदि नाट्य या काव्य में (वर्णित) होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहलाते हैं तथा उन विभाव आदि से व्यक्त हुआ स्थायी भाव रस कहा जाता है।

इन कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, व्याभिचारिभाव तथा स्थायिभाव से रस की अभिव्यक्ति का वर्णन किया गया है। "सामान्यतया रस का स्वरूप यह है कि रति आदि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से परिपुष्ट होकर आस्वादन योग्य हो जाते हैं तथा रस कहलाते हैं। यह कहा जा सकता है कि मानव - हृदय में स्नेह (रति) इत्यादि कुछ भाव (चित्तवृत्ति विशेष) अविच्छिन्न रूप से रहते हैं, वे सदा ही व्यक्त दशा में नहीं रहते किन्तु वासना-रूप में (संस्कार दशा में) सूक्ष्मरूपेण विराजमान रहते हैं। उन्हें ही साहित्यमर्मज्ञों ने स्थायी भाव कहा है और उनका विविध प्रकार से वर्गीकरण किया है। इन स्नेह आदि का जो लोक में कारण होता है अर्थात् एक स्नेह (रति) आदि का उत्पादक कारण रमणी आदि और दूसरा उसका परिपोषक कारण चन्द्रोदय आदि वही लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि - कृति में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव कहा जाता है। (लोक में) प्रेम आदि का हृदय में आविर्भाव होने पर जो (स्थायी भाव के आश्रय में) भुजा फड़कना आदि चेष्टाएँ होती हैं, वे ही काव्य भूमि में अनुभाव हैं तथा स्नेह आदि भाव के आविर्भाव में जो सहकारी कारण निर्वेद आदि होते हैं वे ही काव्य में व्यभिचारी या संचारी भाव कहे जाते हैं।" "सहृदय जनों के हृदय में रति आदि भाव वासना रूप से सदा विराजमान रहते हैं। आलम्बन विभाव के द्वारा वह स्थायी भाव आविर्भत हो जाता है और उद्दीपन विभाव के द्वारा प्रदीप्त हो जाता है। अनुभाव उसको प्रतीतियोग्य बना देते हैं एवं व्यभिचारी भाव उनको परिपुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार इन सब के संयोग से स्थायी भाव व्यञ्जनावृत्ति द्वारा व्यक्त हो जाता है अर्थात् रसन योग्य (आस्वादन योग्य) हो जाता है। रसवादियों ने उसी को रस कहा है।"[१८] रस की अन्य लोक

---

१७. का० प्र०, ४/२७-२८

१८. का० प्र०, डा० हरिदत्त शास्त्री, पृ० १०६-१०७

प्रचलित परिभाषा आचार्य विश्वनाथ ने की है। विश्वनाथ के अनुसार सहृदयों का रत्यादि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के द्वारा व्यक्त हुआ रसरूपता को प्राप्त करता है –

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम्।।[१९]

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों–अभिनवगुप्त एवं मम्मट - के रस सम्बन्धी मान्यताओं का संग्रह करते हुए रस की निम्नलिखित विशेषताओं का प्रतिपादन किया है :–[२०]

१. रस का आविर्भाव चित्त में सत्त्वगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है अर्थात् रस का आस्वाद रजोगुण और तमोगुण से रहित (रागद्वेष से मुक्त) चित्त द्वारा ही सम्भव है।

२. रस अखण्ड अभिव्यक्ति है। इस का तात्पर्य यह है कि रसानुभूति के समय सहृदय को विभावादि की पृथक्-पृथक् अनुभूति नहीं होती अपितु सब की एक साथ सम्मिलित अनुभूति होती है।

३. रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है। इसका अर्थ यह है कि रस आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने वाली आनन्दमयी अनुभूति है और यह रसानन्द ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न प्रकार का होता है।

४. रसानुभव अन्य ज्ञान से रहित होता है। रसानुभव की स्थिति में सहृदय स्व, पर आदि की भावना (अथवा व्यक्तिगत राग द्वेष) से मुक्त होकर प्रस्तुत प्रसङ्ग के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस स्थिति में उसे अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का बोध नहीं होता।

५. रस लोकोत्तरचमत्कार प्राण है। अर्थात् रसानन्द लौकिक वस्तुओं से प्राप्य आनन्द से विलक्षण है, अतः वह अलौकिक है।

६. रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है। अर्थात् रसानन्द ब्रह्मानन्द के समान है। रसानन्द इन्द्रियों का विषय न होकर आत्मा का विषय है। अतः वह विषयानन्द (ऐन्द्रिय आनन्द) से भिन्न अलौकिक अनुभूति है। परन्तु

---

१९. सा० द०, ३/११

२०. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। – सा० द०, ३/२-३

फिर भी रसानन्द को शुद्ध ब्रह्मानन्द नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्मानन्द स्थायी होता है एवं रस अस्थायी। क्योंकि उसकी अनुभूति अस्थायी रत्यादि पर निर्भर है। ब्रह्मानन्द में लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, जबकि रसानन्द में लौकिक विषयों की स्थिति विद्यमान रहती है।

इस सम्पूर्ण विवेचन के अन्त में यह कहा जा सकता है कि सुकवि द्वारा निर्मित काव्य या नाटक के श्रवण या प्रेक्षण से सहृदय भावक के चित्त में जो अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति होती है उसे ही साहित्यशास्त्रियों ने 'रस' की संज्ञा से अभिहित किया है। रसानन्द को अलौकिक कहने का अर्थ है कि यह विषयानन्द अर्थात् ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न एक प्रकार का आत्मानन्द है। रसानुभव के समय में सहृदय व्यक्तिगत राग-द्वेष आदि से निवृत्त होकर काव्यीय आनन्द में लीन हरता है।

संयोग शृङ्गार रस का एक प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत है :-

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै -
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।[२१]

इस में नवविवाहित दम्पती का वर्णन है। (नवोढा नायिका ने) वासगृह को शून्य अर्थात् सखी आदि से खाली देखकर पलंग से थोड़ी-सी उठकर नींद का बहना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देख कर (जब यह समझा कि पति सो रहे हैं तो) निश्शङ्कभाव से चुम्बन कर लिया। परन्तु उसके चुम्बन से कपट निद्रित पति की कपोलस्थली (प्रसन्नता) से रोमाञ्चित हो गई। यह देख कर वह नव-वधू नायिका लज्जा से नम्रमुखी हो गई और हंसते हुए प्रियतम ने उसका बहुत समय तक चुम्बन किया।

यहाँ नायिका के हृदय में स्थित रति स्थायिभाव का नायक आलम्बन विभाव है, शून्य वासगृह उद्दीपन विभाव है, मुख निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव हैं और लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्याभिचारिभाव हैं। नायकनिष्ठरति का आलम्बन नायिका है। इन विभाव अनुभाव एवं संचारिभाव से क्रमशः आभिर्भूत-उद्दीप्त,

---

२१. का प्र, ४/३०

अनुभावित एवं पुष्ट होकर सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति भाव सम्भोग शृङ्गार के रूप में अभिव्यक्त होता है।

२. भाव :

आचार्य भरत के अनुसार 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है – १. भवन्तीति भावाः तथा २. भावयन्तीति भावाः। परन्तु काव्यशास्त्र के प्रसङ्ग में उन्हें द्वितीय व्युत्पत्ति ही ग्राह्य है – भावयन्ति (काव्यार्थान्) इति भावाः, अर्थात् जो काव्यार्थों को भावित करें वे 'भाव' कहलाते हैं।[२२]

भरत ने स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक भाव इन सभी को 'भाव' संज्ञा से अभिहित किया है –

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः, त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्त्विकाः इति त्रिभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद् भावाः॥[२३]

परन्तु रसादि ध्वनि असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि[२४] या रस परिवार (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाशान्ति, भावोदय, भावसन्धि एवं भावशबलता) में जिस 'भाव' की गणना हुई है, उसका स्वरूप उपर्युक्त 'भाव' से भिन्न है। 'रस' के समान ही वह (भाव) भी रसादि ध्वनि का एक प्रकार है। अतः रसादि ध्वनि के अर्थ में आया हुआ 'भाव' शब्द अपना एक पारिभाषिक अर्थ रखता है। आचार्य मम्मट ने इस 'भाव' की परिभाषा निम्नोक्त प्रकार से प्रस्तुत की है –

रति र्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः॥[२५]

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादि विषया॥*

अर्थात् देवादि विषयक रति एवं प्राधान्येन व्यक्त व्यभिचारी 'भाव' कहलाते हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से मुनि, गुरु, नृप, पुत्र आदि विषयक रति का ग्रहण करना चाहिए।

---

२२. "भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः? उच्यते, वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति।" – ना० शा०, अ० ७, पृ० १०६

२३. वही, अ० ७, पृ० १०६

२४. (क) ध्व० आ०, २/३
(ख) का० प्र०, ४/२६

२५. का० प्र०, ४/३५-३६

* वही, वृत्तिभाग।

इस प्रकार आचार्य मम्मट के प्रस्तुत सूत्र में 'भाव' के दो ही रूपों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके टीकाकारों ने एक अन्य प्रकार अपरिपुष्ट रति को भी 'भाव' ही मान कर भाव के तीन रूप स्वीकार किए हैं। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार वामन झलकीकर ने रति को हासादि सभी स्थायिभावों तथा देवादि विषयक रति को अपरिपुष्ट रति, हास आदि स्थायिभावों का उपलक्षण मान कर – १. देवादि विषयक रति, हास आदि सभी प्रकार के स्थायिभावों, २. अपरिपुष्ट स्थायी, ३. एवं प्राधान्येन व्यञ्जित व्यभिचारी इन तीनों प्रकारों को 'भाव' के अन्तर्गत समाहित किया है।[२६]

आचार्य विश्वनाथ ने 'भाव' के लक्षण में मम्मट द्वारा स्वीकृत 'भाव' के दोनों रूपों (देवादिविषयक रति तथा व्यञ्जित संचारी) की तो स्वीकार किया ही साथ में मम्मट के टीकाकारों द्वारा स्वीकृत अपरिपुष्ट स्थायी को भी 'भाव' में समाहित किया है :–

सञ्चारिणः प्रध.नानि देवादिविषया रतिः।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥[२७]

'भाव'-निरूपण में जगन्नाथ को भी मम्मट का विचार रही मान्य है :

"विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम्।
यदाहुः – 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति।"[२८]
"गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।"[२९]

इस प्रकार मम्मट की भांति पण्डितराज जगन्नाथ ने यद्यपि अपरिपुष्ट स्थायिभावों की भावस्वरूपता का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'मम्मट के

---

२६. रतिरिति सकलस्थायिभावोपलक्षणम्। देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्। तथा शब्दश्चार्थे तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा कान्तादिविषयापि अपुष्टा रतिः, हासादयश्च अप्राप्त रसावस्थाः, विभावादिभिः प्राधान्येनाञ्जितो व्यञ्जितो व्यभिचारी च भावः प्रोक्तः। भावपदाभिधेय कथित इति सूत्रार्थः। – का० प्र० वा, पृ० - ११८

२७. सा० द०, ३/२६०-६१

२८. रसगंगाधर, पृ० २८३

२९. रसगंगाधर, पृ० २८६

टीकाकारों की भाँति जगन्नाथ के टीकाकार बदरीनाथ ने' अपरिपुष्ट स्थायिभावों को भी 'भाव' मान लिया है।[३०]

इस प्रकार 'भाव' के निम्न तीन भेद स्वीकृत किये गए हैं –

i. देवादिविषयक रति,

ii. प्राधान्येन व्यञ्जित संचारी, एवं

iii. अपरिपुष्ट स्थायी

क्रमशः इनका सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है –

i. देवादिविषयक रति :

देवता, मुनि, गुरु, राजा पुत्र आदि के विषय में व्यक्त रति (प्रेम) अर्थात् देवादि के प्रति क्रमशः भक्ति, श्रद्धा, पूज्यभाव, प्रेम, वात्सल्य को 'भाव' कहा जाता है।

देवता विषयक रति (भक्ति) का उदाहरण –

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपु र्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥[३१]

अर्थात् हे भगवान् (महादेव) ! आपके कण्ठ में सन्निविष्ट कालकूट (विष) भी मेरे लिए महामृत के समान है और आप के शरीर से भिन्न अमृत भी मिला हुआ मुझे अच्छा नहीं लगता।

यहाँ कवि का शिव के प्रति रति भाव वर्णित हुआ है। अतः 'भाव' है।

ध्यातव्य है कि यद्यपि 'भाव' की उपर्युक्त परिभाषा में देवता विषयक रति अर्थात् भक्ति भाव को 'भाव' स्वीकार किया गया है परन्तु परवर्ती वैष्णव आचार्यों - रूपगोस्वामी[३२] और मधुसूदन[३३] ने भक्ति रस की स्वतन्त्र शास्त्रीय

---

३०. इह गुर्वादिविषयकरतिरिति ..... सामग्रीविरहेणाप्राप्तरसभावानामन्येषामपि स्थायिभावानामुपलक्षणम्॥ – रसगंगाधर 'चन्द्रिका संस्कृत व्याख्या, पृ० २९६ (चौ० वि० वाराणसी, सन् १९७०)।

३१. का० प्र०, ४/४५ (उदाहरण)।

३२. (क) भक्तिरसामृतसिन्धु।
(ख) उज्ज्वलनीलमणि।

३३. भगवद्भक्ति रसायन।

विवेचना करके देवविषयक रति या भक्ति भाव को स्वतन्त्र रस मान कर उसे 'भक्ति रस' का नाम दिया है।

प्राचीन[३४] अलङ्कारशास्त्रियों ने भक्ति को रस रूप में पृथक् स्वीकार नहीं किया है। भरतमुनि ने शृङ्गारादि नौ रसों में भक्ति की गणना नहीं की है।[३५] भामह और दण्डी ने भी इसे स्वीकृति नहीं दी। इन दोनों आचार्यों ने भक्ति को 'प्रेय' अलङ्कार में अन्तर्भूत किया है।[३६] मम्मट भक्ति को 'भाव' मानते हैं।[३७] इन्हीं के अनुसरण में विश्वनाथ ने भी इसे भाव ही माना है।* परन्तु इसके विपरीत आधुनिक मधुसूदन सरस्वती आदि भक्ति को रस स्वीकार करते हैं। मधुसूदन सरस्वती के मत में भक्ति रस ही सर्वोच्च एवं पारमार्थिक है, क्योंकि इस में दुःख का सर्वथा अभाव रहता है और पूर्ण सुख का अनुभव होता है। शृङ्गारादि रस इस की तुलना में तुच्छ हैं।"[३८]

भारतीय भक्त पाठक भक्ति काव्यों से रस की ही चर्वणा करता है, अतः भारत जैसे धर्म प्रधान देश में भक्ति को अलग रस के रूप में स्वीकार करने में किसी प्रकार की विसंगति प्रतीत नहीं होती।

इसी प्रकार पुत्र के प्रति व्यक्त रति या स्नेह भाव को भी बाद में चलकर

---

३४. प्रस्तुत प्रबन्ध लेखक के शोधनिबन्ध "दीनाक्रन्दन स्तोत्र : एक अध्ययन" के पृ० ३७-३८ से उद्धृत।

३५. शृङ्गारहस्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः।। – ना० शा०, ६/१५-१६

३६. (क) प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।। – का० अ०, ३/५

(ख) प्रेयः प्रियतराख्यानम्....
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।। – का० आ०, २/२७५-७६

३७. का० प्र०, ४/३५

* सा० द०, ३/२६०-२६१

३८. कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्।।
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद् रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।। – भगवद्भक्तिरसायनम्, १/३

रस-रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। वस्तुतः माता की पुत्र के प्रति प्रदर्शित वत्सलता या स्नेह को केवल 'भाव' मानना सहृदयता की उपेक्षा होगी। बहुत पहले विश्वनाथ ने 'वत्सल रस' को पृथक् मान्यता प्रदान करके वात्सल्य की पारिणति को केवल 'भाव' तक ही सीमित मानने वालों की धारणा के प्रति असन्तोष व्यक्त किया है।

इस प्रकार देवता तथा पुत्र विषयक रति को क्रमशः भक्ति एवं वत्सल रस के रूप में स्वीकार कर लेने पर 'देवादि' शब्द से मुनि, गुरु, नृप, मित्र आदि विषयक रति (अर्थात् मुनि आदि के प्रति पूज्यभाव, श्रद्धा, स्नेह या मित्रता) को ही 'भाव' के रूप में ग्रहण करना उचित है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न आलम्बन के आधार पर भाव के उपर्युक्त भेद के भी निम्नलिखित उपभेद हो जाते हैं –

१. मुनि-विषयिणी रति अर्थात् पूज्यभाव,
२. गुरु विषयिणी रति अर्थात् श्रद्धा भाव,
३. राजविषयिणी रति अर्थात् श्रद्धाभाव,
४. मित्र विषयिणी रति अर्थात् मित्रता एवं स्नेह-भाव।

मुनि-विषयिणी रति का उदाहरण

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।[४०]

– आपका दर्शन प्राणियों की तीनों कालों में योग्यता को प्रकट करता है। (क्योंकि) वह वर्तमान काल में पाप का नाश करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण होता है और पूर्वकृत पुण्य से प्राप्त हुआ है।

यह उक्ति नारद जी के आने पर कृष्ण जी ने उनका स्वागत करते समय उनकी प्रशंसा में कही है। यहाँ श्रीकृष्ण का रति (श्रद्धा) भाव मुनि-नारद के प्रति अभिव्यक्त हुई है, अतः 'भाव' है।

इसी प्रकार गुरु, नृप, मित्र आदि विषयक रति के उदाहरण भी समझने चाहिएँ। विस्तार - भय से यहाँ इनके उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

---

३९. सा० द०, ३/२५१-२५४
४०. शिशुपालबध, १/२६; का० प्र०, ४/४६ (उदाहरण)।

ii. प्रधानता से व्यञ्जित संचारी :

सञ्चारिभावों का कार्य रस को परिपक्व (उपचित) अवस्था में लाना है।[४१] रस से ही सम्पूर्ण काव्य जीवित होता है, परन्तु कहीं-कहीं पर ये सञ्चारी किसी रस का परिपोषक न होकर स्वयं ही प्रधानता से अभिव्यक्त होते हैं। अतः जिस स्थल पर सञ्चारिभावों की प्राधान्येन प्रतीति ही चमत्कार का कारण बन जाती है, वहाँ पर सञ्चारियों को 'भाव' कहा जाता है।[४२]

आचार्य विश्वनाथ ने भी व्यञ्जित व्यभिचारी पर प्रकाश डालते हुए दृष्यान्त द्वारा समझाया है। उन्होंने लिखा है कि भाव के बिना रस नहीं और रस के बिना भाव भी नहीं होते। इन रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर है। इस कथन के अनुसार यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो यद्यपि भावों की स्थिति परम विश्रान्तिधाम प्रधान रस के साथ ही प्रतीत होगी तथापि जैसे राजा प्रधान होने पर भी मन्त्री आदि सेवकों के विवाह में पीछे-पीछे चलता है, इसी प्रकार कहीं-कहीं सञ्चारिभाव भी रस की अपेक्षा आपाततः प्रधान प्रतीत हों तो ऐसे व्यभिचारी को 'भाव' कहते हैं।[४३]

प्राधानता से अभिव्यक्त सञ्चारी के विषय में एक प्रश्न उठाते हुए कि प्रपानक रस की तरह शृङ्गारादि रस में विभावादिकों का मिल कर एक आस्वाद होता है, अतः सञ्चारिभाव पृथक् रहता ही नहीं है तो उसकी प्राधान्येन प्रतीति कैसे सम्भव है ?[४४] इसके उत्तर में वे आगे कहते हैं कि जैसे प्रपानक रस में मिर्च खांड आदि का मेल होने पर भी कभी-कभी किसी एक वस्तु (मिर्च आदि) की

---

४१. "व्यभिचारिभि र्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितः।" – का० प्र०, ४/२८ (वृत्ति)।

४२. यद्यपि रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतादिधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कुश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भवध्वनिः। – ध्व० आ० लो०, पृ० १८४

४३. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः।।
इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणः... .... भावशब्दवाच्याः। – सा० द०, पृ० १२४

४४. ननूक्तं प्रपानकरसविद्वभावादीनामेकोऽत्राभासो रस इति तत्र सञ्चारिणः पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते।। – सा० द०, पृ० १२५

अधिकता हो जाता है, इसी प्रकार (विभादि से) मिले रहने पर भी कहीं-कहीं सञ्चारी की भी प्रधानता प्रतीत होती है।[४५]

iii. अपरिपुष्ट स्थायी :

अपुष्ट रति, हास आदि स्थायिभावों को 'भाव' कहा गया है।[४६] 'अपुष्ट' शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। काव्यप्रकाश की वामनी टीका के लेखक अपुष्ट का अर्थ 'अनुभावादि से अपुष्ट' स्वीकार करते हैं।[४७] परन्तु विश्वनाथ अपुष्ट का अर्थ 'विभावादि से अपुष्ट मानते हैं'।[४८]

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों आचार्यों ने 'अपुष्ट' का अर्थ अनुभावादि एवं विभावादि से 'अपुष्ट' किया है, परन्तु प्रस्तुत स्थल पर 'अपुष्ट' का अर्थ व्यभिचारी भावों से अपुष्ट स्थायी भाव एवं विभावदि से 'ईषत्पुष्ट' करना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि विभाव एवं अनुभाव आदि के द्वारा सर्वथा अपुष्टि की स्थिति में तो किसी भाव की व्यञ्जना ही नहीं हो सकती। अतः विभादिकों से अपुष्ट का अर्थ व्यभिचारी भावों द्वारा अपुष्ट एवं विभावादिकों से 'ईषत्पुष्ट' करने पर किसी काव्य स्थल पर उपलब्ध होने वाली व्यभिचारियों द्वारा अपुष्ट एवं विभाव अनुभाव आदि से ईषत्पुष्ट (अर्थात् असम्यक् रूप से पुष्ट) स्थायिभावों की दुर्बल प्रतीति को भी 'भाव' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।[४९]

यथा –

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥[५०]

---

४५. यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपानके।
उद्रेकः कस्यचित्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे॥ – वही, ४/२६१-६२

४६. (क) का० प्र०, ४/३५ - ३६ कारिका पर वामन झलकी कर की व्याख्या पृ० ११८
(ख) सा० द०, ३/२६०-६१

४७. व्यक्तेति। प्राधान्येन विभावादिभिः पुष्टेत्यर्थः। तेनाङ्गभूतायाः अनुभावादिभिरपुष्टायाश्च न रसत्वम्। किन्तु भावत्वमेवेति भावः। – का० प्र० वा०, पृ० ११८

४८. विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनोभावा भाव शब्दवाच्याः॥ – सा० द०, पृ० १२४

४९. द्रष्टव्य, काव्य में रस योजना, पृ० - १०९ (डा० रविदत्त पाण्डेय)।

५०. सा० द०, पृ० १२५

चन्द्रोदय के समय उमड़े हुए समुद्र के समान शिवजी ने कुछ धैर्य खोकर बिम्ब फल के समान (रक्तवर्ण) अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपनी आँखें गड़ा दीं।

यहाँ शिव जी का कुछ धीरज त्याग कर पार्वती के मुख की ओर देखने से उन की पार्वती-विषयिणी रति प्रतीत होती है, परन्तु उसकी पुष्टि सञ्चारी आदि द्वारा नहीं हुई है। अतः यहाँ केवल 'भाव' अथवा 'रति भाव' है।

३. रसाभास :

रसाभास साहित्य का प्रमुख तत्त्व है। संस्कृत के काव्याचार्यों ने इसे ध्वनि-काव्य का ही रूप स्वीकार किया है।[५१] आस्वाद्य होने से यद्यपि रसाभास को ध्वनि-काव्य का ही विषय माना गया है, तथापि रसाभासमय काव्य में सहृदयों की उतनी तल्लीनता नहीं रहती, जितनी कि रस की स्थिति में सम्भव है। रस और रसाभास के मध्य प्रमुख भेदक-तत्त्व अनौचित्य है।[५२] शुद्ध रसपूर्ण स्थलों में जहाँ सम्पूर्ण रस सामग्री - विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभाव एवं स्थायिभाव - का औचित्यपूर्ण विनियोग रहता है, वहीं दूसरी ओर रसाभास की स्थिति में रस-सामग्री में किसी न किसी प्रकार के अनौचित्य का सन्निवेश पाया जाता है। परन्तु फिर भी रसाभास का विषय उपेक्षणीय नहीं है। रसाभासमय काव्य में सहृदय को भले ही रस की-सी चर्वणा न हो परन्तु रसाभास के स्थल भी पाठक को व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त करा कर काव्यीय आनन्द में विभोर करने में समर्थ होते हैं। यहाँ तक कि रसाभास की कुछ दशाएँ तो ऐसी भी पाई जाती हैं, जिन में रसिक प्रकृति का सहृदय शुद्ध रसमय काव्य से भी अधिक रमा रहता है। अगले चार अध्यायों में इस विषय पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जाएगा।[५३]

४. भावाभास :

अनुचित रूप से वर्णित भाव भावाभास कहलाता है।[५४] ऊपर भाव के स्वरूप वर्णन के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट किया गया है कि संस्कृत काव्यचिन्तकों द्वारा मान्य 'भाव' के विवेचन के निष्कर्ष रूप में देवता एवं पुत्र विषयक क्रमशः भक्ति एवं

---

५१. ध्व० आ०, २/३

५२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, - अ० २

५३. वही, अ० २-५

५४. का० प्र०, ४/३५ १/२

वात्सल्य को छोड़ कर –

(अ) नृप, गुरु, मुनि, मित्र विषयिणी रति,

(आ) प्रधानरूप से व्यञ्जित व्यभिचारी एवं

(ए) अपरिपुष्ट स्थायी भाव।

इन तीनों काव्य - रूपों को 'भाव' के अन्तर्गत माना गया है। रस के समान इन भाव-दशाओं के वर्णन में भी औचित्य-निर्वाह नितान्त आवश्यक है। इसके विपरीत जहाँ कहीं भाव के इन रूपों के वर्णन में शास्त्र-लोकातिक्रमण अथवा किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक कारण से सहृदय को अनौचित्य की प्रतीति हो, वहाँ 'भावा-भास' माना जाएगा। संस्कृत-काव्यचिन्तकों के विचारों का सङ्कलन करते हुए 'भावाभास' का विवेचन कुछ विस्तार से अग्रिम पृष्ठों में किया जाएगा।[५५]

५-८ भावशान्ति आदि :

किसी भी भाव की (१) अपाय, (२) उदय और (३) स्थिति – ये तीन दशायें हो सकती हैं।[५६] इन में से 'अपाय' (शमन) वाली दशा को भावशान्ति और उदय वाली स्थिति को भावोदय कहा गया है। स्थिति वाली दशा के भी तीन प्रकार माने गए हैं –

(अ) अकेले भाव की स्थिति,

(आ) दो भावों की स्थिति,

(इ) दो से अधिक भावों की स्थिति।

इन में से दो भावों की स्थिति को 'भावसन्धि' और दो से अधिक भावों की स्थिति को 'भावशबलता' कहा जाता है।[५७] भावों की ये सभी अवस्थाएं आस्वाद योग्य होती हैं। अतः 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये सब रस - श्रेणी में आती हैं।

काव्य एवं नाट्य आदि में यद्यपि रस ही प्रधान होता है, परन्तु कहीं-कहीं भावों के समान भावशान्ति आदि भी अङ्गिता को प्राप्त कर लेते हैं।[५८] किसी स्थल

---

५५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अध्याय - ६

५६. व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः।। – ध्व० आ० लो०, पृ० १८४

५७. (क) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।। – का० प्र०, ४/३६

(ख) भावस्य शान्तावुदये सन्धिमिश्रितयोः क्रमात्।
भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता मता।। – सा० द०, ३/२६७

में इनकी यह अङ्गिता उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार यदि कभी कोई राजा अपने किसी कृपा-पात्र भृत्य के विवाहावसर पर उसकी बारात में सम्मिलित हो तो उस समय राजा की नहीं अपितु वर रूप भृत्य की ही प्रधानता होती है।[५९] परन्तु जिस प्रकार पर्यन्त में भावों का रस में पर्यवसान हो जाता है उसी प्रकार रस के सम्पर्क से उद्भूत भावशान्ति आदि की कुछ समय के लिए आपाततः प्रधानता होने पर भी अन्तिम प्रधानता तो रस की ही रहती है।[६०]

जैसे राजानुगत वर रूप भृत्य की कुछ समय के लिए प्रधानता प्रतीत होते हुए भी पारमार्थिक प्रधानता तो राजा की ही रहती है।

यद्यपि इन भावशान्त्यादि में भी किसी न किसी भाव की ही प्राधान्येन प्रतीति रहती है तथापि इन प्रतीत भावों को भावशान्ति आदि के नाम से अभिहित करने का अर्थ यह है कि ये प्रतीत भाव शान्त्यादिक अवस्थाआओं से युक्त होते हैं और चमत्कार की प्रधानता भी शान्त्यादिक अवस्थाओं से युक्त भाव में ही होती है।[६१]

इस स्थल पर अति संक्षेप में इन सब पर सोदाहरण पृथक्-पृथक् विवेचन किया जा रहा है –

भावशान्ति :

जहाँ किसी अन्य भाव के आगमन से उससे पूर्व विद्यमान भाव के शमन में चमत्कार उत्पन्न हो वहाँ 'भावशान्ति' होती है।[६२]

यथा –

सुतनु जहिहि कोपं, पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित्कोप एवं विधोऽभूत्।

---

५८. मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। – का० प्र०, ४/३७

५९. ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।। – वही, वृत्ति।

६०. रससम्पर्कोणोद्भवस्य भावशान्त्यादेरापातत एव चमत्कारित्वम्।
पर्यन्ते तु रसस्यैवेति बोध्यम्।। – का० प्र० वा०, पृ० १२७

६१. रसगङ्गाधर, भावध्वनि प्रकरण।

६२. "भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्ति र्नाशः।" – वही, पृ० ३५९

इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किंचित्॥[६३]

मानिनी नायिका के प्रति नायक की उक्ति है – हे सुन्दरी अब क्रोध छोड़ो, देखो मैं तुम्हारे पैरों पर गिरा पड़ा हूँ, ऐसा कोप तो तुम्हें कभी नहीं हुआ था। नायक के इस प्रकार कहने पर – अद्‌र्ध निमीलित तिरछे नयनों से युक्त उस सुन्दरी ने आँसू तो बहुत बहाये पर बोली कुछ नहीं।

यहाँ ईर्ष्या भाव की शान्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन है। अतः यह भावशान्ति का उदाहरण है।

भावोदय :

जहाँ किसी एक भाव के पश्चात् दूसरे भाव के उदय में चमत्कार दिखाई दे, वहाँ भावोदय होता है।[६४]

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्‌यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः॥[६५]

अर्थात् एक ही पलङ्ग पर सोते समय सौत का नाम लेने से रूठी मुग्धा ने खुशामद करने में लगे हुए प्रियतम को आवेग में आकर फटकार दिया और जब वह चुपचाप लेटा रहा तो उसी समय कहीं सो न जाए, इसलिए बार-बार गर्दन मोड़ कर उसे देखने लगी।

यहाँ सुरतविषयक औत्सुक्य के उदय का वर्णन है। यद्यपि इस में नायिका की कोप शान्ति भी लक्षित होती है, परन्तु प्रधानरूप से सुरतौत्सुक्य की ही प्रतीति होती है। अतः इस पद्‌य को भावोदय के रूप में उद्‌धृत किया गया है।

भावशान्ति एवं भावोदय के विषय में यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि भावों में शान्ति और उदय परस्पर सापेक्ष हैं। जहाँ एक भाव की शान्ति होती

---

६३. सा० द०, ३/२६७ (का उदाहरण)।

६४. 'तथा भावोदयो भावस्योत्पत्तिः। – र० गं०, पृ० ३६०

६५. का० प्र०, ४/५१ (उदाहरण)।

है वहाँ दूसरे भाव का उदय होना आवश्यक है। इसी प्रकार जहाँ एक भाव का उदय होता है वहाँ दूसरे भाव की शान्ति अवश्य होती है। इसलिए, भावों की शान्ति और उदय-दशा को पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही दशा स्वीकार करनी चाहिए। इस का उत्तर यह है कि यद्यपि भावों की शान्ति और उदय दशा का एक ही स्थल पर सहास्तित्व रहता है, परन्तु वहाँ चमत्कार तो एक का ही रहता है। और व्यवहार चमत्कार के आधार पर होता है।[६६] अतः इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानने में असङ्गति नहीं है।

भावसन्धि :

जहाँ समान चमत्कारक, परस्पर विरुद्ध दो भावों का एक साथ उपनिबन्धन हो, वहाँ भावसन्धि होती है। जगन्नाथ के शब्दों में 'परस्पर अभिभूत न होने वाले' परन्तु एक-दूसरे को अभिभूत करने की योग्यता रखने वाले दो भावों की सन्धि को भाव सन्धि कहते हैं।[६७] उदाहरणार्थ –

वामेन नारीनयनासुधारां कृपाणधारामथ दक्षिणेन।
उत्पुंसयन्नेकतरः करेण कर्तव्यमूढः सुभटो बभूव॥[६८]

– कोई एक सुभट बाएँ हाथ से प्रिया की आँखों की अश्रुधारा को और दाहिने हाथ से खड्ग की धार को पोंछता हुआ कर्तव्यमूढ हो रहा था।

यहाँ स्नेह नामक रति भाव एवं युद्धोत्साह भाव की सन्धि है।

भाव-शबलता :

जहाँ अनेक भावों का एक साथ उपनिबन्धन हो, वहाँ भावशबलता होती है। 'भावशबलता' का अभिप्राय भावों का परस्पर सम्मिश्रण है। भावशबलता की स्थिति में पूर्व-पूर्व निबद्ध भाव उत्तरोत्तर निबद्ध भावों से रगड़ खाते हैं और एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न करते हैं।[६९] जगन्नाथ भावशबलता का अर्थ भावों का

---

६६. र० गं०, प्रथम अनन, भावध्वनि प्रकरण।

६७. भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः समानाधिकरण्यम्।। – रं० गं०, पृ० ३६१

६८. अ० सर्व० (रुय्यक कृत), सूत्र - ८४ का उदाहरण।

६९. भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्। – र० गं० पृ० ३६२

व्यामिश्रण करते हैं। भावशबलता में कोई भी भाव अपना पृथक् चमत्कार नहीं रखता अपितु उन सब का समष्टिरूप चमत्कार ही अनुभव का विषय होता है।[७०]

– "नारियल का जल, दूध, मिश्री एवं केले का मिश्रण जैसा विलक्षण आस्वाद को उत्पन्न करने वाला होता है, वैसा ही आस्वाद भावों की समष्टि या शबलता में होता है।"[७१]

जैसे –

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥[७२]

इस पद्य में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने पर विरहोत्कण्ठित राजा पुरूरवा के मन में उठते हुए अनेकविध विचारों का वर्णन है। राजा सोचता है कि –

१. कहाँ तो यह अनुचित कार्य (वेश्यानुराग) और कहाँ मेरा चन्द्र वंश (वितर्क),
२. क्या फिर भी कभी वह देखने को मिलेगी ? (औत्सुक्य),
३. ओ मैंने तो कामादि दोषों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही शास्त्रों का अध्ययन किया है – (मति),
४. क्रोध में भी उसका मुख कैसा सुन्दर था (स्मरण),
५. (मेरे इस आचरण से) निष्कलङ्क विद्वान् लोग क्या कहेंगे ? (शंका),
६. अब तो वह स्वप्न में भी दुर्लभ है (दैन्य),
७. अरे चित्त स्वस्थ हो जा (धृति),
८. न जाने कौन भाग्यशाली युवक उसके अधरामृत का पान करेगा (चिन्ता)।

यहाँ क्रमशः वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति, चिन्ता इन आठ सञ्चारिभावों का मिश्रण है। अतः यह भावशबलता का उदाहरण है।

---

७०. एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत्।। – रस गंगाधर।

७१. 'नारिकेलजलसीताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहितौ तथा।। – वही। पृ० ३६३-६४

७२. का० प्र०, ४/५३ (उदाहरण)।

उल्लेखनीय है कि प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने केवल भावों के ही प्रशमादि अवस्थाओं का उल्लेख किया है, रसों का नहीं। क्योंकि शान्ति तथा उदय किसी भाव का ही होता है। अतः रसों की प्रशमादि अवस्थाओं की चर्चा नहीं की गई है। परन्तु अभिनवगुप्त का विचार है कि यदि हम चाहें तो रसों के प्रशमादि अवस्थाओं का भी अन्वेषण कर सकते हैं। उदाहरणतया **'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया'** इत्यादि में ईर्ष्याभाव (या कोप) का प्रशम कहा गया है। इसकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि "यहाँ ईर्ष्या विप्रलम्भ रस का प्रशम हुआ है।"[७३]

परन्तु इसके विपरीत पं० जगन्नाथ का मत है कि रस की शान्त्यादिक अवस्थाएँ हो ही नहीं सकतीं, यदि कहीं हो भी तो उन में चमत्कार नहीं होता।[७४]

भावों के जो ये शान्ति उदय आदि रूपों को मान्यता प्रदान की गई ही है उसका आधार भावों के शान्त्यादिक अवस्थाओं में चमत्कार पाया जाना है।[७५]

संस्कृत आचार्यों द्वारा भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को रस–श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार करना इस तथ्य को पुष्ट करता है कि भावों की सूक्ष्म अवस्थाएँ भी रस–प्रतीति कराने में समर्थ होती हैं और उत्तम काव्य के विषय हैं।

---

७३. एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया – । इति अयं तत् प्रशम इत्युक्तः।
अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम्।। – ध्व० आ० लो०, पृ० १८६
– प्रतीत होता है कि अभिनव गुप्त प्रस्तुत पद्य में ईर्ष्या–रोष रूप मान की शान्ति को ही अधिक चमत्कारपूर्ण मानते हैं 'इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः' (ध्व० आ० लो०, पृ० ८०)। परवर्ती मम्मट आदि ने इस उदाहरण में औत्सुक्य के उदय को ही अधिक चमत्कारमय मान कर भावोदय के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

७४. रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति न स विचार्यते। – र० गं०, पृ० ३७३

७५. अत्रेदं बोध्यम् – ये एते भावशान्त्युदयसन्धिशबलता ध्वनय उदाहृतास्तेऽपि भावध्वनय एव।...... चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः।" – वही, पृ० ३६४–३६५

द्वितीय-अध्याय

रसाभास के सिद्धान्त का उद्‌भव एवं विकास

भरतादि आचार्यों के ग्रन्थों में रसाभास के सङ्केत :

साहित्य में किसी भी धारणा के जन्म की एक निश्चित तिथि निर्धारित करना कठिन है। क्योंकि कोई भी धारणा सहसा प्रस्फुटित नहीं होती, वरन् विभिन्न रूपों में उसका पूर्वरूप पहले से अभिव्यक्त होता रहता है। यही तथ्य रसाभास के विषय में भी समझना चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र में रसाभास का जो अर्थ आज प्रचलित है, उसी अर्थ में रसाभास की समुचित अभिव्यक्ति का श्रेय यद्यपि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट को ही है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन के पूर्ववर्ती आचार्य रसाभास की धारणा से सर्वथा अपरिचित थे। वस्तुतः इन आचार्यों ने रसाभास या (उसके प्रमुख आधार) अनौचित्य शब्द का स्पष्ट उल्लेख किए बिना ही इन पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। जिसके आलोक में परवर्ती आचार्यों ने रसाभास की सैद्धान्तिक परिभाषा प्रस्तुत की है। ध्वनिकार के पूर्ववर्ती रसवादी आचार्य भरत एवं अलङ्कारवादी भामह आदि ने क्रमशः रस परिपाक एवं अलङ्कार सम्पादन की दृष्टि से विभिन्न नाट्य-काव्य तत्त्वों की परस्पर अनुरूपता पर जो बल दिया है, उससे औचित्य निर्वाह एवं अनौचित्य (जो कि रसाभास का मूल आधार है) के परिहार की पर्याप्त शिक्षा मिल जाती है।[१]

यहाँ इन आचार्यों की रचनाओं में उपलब्ध कुछ प्रसङ्गों का उल्लेख करना वाञ्छनीय है, जिनका रसाभास की परिकल्पना में अप्रत्यक्ष, परन्तु महत्त्वपूर्ण योगदान है।

---

१. प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय अध्याय में 'रसाभास और औचित्य तत्त्व' नामक शीर्षक के अन्तर्गत इन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत औचित्य विषयक सामग्री का कुछ अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है।

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इस समूचे ग्रन्थ में भरत ने किसी भी स्थल पर रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है और न ही कहीं रसाभास के आधार अनौचित्य का स्पष्ट कथन है। परन्तु रस-परिपाक की दृष्टि से स्थल-स्थल पर औचित्य-निर्वाह[२] का जो निर्देश उन्होंने दिया है, उससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि रस-सामग्री में किसी भी प्रकार के अनौचित्य का प्रवेश रस-सृष्टि में बाधक सिद्ध हो सकता है।

२. भरत द्वारा प्रस्तुत शृङ्गारादि प्रत्येक रस के विभावादि[३] के विस्तृत विवेचन से भी यह ध्वनि निकलती है कि उन में थोड़ा भी व्यतिक्रमण तत्तत् रसों की चर्वणा में वैरस्य उत्पन्न कर सकता है। भरत के बहुत समय बाद विकसित रसाभास की स्वरूप कल्पना में विभावगत अनौचित्य का पर्याप्त महत्त्व है। साथ ही भरत ने नाट्य-प्रयोग में लोक को प्रमाण माना है।[४] उनकी यह मान्यता यह सङ्केत करती है कि नाट्यादि साहित्य विधाओं में शास्त्र एवं लोकादि के विरुद्ध वर्णन सामाजिक के चित्त में अनुकूल प्रभाव नहीं छोड़ते हैं। रचनागत भाववर्णन जितना अधिक नीति एवं लोक सम्मत होगा, उसमें उतनी ही अधिक रसोद्रेक की शक्ति होगी। भरत ने नाट्य की सिद्धि में (अर्थात् नाट्य में उचितानुचित के विवेक के लिए) सहृदय सामाजिक (लोक) को प्रमाण स्वीकार किया है। उसी से प्रेरणा लेकर परवर्ती आचार्यों ने रसाभास के मूल कारण अनौचित्य की परीक्षा में सहृदयानुभव को ही अन्तिम प्रमाण माना है।[५]

३. इसके अतिरिक्त भरत का वाक्य है – 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः[६]........। " "....... शृङ्गारानुकृति र्या तु स हास्यस्तु कीर्त्तितः।[७] अर्थात् शृङ्गार से हास्य की

---

२. द्रष्टव्य – प्रस्तुत पुस्तक अ० ३ 'रसाभास और औचित्य तत्त्व' शीर्षक।

३. द्रष्टव्य, हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५३४-५५३, ५६९-५७२, ५७८-५८२, ५८२-५८६, ५९३-५९७, ६०२, ६०४, ६०९

४. लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।। – ना० शा०, २६/११३

५. (क) अनौचित्यं च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम्, यत्र तेषामनुचितमिति धीः।। – का० प्र०, उद्योत टीका, रसाभास प्रकरण।
(ख) यत्र तेषामयुक्तमिति धीः।। – र० गं०, पृ० ३४७ (सम्पादक-मधुसूदन शास्त्री)

६. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१७

७. वही, पृ० ५१७

उत्पत्ति होती है। शृङ्गार का जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता है। उपर्युक्त कारिकाओं का उल्लेख भरत ने यद्यपि रसों के उत्पाद्य-उत्पादक भाव दर्शाने के प्रसङ्ग में कया है, परन्तु द्वितीय कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आभास शब्द का प्रयोग किया है। इनका कथन है कि आभास अथवा अनुकृति के कारण एक रस से जो अन्य रस उत्पन्न होता है, उसी को (भरतमुनि ने) शृङ्गार के द्वारा सूचित किया है।[८] अभिनवगुप्त के मत में अनुकृति, अमुख्यता और आभास इन सब का एक ही अर्थ है।[९] अभिनव की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि उनके रसाभास के चिन्तन में भरत के उक्त वाक्य का भी प्रभाव पड़ा है।

सारांश यह है कि यद्यपि भरत ने रसाभास का शब्दशः प्रयोग नहीं किया तथापि उनके नाट्यशास्त्र में इसकी भावात्मक प्रतिष्ठा के सङ्केत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

भामह एवं दण्डी :

भरत के बाद अलङ्कारवादी भामह एवं दण्डी का समय आता है। इन दोनों आचार्यों की रचनाओं में भी रसाभास की प्रत्यक्ष चर्चा उपलब्ध नहीं होती। परन्तु रसाभास के सन्दर्भ में अधोलिखित दो तथ्यों की चर्चा का ऐतिहासिक महत्त्व है –

१. भामह एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत ऊर्जस्वि अलङ्कार का लक्षण,

२. भामह द्वारा अयुक्तिमत् दोष की कल्पना।

१. भामह ने ऊर्जस्वि अलङ्कार का कोई लक्षण नहीं दिया। इन्होंने 'ऊर्जस्वि' के उदाहरण के रूप में ओजस्वी वाणी के निबन्धन को दिखाया है।[१०] दण्डी ने अहङ्कारपूर्ण उक्ति को 'ऊर्जस्वि' माना।[११] इस प्रकार यद्यपि भामह एवं दण्डी के द्वारा स्वीकृत 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार का रसाभास से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता किन्तु इनके परवर्ती अलङ्कारवादी आचार्यों - उद्भट एवं रुय्यक - ने रसाभास को अलङ्कारों में अन्तर्भुक्त करने के प्रयास में 'ऊर्जस्वि' एवं रसाभास का

---

८. "तथाहि तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम्।।" - हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१८

९. "अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः।।" - ध्व० आ० लो०, पृ० १७९

१०. काव्यालङ्कार, ३/७; द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ३, 'रसाभास और अलङ्कार प्रकरण,' पृ० ८५

११. का० आ०, २/२७५

परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।[१२] इधर रसवादी शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल की रसाभास की परिभाषा भामह एवं दण्डी के ऊर्जस्वि अलङ्कार की परिभाषा से प्रभावित प्रतीत होती है। इस विषय पर आगे ऊहापोह सहित विस्तार से चर्चा प्रस्तुत की जाएगी।[१३]

२. इसी प्रसङ्ग में भामह के अयुक्तिमत् दोष का उल्लेख करना भी आवश्यक है। भामह ने पशु-पक्षियों एवं मेघ आदि जड़ पदार्थों द्वारा दौत्यकर्म को अयुक्तिमत् दोष कहा है।[१४] कदाचित् इसी से प्रभावित होकर परवर्ती आचार्यों ने पशु-पक्षिगत रतिवर्णन को शृङ्गार रसाभास स्वीकार किया है।[१५]

उद्भट :

भामह एवं दण्डी के परवर्ती आचार्य उद्भट में प्रथम बार रसाभास (एवं भावाभास) के प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रमाण उपलब्ध होता है। उद्भट प्रंथम आचार्य हैं, जिन्होंने अनौचित्य को रस तथा भाव से जोड़ते हुए अनौचित्य प्रवर्तित रस तथा भाव (रसाभास, भावाभास) को 'ऊर्जस्वि' का विषय माना –

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वी कथ्यते।।[१६]

'ऊर्जस्वि' का यह लक्षण परवर्ती रसवादी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास की परिभाषा के अत्यन्त निकट है।[१७]

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि उद्भट के 'ऊर्जस्वि' तथा भामह एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत 'ऊर्जस्वि' के लक्षण में सर्वथा भिन्नता पाई जाती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि भामह एवं दण्डी को 'ऊर्जस्वि' वहाँ अभीष्ट है, जहाँ अहङ्कारोक्ति हो। परन्तु उद्भट अनौचित्य से प्रवर्तित रसों तथा

---

१२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ३, 'रसाभास और अलङ्कार प्रकरण' पृ० ८२-९०

१३. वही, पृ० ८२-९०

१४. काव्यालङ्कार, १/४२-४३; प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'तिर्यग् गत रति प्रकरण' पृ० १९०

१५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, तिर्यग् गत रति प्रकरण' पृ० १९४-१९८

१६. का० अ० सा० सं०, ४/५

१७. मिलाइए - तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिताः।।
- तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च।। – का० प्र०, ४/३६

भावों के निबन्धन को 'ऊर्जस्वि' मानते हैं। उद्भट द्वारा प्रस्तुत 'ऊर्जस्वि' के लक्षण से यही प्रतीत होता है कि उनका 'ऊर्जस्वि' विषयक यह लक्षण पूर्ववर्ती अज्ञात रसवादियों द्वारा स्वीकृत रसाभास-भावाभास को अलङ्कारों के अन्तर्गत परिगणित करने के प्रयास का ही कार्य रूप है।[१८] इसी स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि उद्भट ने समाहित अलङ्कार में[१९] (रस, भाव तथा रसाभास, भावाभास की शान्ति के प्रसङ्ग में) रसाभास शब्द का प्रयोग किया है, जिससे रसाभास के विषय में उनके पूर्वज्ञान की पुष्टि होती है।

रुद्रट :

उपलब्ध तथ्य के आधार पर रुद्रट प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में शृङ्गार रसाभास की परिभाषा प्रस्तुत की है। इनके विचार में शृङ्गाराभास वहाँ मानना चाहिए जहाँ विरक्त के प्रति राग (रति) का वर्णन हो –

शृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः।[२०]
एकस्मिन्नपरः ... .॥

यद्यपि शृङ्गाराभास की यह परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त एवं एकाङ्गी है तथापि इसका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है। रुद्रट की यह परिभाषा परवर्ती आचार्यों में अनुभयनिष्ठ रति के नाम से शृङ्गाराभास के एक भेद के रूप में यथावत् मान्य रही है।[२१]

रुद्रभट्ट :

रुद्रट के बाद रसवादी आचार्य रुद्रभट्ट[२२] ने लगभग रुद्रट के ही शब्दों में एकपक्षीय प्रेम को शृङ्गार रसाभास स्वीकार किया है –

---

१८. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ३ 'रसाभास और अलङ्कार प्रकरण' - भामह, दण्डी एवं उद्भट के 'ऊर्जस्वि' विषयक मन्तव्यों पर समीक्षात्मक विवेचन, पृ० ८२-९०

१९. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरुपं यत्तत्समाहितम्।। - का० सा० सं०, ४/७

२०. का० अ०, रुद्रट, १४/३६

२१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, पृ० १७२-१७४

२२. रुद्रभट्ट एवं रुद्रट एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं अथवा ये भिन्न-भिन्न हैं, इस बात में विद्वानों के दो मत पाये जाते हैं। बैबर, बुहलर, औफ्रेट तथा पिशल

रक्तापरक्तवृत्तिश्चेच्छृङ्गाराभास एव सः॥[२३]

इसके साथ ही रुद्रभट्ट ने वेश्या-नायिका के लक्षण-प्रसङ्ग में एक और बात कही है, जिसके अनुसार वे किसी पुरुष के प्रति वेश्या के अनुराग को उचित ठहराते हुए, ऐसे वर्णन में शृङ्गार रसाभास मानने के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं।[२४]

आनन्दवर्धन :

रुद्रभट्ट के बाद ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में यद्यपि रसाभास की स्वरूप परक चर्चा उपलब्ध नहीं होती, परन्तु साहित्य में रसाभास (एवं भावाभास) को समुचित स्थान प्रदान करने का श्रेय ध्वनिकार को ही है। इनके पूर्ववर्ती रुद्रट की दृष्टि शृङ्गार रसाभास के स्वरूपर पर सामान्यतः अवश्य पड़ी थी और उद्भट के ऊर्जस्वि-अलङ्कार में भी रसाभास के स्वरूप का थोड़ा सङ्केत मिल जाता है। किन्तु काव्यादि में रसाभास का स्थान या महत्त्व क्या है ? इस विषय में उन में कोई सङ्केत नहीं है। आनन्दवर्धन ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रसाभास को 'रस-ध्वनि' वर्ग में रखकर काव्य में रसाभास का महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया। इन्होंने स्पष्ट उद्घोष किया कि 'रस' तथा 'भाव' की भाँति ही 'रसाभास' तथा 'भावाभास' भी असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के भेद हैं - रस, भाव एवं रसाभास, भावाभास एक ही कोटि के हैं :-

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥[२५]

महोदय का मत है कि रुद्रट या रुद्रभट्ट एक ही व्यक्ति है। इसके विपरीत पी० वी० काणे, पण्डित दुर्गा प्रसाद, डा० जैकोवी तथा डा० हरिश्चन्द्र रुद्रट एवं रुद्रभट्ट को दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति स्वीकार करते हैं। पी० वी० काणे महोदय ने पर्याप्त अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि काव्यालङ्कार के लेखक रुद्रट एवं शृङ्गारतिलक के कर्ता रुद्रभट्ट दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। हम ने भी इस विषय में उन्हीं के विचारों को अधिक प्रामाणिक अनुभव करके रुद्रट एवं रुद्रभट्ट को अलग-अलग मानना उचित समझा है। काणे के एतद्विषयक विचारों के लिए देखिए, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी० वी० काणे, पृ० १९८-२०४

२३. शृं० ति०, १/३२

२४. शृं० ति०, १/१२०-१२३; द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अं० ४, पृ० १३१

२५. ध्व० आ०, २/३

इन्हीं के अनुकरण पर मम्मट एवं जगन्नाथ ने भी रसाभास को उत्तम या उत्तमोत्तम काव्यकोटि में गिना है।

अभिनवगुप्त :

आनन्दवर्धन के पश्चात् अभिनवगुप्त ने रसाभास पर अधिक विस्तार से विचार प्रस्तुत किया है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका और नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में इनके रसाभास विषयक विचार उपलब्ध होते हैं। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने रसाभास, भावाभास की परिभाषा (अलङ्कारवादी उद्भट के 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार की परिभाषा[२६] को ही यत्किञ्चित् परिवर्तन करके) इस प्रकार प्रस्तुत की है :-

औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः।[२७]

– अर्थात् औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायिभाव आस्वादनीय बन कर 'रस' कहलाता है एवं व्यभिचारिभाव का आस्वाद 'भाव' कहा जाता है परन्तु अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर ये दोनों (स्थायी एवं व्यभिचारी) क्रमशः 'रसाभास' एवं 'भावाभास' कहलाते हैं। उदाहरण के रूप में अभिनव ने सीता के प्रति रावण की कामोक्ति को रसाभास माना है – **'रावणस्येव सीतायां रतेः' –।**[२८] रावण की उक्ति को इन्होंने प्रस्तुत उदाहरण द्वारा दिखाया है –

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥[२९]

– दूर से आकर्षण करने वाले मोहमन्त्र के समान उस (सीता) के नाम को सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता

---

२६. "अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादि कारणात्।
रसानां च भावानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥" – का० सा० सं०, ४/५

२७. ध्व० लो० लो०, प्रथम उद्योत, पृ० ७९-८० (चौ० वि० वाराणसी, सन्, १९७९)।

२८. वही।

२९. हि० अभिनव भारती, पृ० ५१९

है। (परन्तु) व्याकुल और बेचैन इन काम सन्तप्त अङ्गों के द्वारा उस की प्राप्ति (आलिङ्गन) का सुख कैसे प्राप्त हो, यह बात ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ। अपने विचार के स्पष्टीकरण के लिए अभिनव आगे लिखते हैं –

> **"... .... रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरूपतैव 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति, पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव।"**[३०]

– अर्थात् जिस प्रकार रावण की सीता के प्रति रति (शृङ्गाराभास बनती है)। 'शृङ्गार से हास्य जन्म लेता है' यह जो (भरत के द्वारा) कहा गया है तदनुसार यद्यपि वहाँ (रावण-सीता रति में) हास्य ही है, तथापि सामाजिक की यह स्थिति बाद में ही होती है। तन्मय होने की स्थिति में तो रति की ही आस्वद्यता होने के कारण **'दूराकर्षणमोहमत्रइव मे'** आदि श्लोक में पौर्वापर्य के विवेक के अभाव में शृङ्गाराभास ही है।

लोचन पर लिखित बालप्रिया टीका में पण्डित रामषारकने अभिनव के इस मन्तव्य का अर्थ यों किया है – "सीता के सम्बन्ध में रावण की प्रेमोक्ति को पढ़कर सहृदय रावण की रति में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उस समय उन्हें विभाव और रत्यादि के पौर्वापर्य का विवेक रहता ही नहीं, विभाव आदि की आभासता का पाठक को बोध ही नहीं होता। उस समय सामाजिक को शृङ्गार की ही चर्वणा होती है। परन्तु बाद में विभावादि के पौर्वापर्य का विवेक होते ही जब यह निश्चय हो जाता है कि उस में रति अनुचित आलम्बन (रावण) में प्रकट हुई है तो उससे हास्य का उद्बोध हो जाता है और हास्य की चर्वणा होती है। साथ ही यह भी निश्चित हो जाता है कि अनौचित्य ज्ञान से पहले शृङ्गारचर्वणा, वस्तुतः शृङ्गाराभास की चर्वणा थी।"[३१]

दूसरे उद्योत में रसाभास के स्वरूप-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए अभिनव ने लिखा है,

---

३०. ध्व० आ० लो०, पृ० ७९-८०

३१. "अत्रादौ सहृदयानां सीताविषयकरावणरतेस्तन्मयीभावेनास्वाद्यतेति शृङ्गारचर्वणैव, पश्चात्तद्रतेरनुचितालम्बनत्वज्ञानेन तद्विषयकहासोद्बोधाद् धास्यचर्वणा, शृङ्गारचर्वणा च तदाभासचर्वणैवेति।" – ध्व० आ० लो०, बालप्रिया, पृ० १७८

"यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्यवर्णनेन शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारनुकृति र्या तु स हासः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।"[३२]

अर्थात् जब विभावाभास से रत्याभास का उदय होता है जब विभावानुभास से चर्वणाभास होता है और यह रसाभास का विषय बनता है। जिस प्रकार रावण के काव्य को सुनने से शृङ्गाराभास की प्रतीति होती है। यद्यपि भरत मुनि ने कहा है कि 'शृङ्गार की अनुकृति हास्य है' तथापि उस हास्य की प्रतीति तो बाद में ही होती है।

यहाँ प्रतिवादी आक्षेप कर सकता है कि इस (रावण-सीता रति) प्रसङ्ग में परस्पर आस्थाबन्ध (अनुराग) का अभाव है। अतः यहाँ रति को स्थायिभाव मानना ही अनुचित है। इसी के उत्तर में अभिनव का कहना है कि यहाँ (स्त्रीपुरुष) में परस्पर आस्थाबन्ध का अभाव है, अतः किसने कहा है कि यहाँ रति 'स्थायिभाव' है। यहाँ तो रत्याभास है। यहाँ आभासता इसलिए है कि सीता मेरी उपेक्षा करती है अथवा मुझसे द्वेष करती है। इस प्रकार की प्रतिपत्ति (विचार) रावण के हृदय को स्पर्श नहीं करती है, और यदि स्पर्श कर जाए तो उस की भी (सीता के प्रति) अभिलाषा विलीन हो जाए। और रावण के मन का यह निश्चय कि सीता मुझ में अनुरक्त है, व्यर्थ है, क्योंकि उसका यह निश्चय कामजन्य मोह से उत्पन्न हुआ है। अतः इसमें रति का आभास मात्र है। जिस प्रकार - शुक्तिका में रजत का आभास होता है :

ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्ति र्हृदयं न स्पृशत्येव तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयते। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रावस्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्।[३३]

इसके अतिरिक्त रसाभास विषयक इनका विचार अभिनवभारती में उपलब्ध

---

३२. वही, पृ० १८६-१८७ (चौ० वि०, १९७९)।

३३. ध्व० आ० लो०, १८६-१८७

होता है। आचार्य भरत ने शृङ्गारादि चार रसों से हास्यादि अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी है।[३४]

शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति कैसे होती है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए अभिनव ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह रसाभास की धारणा पर आधारित है। उनका विचार है कि आभास अथवा अनुकृति के कारण एक रस से जो अन्य रस उत्पन्न होता है उसी को (भरत मुनि के इस वाक्य में) शृङ्गार के द्वारा सूचित किया गया है।[३५]

इसके पश्चात् रसाभास के स्वरूप को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है :–

यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः[३६]

– विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न होकर जो) केवल चर्वणाभास होता है वह शृङ्गाराभास कहलाता है। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी वास्तविक रूप से प्रवर्तित न होकर जब आभास रूप में प्रवर्तित होते हैं तो रत्याभास की प्रतीति होती है और इस रत्याभास से (रति का पूर्ण परिपाक न होने के कारण) जो चर्वणाभास होता है उसे ही शृङ्गाराभास कहते हैं।

अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिनव आगे लिखते हैं –

"कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावो न स्थायी। तस्य तु स्थायिकल्पत्वेन भाति। तद् वशाद् विभावाद्याभासता। अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः। यतो रावणस्य सीता द्विष्टा वाप्युपेक्षिका वेति हृदयं नैव स्पृशतीति। तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या[३७] विलीयत एव।

---

३४. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१७

३५. "तथा हि तदाभासत्वेन तदनुकाररुपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम्।" - वही, पृ० ५१५

३६. वही, पृ० ५१८

३७. आचार्य विश्वेश्वर द्वारा भाष्य की गई अभिनव भारती (पृ० - ५१८) में 'तत्स्पर्शे ह्यभिमानोऽस्या विलीयत एव' यह पाठ है; परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि इस वाक्य में 'अस्याः' के स्थान पर 'अस्य' पद स्वीकार करना अधिक अर्थसङ्गत है। 'अस्य' पद मान लेने पर पूर्व वाक्य के साथ इसका

'मयीयमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी कामजमोहसारत्वात्, शुक्तौ रूप्याभासवत्।"[३८]

– उस (शृङ्गाराभास की चर्वणा) में रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है। और यहाँ रति स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव मात्र होती है। परन्तु सहृदय को वह (व्यभिचारिभाव रूप) रति स्थायी भाव के समान प्रतीत होती है। उसी (रत्याभास अथवा व्यभिचारिभाव रूप के कारण) विभावादि भी आभास बन जाते हैं। इसीलिए यहाँ (शृङ्गाराभास में) रति को स्थाय्याभास समझना चाहिए। (उदाहरणार्थ रावण सीता को चाहता है। यह रावण की सीता विषयक रति वास्तविक रति नहीं है, अपितु रत्याभास मात्र है) क्योंकि सीता रावण से द्वेष करती है अथवा उसकी उपेक्षा करती है (अनुराग नहीं करती)। इसीलिए वह (रावण के) हृदय का आलिङ्गन नहीं करती है। यदि उस (रावण के हृदय) का स्पर्श करे तो उसका (पातिव्रत्य धर्म का) अभिमान ही विलीन हो जाए। (रावण जो यह समझता है कि) यह (सीता) मेरे प्रति अनुरक्त है, यह केवल कामजन्य मोहमात्र रूप होने से व्यर्थ है ओर शुक्ति में रजताभास के समान (भ्रममात्र) है।

इसके बाद **'दूराकर्षणमोहमन्त्रमिव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्'** इत्यादि पद्य को उद्धृत कर रसाभास सिद्ध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अभिनव के अनुसार शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव बनने के लिए दोनों पात्रों में आस्थाबन्ध होना आवश्यक है। अन्यथा विभाव वास्तविक न होकर आभास रूप माना जाएगा और परिणामतः वहाँ रति भी अनौचित्येन प्रवृत्त होने के कारण आभास रूप ही होगी तथा इससे उत्पन्न होने वाला चर्वणाभास रसाभास का विषय बनता है। यथा रावण के प्रति सीता के मन में आस्था नहीं है, अतः सीता रावण की रति का वास्तविक आलम्बन नहीं बन सकती। कामुक

अर्थ इस प्रकार होगा – "क्योंकि सीता मुझसे द्वेष करती है अथवा मेरी उपेक्षा करती है यह विश्वास रावण के हृदय का स्पर्श कर जाए तो उसका भी (सीता के प्रति अनुराग का अभिमान विलीन हो जाए।" हमारे इस निवेदन का आधार यह है कि स्वयं अभिनवगुप्त ने ध्वनयालोक की लोचन टीका में प्रस्तुत प्रसङ्ग की वयाख्या इस प्रकार की है – .... 'अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिकाद्विष्टा वेति प्रतिपत्ति र्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयते।" – ध्व० आ० लो०, पृ० १८६-१८७ (चौ० वि०, वाराणसी, सन् – १९७९)

३८. हि० अभिनव भारती, पृ० ५१८

* हि० अभिनव भारती, पृ० ५१९

रावण सीता के प्रति आसक्त है, इसलिए वह सीता को अपनी रति का आलम्बन समझ बैठा है। अतः यहाँ रति भी आभास रूप मानी जाएगी और इससे पाठक के मन में जो चर्वणा उत्पन्न होती है वह वास्तविक चर्वणा नहीं, चर्वणाभास मात्र है। अतः उसे यहाँ शृङ्गार की नहीं अपितु शृङ्गाराभास की प्रतीति होती है।

प्रत्येक रसाभास अन्ततः हास्य में परिणत होता है :

अभिनवगुप्त प्रत्येक रस के आभास से पार्यन्तिक रूप में हास्य की उत्पत्ति मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि विभावादि की अनुचित प्रवृत्ति ही रसाभास है और हास्य का कारण भी अनुचित प्रवृत्ति है। परन्तु यह हास्यानुभुति रसाभास की अनुभूति के पश्चात् होती है।[३९]

अपनी इस धारणा को अभिनव ने सोदाहरण इस प्रकार समझाया है –

"दूराकर्षणमोहमन्त्रमिव मे................॥"

इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासतैव। न तु हासः स्फुरति। तथापि सीतालक्षणविभाव-रावणादयः प्रकृतिविरुद्धत्वं च चिन्ता-दैन्य-मोहादिको व्यभिचारिणः, अश्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद् धास्यविभावस्वरूपम्। तद्वक्ष्यते' विकृतपरवेषालङ्कार' इत्यादि। एवं तदाभासतया प्रकारः शृङ्गारेण सूचितः।

एवं करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वत्र मन्तव्यम्। अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते।'[४०]

– अर्थात् यद्यपि **'दूराकर्षणमोहमन्त्रमिव मे'** इत्यादि रावण के वाक्य में प्रारम्भ में रत्याभास ही प्रतीत होता है, हास नहीं (प्रतीत होता है)। फिर भी (रावण का सीता के प्रति यह अनुरागप्रदर्शन) सीता (रूप आलम्बन) विभाव के (विपरीत), रावण की आयु के और प्रकृति के विरुद्ध (प्रकट होने वाले) चिन्ता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारिगण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव समुदाय अनुचित होने से तदाभासात्मक होकर हास्य के विभावरूप बनते हैं। जैसा कि आगे दूसरों के विकृतवेष, अलङ्कारादि के होने पर (हास्य रस होता है) यह कहेंगे।[४१]

---

३९. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१९ (... अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते।")

४०. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१९

४१. रसाभास - काव्य में हास्य की अनुभूति रसाभास की पश्चाद् वर्तिनी होती है।

इस (उदाहरण) से करुणाभास आदि सभी (रसाभासों) में हास्यत्व समझना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्ति के कारण ही (कोई व्यक्ति) हास्य का विभाव बनता है। और वह अनौचित्य सभी रसों के विभाव, अनुभाव आदि में हो सकता है।

इसी प्रकार, निर्वेदरूप शान्त रस का स्थायिभाव मोक्ष का हेतु न होने पर भी जहाँ तदाभास मोक्षहेतु-सा प्रतीत होता है, वहाँ शान्ताभास हास्य रूप ही होता है।

एवमेव, जो जिस का प्रियजन (बन्धु) नहीं है उसके शोक में (प्रदर्शित) करुण रस भी (अनौचित्य युक्त होने के कारण) हास्य ही है। इस प्रकार सब (रसों में अनौचित्य का प्रयोग होने पर सब) जगह (हास्य ही होता है यह) समझ लेना चाहिए –

– अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव।

....

एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्।[४२]

गुजराती विद्वान् नगीन दास पारेख ने भी अभिनव के रसाभास से हास्योत्पत्ति की स्थापना का समर्थन करते हुए उदात्त रस, रसाभास तथा हास्य में अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है "सभी रसों का आभास तो अन्ततः हास्य में परिणत होता है। अभिनवगुप्त ने इसे **'शृङ्गारानुकृति र्हासः'** कह कर समझाया है। इसका अर्थ हुआ कि उदात्त रस और उसका विडम्बना रूप हास्य रस इन दोनों के बीच रसाभास का स्थान है"[४३]

इस प्रकार भरत ने शृङ्गार से हास्योत्पत्ति की जो बात की थी उसी को सिद्ध करने के लिए अभिनव ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके इस विवेचन का सार यह है :

इस तथ्य को 'लोचन' में भी स्पष्ट किया गया है – यद्यपि– 'शृङ्गारानुकृति र्यः स हास्य' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।" – ध्व० आ० लो०, पृ० १८६-८७

४२. हि० अभि० भा०, पृ० ५२०

४३. अभिनव का रस विवेचन, हिन्दी अनुवाद, पृ० १६०

रसाभास-काव्यों में – "अनुचित रूप से प्रवृत्त स्थायी (रति आदि) का सहृदय सर्व प्रथम अविवेक के कारण रस (शृङ्गारादि) ही के रूप में आस्वाद करता है। उस के कुछ ही क्षणों बाद विवेक जागने पर उसकी रसानुभूति रसाभास (जो कि अनौचित्यानुभूति की दशा है) के रूप में परिणत होती है, जिसके फलस्वरूप उसे हास्य की अनुभूति होती है। उदाहरणतया - रावण की सीता के प्रति प्रेमोक्ति को पढ़कर सहृदय पाठक सर्वप्रथम रति का आस्वाद प्राप्त करता है, परन्तु ज्यों ही विभावादि के पौर्वापर्य के विवेक के द्वारा उसे यह निश्चय हो जाता है कि यहाँ रावण की रति अनुचित आलम्बन सीता के प्रति प्रकट हुई है तो वह इस रति को अनुचित समझता है यही रसाभास की दशा है। रसाभास (या अनौचित्य) की अनुभूति के तुरन्त बाद रावण के प्रति पाठक के हृदय में जो उपहास, घृणा आदि भाव जागृत होते हैं उसी को हम अभिनव के अनुसार हास्योत्पत्ति कह सकते हैं।

अभिनव द्वारा प्रतिपादित शृङ्गार से (अथवा सभी रसों से) हास्योत्पत्ति की प्रक्रिया को सूत्र रूप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

रस → रसाभास → हास्य॥

इसी सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि अभिनव के इस सिद्धान्त में कि 'सभी रसों के आभास से हास्य की उत्पत्ति होती है' हमारे विचार में, 'हास्य' शब्द अनौचित्य प्रतीति के बाद होने वाली – प्रतिक्रियाओं का बोधक है। रसाभास के उदाहरणों में पाठक को केवल हास्य[४४] की अनुभूति नहीं होती। रसाभास के अनेक स्थलों में पाठक का आश्रय के प्रति हास या उपहास के अतिरिक्त घृणा, उपेक्षा, क्षोभ आदि एवं आलम्बन के प्रति दया, सहानुभूति आदि भाव जागृत होते हैं। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त रावण द्वारा सीता के प्रति व्यक्त रति को लिया जा सकता है। इस उदाहरण में जब पाठक को यह विवेक हो जाता है कि क्रूर रावण सीता के प्रति प्रेम व्यक्त कर रहा है, तो उस के मन में रावण (आश्रय) के प्रति क्रोध भी आ सकता है, उसके प्रति घृणा भाव भी हो सकता है, सीता के द्वारा उसे उपेक्षित देखकर उसके प्रति उपहास का भाव भी उद्बुद्ध हो सकता है एवं सीता

---

४४. रसाभास के कुछ उदाहरणों में पाठक को जो हास या उपहास की अनुभूति होती है, उसकी समानता अलौकिक आनन्द देने वाले हास्य रस से भी नहीं की जानी चाहिए। कारण कि रसविशिष्ट हास्य के आस्वाद से सहृदय अपार हर्ष में डूब जाता है। इसके विपरीत रसाभास के प्रसङ्गों से होने वाली हास्यानुभूति किसी काव्य-पात्र के प्रति उपहास या घृणा रूपा होती है।

(आलम्बन) के प्रति दया, सहानुभूति या श्रद्धा का भाव भी जागृत हो सकता है। अतः रसाभास के स्थलों में केवल हास्य की अनुभूति मानना, उससे होने वाली अन्य प्रतिक्रियाओं के प्रति उपेक्षा करना होगा। वास्तव में अभिनव ने शृङ्गारभास से हास्य की उत्पत्ति मान कर रसाभास-काव्य से पाठक के मन में उठने वाली प्रतिक्रियाओं का सङ्केत करना चाहा है।

'ध्वन्यालोक लोचन' एवं 'अभिनवभारती' में उपलब्ध रसाभास विषयक सामग्री के आधार पर कतिपय निष्कर्ष इस प्रकार है :

१. रसाभास (एवं भावाभास) का आधार अनौचित्य है।
२. रसाभास की दशा में सम्पूर्ण रससामग्री - विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी एवं स्थायी - वास्तविक न होकर आभास रूप होते हैं।
३. परन्तु सहृदय को (अनौचित्य ज्ञान से पूर्व) ये सभी वास्तविक-से प्रतीत होते हैं। फलतः वह रसाभास के स्थलों में भी रस की ही चर्वणा करता है।
४. सहृदय की यह रसानुभूति शुक्तिका में रजत के आभासवत् भ्रममात्र है। विवेक के जागने पर अनौचित्य का ज्ञान होते ही उसका वह रसानुभव रसाभास के रूप में परिवर्तित हो जाता है।
५. इस प्रकार आभास का अर्थ हुआ — अवास्तव प्रतीति। जिस प्रकार अन्धकार में पड़ी शुक्तिका में रजत की प्रतीति वास्तविक न होकर भ्रम मात्र होती है, उसी प्रकार रसाभास-काव्यों में रस की जो प्रतीति होती है, वह भी वास्तविक न होकर अविवेक के कारण होने वाला आभास मात्र है।
६. इस प्रकार रसाभास रस की उत्तरकालिक स्थिति है।
७. अनौचित्यजन्य आभास हास्य रस के रूप में परिणत होता है।

इन में से अन्तिम निष्कर्ष का विवेचन पीछे किया जा चुका है।[४५] शेष पर इसी अध्याय के अन्त में विचार किया जाएगा।[४६]

---

४५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक; पृ० ३३-३५

४६. वही, पृ० ७०-८०

क्षेमेन्द्र :

अभिनव के पश्चात् उनके शिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र ने यद्यपि रसाभास का विवेचन प्रस्तुत नहीं किया, परन्तु अभिनवगुप्त के समान ये भी शृङ्गारासाभास से हास्योत्पत्ति को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। अङ्गभूत शृङ्गार रसाभास से होने वाले हास्य के औचित्य को दिखाते हुए इन्होंने सम्भवतः इसी धारणा की पुष्टि की है –

"... ... ... अङ्गभूतशृङ्गाररसाभासस्पर्शेन हास्यरसस्य.. ... सचमत्कार - मौचित्यमाचिनोति।"[४७]

इसके अतिरिक्त रसौचित्य के प्रसङ्ग में इन्होंने जो उदाहरण उद्धृत किए हैं उससे यह स्पष्ट सङ्केत मिलता है कि वे रसाभास की धारणा से परिचित अवश्य थे।*

भोजराज :

रसाभास के विवेचन में भोजराज ने काव्यशास्त्र को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनसे पूर्व अभिनवगुप्त यद्यपि रसाभास का विस्तृत विवेचन दे चुके थे, परन्तु भोज का विवेचन रसाभास की विषय-सीमा को पर्याप्त विकास प्रदान करने वाला है।

इन्होंने (१) हीन पात्रों में, (२) पशु-पक्षी आदि में, (३) नायक के प्रतियोगियों में, (४) तथा गौण पदार्थों में (निरिन्द्रियगत) भाव का वर्णन होने पर रसाभास माना है –

हीनपात्रेषु तिर्यक्षु नायकप्रतियोगिषु।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तदाभासं विजानते॥[४८]

यद्यपि भोजराज ने अपने इस मन्तव्य की विवेचना प्रस्तुत नहीं की है तथापि परवर्ती आचार्यों ने रसाभास के विवेचन में उनके इस साङ्केतिक सामग्री का पूरा उपयोग किया है।[४९]

---

४७. औचित्यविचारचर्चा, कारिका १६, वृत्ति भाग।

* द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ३ 'रसभास और औचित्य प्रकरण' (अथवा औ० वि० च०, 'रसौचित्य प्रकरण)

४८. सरस्वती कण्ठाभरण, ५/३०

४९. द्रष्टव्य, विश्वनाथ का शृङ्गाराभास-विवेचन, सा० द०, ३/२६३-६४

मम्मट :

भोजराज के बाद आचार्य मम्मट ने बहुत ही संक्षेप में रसाभास (एवं भावाभास) की परिभाषा इन शब्दों में प्रस्तुत की है :

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः।[५०]

रस एवं भाव अनौचित्य से प्रवर्त्तित होने पर रसाभास एवं भावाभास कहलाते हैं।

इस परिभाषा में प्रयुक्त अनौचित्य शब्द से मम्मट का क्या अभिप्राय है, वह स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में उनकी परिभाषा की संक्षिप्तता अनेक सन्देहों की जननी बन गई है। यही कारण है कि उनके काव्यप्रकाश के विभिन्न टीकाकारों ने 'अनौचित्य' शब्द का अपनी-अपनी दृष्टि से अर्थ घटन करते हुए उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या की है।[५१]

स्वयं मम्मट ने बहुनायकनिष्ठ रति एवं अनुभयनिष्ठ रति के वर्णन में अनौचित्य स्वीकार करते हुए रसाभास माना है।[५२]

इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मम्मट ने शृङ्गाररस के नायकों को उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति भेद से तीन प्रकार का माना है।[५३] इससे यह प्रतीत होता है कि वे अधम-पात्र के विषय में वर्णित शृङ्गार को भी रस ही स्वीकार करते हैं, रसाभास नहीं। स्मरणीय है कि भोजराज, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल आदि ने अधमपात्रनिष्ठ रति को रसाभास माना है।[५४] स्वयं भरत ने शृङ्गार रस के आलम्बन के लिए उत्तम प्रकृति के युवा स्त्री-पुरुषों का उल्लेख किया है।[५५]

---

५०. का० प्र०, ४/३६

५१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, पृ० ६४-६७

५२. (क) काव्य प्रकाश, ४/४८ (उदाहरण); ५/११९ (उदाहरण)।
(ख) प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, "बहुनायकनिश्ठ रति एवं अनुभयनिष्ठ रति प्रकरण।"

५३. "तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च।.....
.... तत्रापि नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम्।। – का० प्र०, ४/सूत्र - ५७ (वृत्ति)

५४. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० ५ 'अधमपात्रगतरति' शीर्षक। पृ० १८६-१८९

५५. "तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः।
.... स च स्त्रीपुरुष हेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।।" – नाट्यशास्त्र, ६/५४

भोजराज आदि के विचारों के साथ मम्मट के उक्त कथन की सङ्गति बैठाते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार श्रीधर ने लिखा है कि – यहाँ मम्मट द्वारा प्रयुक्त शृङ्गार शब्द से उसके आभास का अर्थ ग्रहण करना चाहिए क्योंकि शृङ्गार को उत्तम प्रकृतिवान् माना गया है।[५६]

रुय्यक :

अलङ्कारवादी रुय्यक रसाभास, भावाभास के निबन्धन में यद्यपि ऊर्जस्वि–अलङ्कार मानते हैं,[५७] परन्तु रसवादी अभिनवगुप्त एवं मम्मट के समान ये भी अनौचित्य को ही आभास का कारण स्वीकार करते हैं तथा उन्हीं के सदृश आभास की परिभाषा देते हैं। रुय्यक ने अविषय में प्रवृत्ति (अर्थात् अनुचित विभाव के प्रति भाव–प्रदर्शन) से उत्पन्न होने वाले अनौचित्य को रसाभास एवं भावाभास का कारण माना है –

आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौचित्यम्।[५८]

'ऊर्जस्वि' अलङ्कार के उदाहरण के रूप में रुय्यक ने अभिनव द्वारा रसाभास के कारण हास्य में परिवर्तित होने वाले **"दूराकर्षण मोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्"**[५९] इत्यादि पद्य को ही उद्धृत किया है।

हेमचन्द्र :

मम्मट के बाद आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत रसाभास के विवेचन में विस्तार के साथ–साथ नवीनता भी लक्षित होती है। हेमचन्द्र का मत है कि

(क) जड़ पदार्थों एवं पशु–पक्षियों में मानवीय भावारोपण करने से एवं

(ख) परस्पर अनुराग आदि के अभाव के कारण होने वाले अनौचित्य[६०] से रसाभास भावाभास होते हैं –

---

५६. "उत्तमप्रकृतिः शृङ्गार इति नियमादत्र शृङ्गारशब्देन तदाभासो - मन्तव्य इत्युक्तमेव।" - का० प्र० वि०, प्रथम-भाग, संस्कृत कालेज टेक्स्ट सीरीज़, कलकत्ता, १९५१, १९६१ सं० - शिवप्रसाद भट्टाचार्य (इण्डियन स्टडीज़ पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट (कलकत्ता, १९६४), पृ० ९६ से उद्धृत।

५७. अ० स०, सू० ८३

५८. वही, सू० ८३ वृत्ति भाग।

५९. (क) हि० अभिनव भारती, पृ० ५१९; प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० २८
(ख) अ० स०, सू० ८३ (उदाहरण)

६०. अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्याद्रसभावाभासौ। – का० अनु० २/५५ वृत्तिभाग।

(क) निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपात् रसभावाभासौ।[६१]

– अर्थात् निरिन्द्रियों (वृक्ष, लता, मेघ, विद्युत, चन्द्र, निशा आदि) में तथा पशु-पक्षी आदि में (मानवीय भाव का) आरोप करने से रसाभास एवं भावाभास होते हैं। उदाहरणार्थ –

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥[६३]

यहाँ पशु मृग-मृगी एवं पक्षी भ्रमर-भ्रमरी में सम्भोग का आरोपण किया गया है, अतः हेमचन्द्र के अनुसार सम्भोग शृङ्गारभास है।

इसी प्रकार हेमचन्द्र ने निरिन्द्रिय लता और वृक्ष गत संभोग शृङ्गार का, निरिन्द्रियगत एवं पशु-पक्षिगत विप्रलम्भ भाव एवं निशा-चन्द्र गत संभोग का उदाहरण प्रस्तुत कर रसाभास सिद्ध किया है।[६४]

यहीं पर इन्होंने भावाभास के उदाहरण के रूप में निरिन्द्रियगत एवं पशुगत भाव वर्णन का एवं चन्द्रगत भाव वर्णन का भी एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।[६५]

(ख) इसके बाद रसाभास के अन्य कारण परस्पर अनुरागाभाव रूप अनौचित्य को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि एक-दूसरे के प्रति अनुराग आदि के अभाव के कारण उत्पन्न अनौचित्य से रसाभास एवं भावाभास होते हैं –

– अनौचित्याच्च॥[६६]
अन्योन्यानुरागाद्यभावेन अनौचित्यात् रसभावाभासौ।[६७]

---

६१. का० अनु०, २/५४, पृ० १२०, निर्णय सागर प्रेस, १९३४ ई०

६२. "आदिशब्दान्निशाचन्द्रमसो र्नायकत्वाध्यारोपात्संभोगाभासो यथा - अङ्गुलिभिरिव केशसञ्चयम् ......॥" - वही, २/५४, पृ० १२२

६३. काव्यानुशासन, २/५४, पृ० १२१

६४. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० ५, पृ० २०६

६५. (क) काव्यानुशासन, २/५४ (पृ० १२१-१२२ निर्णय सागर प्रेस)
(ख) प्रस्तुत पुस्तक, अ० ६

६६. काव्यानुशासन, २/५५

६७. वही, वृत्तिभाग।

हेमचन्द्र ने अनौचित्य के कारण उपस्थित होने वाले रसाभास के दो उदाहरण उद्धृत किए हैं। प्रथम में सीता के प्रति रावण की रति को अभिनव के शृङ्गाराभास के उदाहरण **"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे"**[६८] इत्यादि द्वारा दिखाया गया है। और द्वितीय उदाहरण में एक नायिका की अनेक कामुक विषयक अभिलाषा को **"स्तुमःकं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे"**[६९] इत्यादि पद्य द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इसके अतिरिक्त रसाभास के प्रसङ्ग में हेमचन्द्र ने एक सर्वथा नवीन तथ्य उपस्थित किया है। जिसके अनुसार समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा तथा श्लेष आदि अलङ्कार रसाभास, भावाभास के जीवित हैं –

रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्तयर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम्[७०]

"इन अलङ्कारों को रसाभास का साधक मानने का कारण केवल यह है कि इन में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किसी–न–किसी रूप में होता है, किसी–न–किसी रूप में दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया ही जाता है। समासोक्ति में यही विशेष रूप से सिद्ध होता है। अप्रस्तुत के आरोप या संकेत से जहाँ एक ओर अलङ्कार सिद्ध होता है, वहाँ दूसरी और निरिन्द्रिय आदि में रति आदि भावों का प्रदर्शन होने से रसाभास भी उपस्थित हो जाता है। इसी बात को हेमचन्द्र ने **"निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ"** सूत्र के द्वारा संकेतित कर दिया है।"[७२]

वाग्भट :

आचार्य वाग्भट ने शृङ्गार रस वहाँ स्वीकार किया है, जहाँ पति–पत्नी का प्रेम वर्णित हो।* इससे यह सङ्केत मिलता है कि वे पति–पत्नी से भिन्न अन्यों के प्रेम वर्णन को अनुचित मानते हैं।

---

६८. (क) हि० अभिनव भारती, पृ० ५१९
(ख) का० अनु०, २/५५ के अन्तर्गत।

६९. (क) का० प्र० - ४/४८ उदाहरण।
(ख) का० अनु०, २/५५ सू० के अन्तर्गत।

७०. वही, २/५५ (सू० के अन्तर्गत)।

७१. वही, २/५४

७२. रससिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण - डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् - १९६०) पृ० २४१ से उद्धृत।

* "जायापत्यो र्मिथो रत्यां वृत्तिः शृङ्गार उच्यते।" - वाग्भट्टालङ्कार, ५/५

जयदेव :

हेमचन्द्र के उपरान्त चन्द्रालोक के लेखक जयदेव ने अनेक के प्रति प्रेम-प्रदर्शन को रसाभास माना है :

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया।

अनौचित्या रसाभासा भावाभाश्च कीर्तिता:॥ – चं० आ०, ६/१९

– अर्थात् सर्वसाधारण के प्रति प्रेमभाव एवं नम्रता स्वरूप अनौचित्य होने पर क्रमश: रसाभास एवं भावाभास होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक नायिका का अनेक नायकों के प्रति अवलोकनादि के द्वारा प्रेम-वर्णन करना अनुचित है और इस प्रकार के अनौचित्य से युक्त रस भी रसाभास होता है। इसी प्रकार एक भक्त का अनेक देवताओं के प्रति प्रदर्शित रति (भक्ति) भाव भी भावाभास कहलाता है।[७३]

अलङ्कारवाद के प्रबल समर्थक होने के नाते इन्हें भी रसाभास भावाभास के निबन्धन में 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार मानना अभीष्ट है।[७४]

विद्याधर :

एकावलीकार विद्याधर ने अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास माना है। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि परस्पर अनुराग के अभाव में एक-पक्षीय अनुराग वर्णन होने पर स्थायी का जो अनुचित प्रवर्तन होता है, उससे रसाभास उत्पन्न होता है। उनके अनुसार (नायक-नायिका दोनों में) परस्पर अनुराग रहने पर ही स्थायी भाव रस कहलाता है –

यत्र परस्परानुकूल्यकल्लोलित: प्रवर्तते स्थायी तत्र रस:।
यत्र पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभाव एव॥[७५]

---

७३. "सर्वेति। एकस्या नायिकाया अनेक नायकविषयावलोकनादिवर्णनयाऽनेक -विषयप्रेमकथनमनौचिती, तया रसोऽपि रसाभासो भवति। एवमेकस्यानेक देवतादिविषयकरत्यादिवर्णनया रतिकथने भावाभास इत्यर्थ:। प्रश्रयो नम्रता नतिरिति यावत्॥ - चं० आ०, ६/१९ - पर श्री गागाभट्ट की राकागम नाम की संस्कृत टीका, चौ० सं० सीरीज, वाराणसी, वि० सं०, १९९५

७४. रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धना:।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितमयाभिधा:॥ - चं० आ०, ५/११७

७५. एकावली, रसाभासप्रकरण, पृ० - १०६ (तत्त्व विवेचक प्रेस, बम्बई, सन् - १९०३)

इन्होंने सीता के प्रति रावण की रति को एकनिष्ठ, अत एव अनुचित मानते हुए शृङ्गार रसाभास माना है।[७६] रसाभास की विचारणा में विद्याधर की मौलिकता इस बात में है कि इन्होंने पूर्ववर्ती भोजराज एवं हेमचन्द्र की परम्परा के विरुद्ध पशु-पक्षिगत भाव-वर्णन में रसाभास न मानकर रस ही माना है। तिर्यग्गत भाव-वर्णन को रसाभास मानने वालों के प्रति तीव्र विरोध प्रकट करते हुए विद्याधर लिखते हैं –

अपरे तु रसाभासं तिर्यक्षु प्रचक्षते तन्न परीक्षाक्षमम्। तेष्वपि विभावादिसंभवात्। विभावादिज्ञानशून्यास्तिर्यञ्चो न भाजनं भवितुमर्हन्ति रसस्येति चेन्न। मनुष्येष्वपि केषुचित्तथाभूतेषु रसविषयभावा-भावप्रसङ्गात्। विभावादिसंभवो हि रसं प्रति प्रयोजको न विभावादि ज्ञानम्। ततश्च तिरश्चामप्यस्त्येव रसः।[७७]

विद्याधर के इस मत का बाद में शिङ्गभूपाल आदि ने काफी विरोध किया। आगे इसी शोध-प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में "तिर्यग्गत रति" शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय पर सोदाहरण विस्तृत विवेचना की जाएगी।

विश्वनाथ :

आचार्य विश्वनाथ ने अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के रसाभास विषयक मतों का सङ्कलन करके इस विषय पर विस्तृत सामग्री प्रस्तुत की है। इन्होंने मम्मट के समान ही अनौचित्य से प्रवृत्त होने वाले रस और भाव को यथाक्रम रसाभास और भावाभास कहा है –

अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभास रसभावयोः॥[७८]

विश्वनाथ के अनुसार रस और भाव के अनौचित्य का अर्थ है – **अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे सत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्**[७९]

---

७६. (क) प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'अनुभयनिष्ठरति प्रकरण', पृ० १८३
(ख) एकावली, पृ० १०५ (तत्त्वविवेचक प्रेस, बम्बई, सन् - १९०३)

७७. एकावली, पृ० १०६

७८. सा० द०, ३/२६२

७९. वही, २/२६२ वृत्ति भाग।

– अर्थात् "जहाँ भरत आदि द्वारा प्रणीत रस, भाव आदि के लक्षण पूर्णरूप से सङ्गत न हों, किंतु विभावादि सामग्री की न्यूनता के कारण कुछ एक अंश से ही सम्बन्ध रखते हों, वहाँ रस, भाव का 'अनौचित्य' जानना।"[८०]

किस रस में कौन-सा आलम्बन अनुचित है, इस बात का दिङ्निर्देश करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि –

१. (क) रति के उपनायक में स्थित होने पर,
(ख) रति के मुनि, गुरुपत्नीगत होने पर,
(ग) एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति रति प्रदर्शन होने पर,
(घ) नायक-नायिका दोनों में से एक में ही रति दिखाने पर,
(ङ) प्रतिनायक निष्ठ रति होने पर,
(च) अधम पात्र में रति दिखाने पर,
(छ) एवं पशु-पक्षी आदियों में रति का वर्णन होने पर शृङ्गार रस में अनौचित्य होता है और उससे शृङ्गारभास होता है।

२. इसी प्रकार, गुरु आदि के प्रति कोप का वर्णन होने पर रौद्र रस में अनौचित्य होता है। एवं –

३. हीन पात्र स्थित होने पर शान्त रस में,

४. गुरु आदि आलम्बन हों तो हास्य में,

५. ब्राह्मणबध आदि निन्दित कर्मों में उत्साह होने पर अथवा नीच पात्र गत उत्साह होने पर वीर रस में,

६. तथा उत्तम पात्र गत होने पर भयानक रस में अनौचित्य होता है।

– तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते –

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।

---

८०. सा० द०, ३/२६२ वृत्ति पर शालग्राम की हिन्दी टीका।

ब्रह्मबधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे॥
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र॥[८१]

इस प्रकार विश्वनाथ ने प्रथम बार वत्सल रस को छोड़ कर सभी रसों में अनौचित्य दिखाते हुए विभिन्न रसाभासों का, विशेषतः शृङ्गार रसाभास का, सोदाहरण विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। इनके द्वारा प्रदत्त रसाभास के उदाहरणों का विवेचनात्मक उल्लेख इसी शोध-प्रबन्ध के अग्रिम पृष्ठों में यथा-स्थान किया जाएगा।[८२] विश्वनाथ कृष्ण और गोपियों के प्रेम को रसाभास मानते हैं।[८३]

विश्वनाथ ने रसाभास भावाभास को आस्वादनीय होने के कारण उपचार से रस ही कहा है।[८४]

शारदातनय :

विश्वनाथ के उपरान्त शारदातनय के विवेचन में नवीनता लक्षित होती है। रसभास के विवेचन में शारदातनय ने पूर्वाचार्यों की धारणा से सर्वथा भिन्न मत प्रकट किया है। इनके अनुसार रसाभास वहाँ होता है, जहाँ अङ्ग रस को अङ्गी रस से अधिक प्रतिष्ठा दी गई हो। अपने इस मन्तव्य को एक गणितज्ञ की भाँति प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है –

भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥[८५]

अर्थात् जहाँ प्रधान रस का एक भाग तथा (प्रविष्ट) अप्रधान रस का दो भाग प्रयोग किया गया हो, वहाँ रसाभास होता है।

शारदातनय के रसाभास की सामग्री का अनुशीलन करने के पश्चात् यह

---

८१. सा० द०, ३/२६३-२६६

८२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५

८३. सा० द०, ३/२६५; प्रस्तुत शो० प्र० अ० ५, उपनायकगत रति एवं कृष्णगोपिका प्रेम प्रसङ्ग पृ० १५५; १६७

८४. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ - सा० द०, ३/२५९
रसन धर्मयोगित्वाद् भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः॥ – वही, ३/२५९ वृत्ति भाग।

८५. भाव प्रकाशन, ६/२९

प्रतीत होता है कि वे रसाभास की उत्पत्ति में दो कारण मानते हैं –

१. विरोधी रसों का संयोजन,

२. आश्रय विभाव के जातीय धर्म के प्रतिकूल उसका भाव-प्रदर्शन।

१. शारदातनय रसाभास का एक कारण विरोधी रसों का संयोजन मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है –

हास्याभिभूतः शृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति।
हास्यो बीभत्समिलितो हास्याभास उदाहृतः॥
वीरो भयानकाविष्टो वीराभास इतीरितः।
बीभत्सकरुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते॥
रौद्रः शोकभयाविष्टो रौद्राभास इतीरितः।
हास्यशृङ्गारखचितः करुणाभास उच्यते॥
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते।
रौद्रवीरानुसक्तश्चेदाभासः स्याद् भयानके॥[८६]

अर्थात् (१) हास्य से अभिभूत शृङ्गार, शृङ्गार रसाभास कहलाता है, (२) इसी प्रकार बीभत्स से युक्त हास्य रस हास्यरसाभास का, (३) भयानकाविष्ट वीर, वीररसाभास का, (४) बीभत्स और करुण के संश्लेष से अद्भुत, अद्भुतरसाभास का, (५) शोक एवं भय से आविष्ट रौद्र, रौद्र रसाभास का, (६) हास्य और शृङ्गार से खचित करुण, करुण रसाभास का, (७) अद्भुत और शृङ्गार से युक्त बीभत्स, बीभत्स रसाभास का, (८) एवं रौद्र और वीर के संयोग से भयानक, भयानकाभास का कारण बनता है।

२. आश्रय विभाव के जातीय धर्म के प्रतिकूल भाव वर्णन से भी रसाभास होता है – इस बात को शारदातनय ने निम्नलिखित कारिका द्वारा सङ्केतित किया है –

सभासु योषितां मध्ये शूरमानस्य कस्यचित्।
भयात्पलायनं युद्धाद् वीराभास उदीरितः॥[८७]

यहाँ किसी वीर पुरुष का नारी-समूह के मध्य शूरता प्रदर्शन तथा भय के कारण युद्धभूमि से पलायन उसके जातीय धर्म के प्रतिकूल होने से वीराभास कहा

---

८६. भाव प्रकाशन, ६/१७-२०, पृ० १३२-१३३ (ओ० इं० बड़ौदा, १९३०)

८७. वही, ६/२३

गया है। शारदातनय ने विरोधी रसों के संयोजन से होने वाले सभी रसाभासों का सोदाहरण विचार प्रस्तुत किया है।[८८]

शिङ्गभूपाल :

शिङ्गभूपाल भी शारदातनय की भाँति अङ्गी रस से अङ्ग रस की प्रधानता को रसाभास स्वीकार करते हैं :–

अङ्गेनाङ्गीरसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्॥[८९]

अर्थात् अविनीत अमात्य के समान अपनी इच्छानुसार बढ़ता हुआ अङ्गरस, जहाँ अङ्गीरस से अधिक प्रभावशाली बन जाए वहाँ रस आभासता को प्राप्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अङ्गरस को अङ्गीरस से अधिक प्रतिष्ठा देने पर रसाभास उत्पन्न हो जाता है। "जिस प्रकार अविनीत अमात्य का स्वामी के समान आचरण करना अनुचित तथा लोकातिक्रान्त समझा जाता है उसी प्रकार अंगी अर्थात् प्रधान या स्वामी रस को अप्रधान अर्थात् सेवक की भाँति अनुगामी बना देना भी अनुचित है।"[९०]

अङ्गरस की प्रधानता के कारण सभी रसों में आभास उत्पन्न हो जाता है। इस तथ्य को इन्होंने शारदातनय रचित भावप्रकाशन की कारिकाओं को उद्धृत करके स्पष्ट किया है।[९१] शारदातनय के अनुसार कौन से अङ्गरस की प्रधानता से कौन-सा रस रसाभास बन जाता है, इस बात का उल्लेख शारदातनय के प्रसङ्ग में पहले किया जा चुका है।[९२]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट[९३] एवं विश्वनाथ[९४] आदि ने अङ्गरस का अधिक विस्तार होने पर 'अङ्गविस्तृति' नामक रस दोष माना है।

---

८८. वही, रसाभास प्रकरण, ६/२१-२८, पृ० १३२-१३३
८९. रसार्णव सुधाकर, कारिका २६३, पृ० २०२
९०. रस सिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण, पृ० २३१-२३२ से उद्धृत।
९१. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०२-२०३
९२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० २, पृ० ४६
९३. का० प्र०, ७/६१
९४. सा० द०, ७/१५

निस्सन्देह अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार सहृदय के चित्त में विरुचि उत्पन्न करने वाला होता है, परन्तु मम्मट आदि उसे काव्य-दोष मान कर त्याज्य स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल ने इसे रसाभास मान कर उसकी आस्वादनीयता को स्वीकार किया है। रस दोष एवं रसाभास में अन्तर है। इसकी चर्चा आगे की जाएगी।[९५]

शिङ्गभूपाल ने शृङ्गार रसाभास के चार भेद माने हैं :

१. अराग (अनुभयनिष्ठ रति), २. अनेकराग (बहुनिष्ठ प्रेम), ३. तिर्यग्राग, एवं ४. म्लेच्छ राग (अधमपात्रनिष्ठ रति) – **"अत्र शृङ्गाररसस्यारागाद - नेकरागात् तिर्यग्रागान्म्लेच्छरागाच्चेति चतुर्विधमाभासभूयस्त्वम्"।**[९६]

१. इन्होंने सीता के प्रति रावण की रति को, सीता के मन में रावण के प्रति राग के अत्यन्ताभाव के कारण रसाभास माना है।[९७]

पूर्वराग रसाभास नहीं – पूर्वराग की दशा में नायक-नायिका दोनों में से एक में ही अनुराग का प्रादुर्भाव दिखाया जाता है। अतः अभिनवगुप्त ने पूर्व-राग के वर्णन में रसाभास माना है।[९८] परन्तु इसके विपरीत शिङ्गभूपाल का मत है कि पूर्वराग की दशा को रसाभास नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि, उनके अनुसार, अभाव तीन प्रकार का होता है – १. प्रागभाव (पूर्वराग), २. अत्यन्ताभाव, ३. और प्रध्वंसाभाव। प्रागभाव में दर्शनादि के हो जाने पर दूसरे पक्ष में भी रागोत्पत्ति की सम्भावना रहती है। इस आधार पर इन्होंने वत्सराज में रत्नावली के पूर्वानुराग को रस ही स्वीकार किया है। शेष दो अभावों - अत्यन्ताभाव एवं प्रध्वंसाभाव - में दर्शनादि कारण के विद्यमान रहने पर भी दूसरे पक्ष में राग की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उनमें रसाभास ही होता है –

"प्रथममजातानुरागे वत्सराजे जातानुरागाया रत्नावल्याः ......

पूर्वानुरागस्याभासत्वप्रसङ्ग इति चेत् उच्यते। अभावो हि त्रिविधः प्रागभावोऽत्यन्ताभावः प्रध्वंसाभावश्चेति। तत्र प्रागभावे दर्शनादिकारणेषु

---

९५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ३, 'रसाभास एवं काव्यदोष' प्रकरण।

९६. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०३

९७. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५ 'अनुभय निष्ठ रति प्रकरण'।

९८. द्रष्टव्य, सा० द०, २/२६६ वृत्तिभाग में उद्धृत अभिनव का मत।

रागोत्पत्तिसम्भावनया नाभासत्वम्, इतरयोस्तु कारणसद्भावेऽपि रागानुपत्तेराभासत्वमेव।[९९]

पूर्वराग को रसाभास मानना उचित है या रस इस सम्बन्ध में आगे विस्तार से चर्चा प्रस्तुत की जाएगी।[१००]

इस प्रसङ्ग में शिङ्गभूपाल की एक मौलिक मान्यता यह भी है कि ये पुरुषों के रागशून्य होने पर भी रसाभास स्वीकार करते हैं।[१०१] अन्य सभी आचार्यों ने स्त्रियों के प्रेमशून्य होने पर ही रसाभास माना है।[१०२]

२. शृङ्गाररसाभास के द्वितीय भेद 'अनेकराग' के प्रसङ्ग में इन्होंने एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति राग के एवं एक पुरुष का अनेक स्त्री के प्रति राग के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[१०३] इनके पूर्ववर्ती आचार्य विश्वनाथ ने केवल बहुनायकनिष्ठ रति को ही रसाभास स्वीकार किया है, बहुनायिकानिष्ठ रति को नहीं। शिङ्गभूपाल ने इस परम्परा के विरुद्ध पुरुष की बहुनायिका-निष्ठरति को भी रसाभास ही माना है।[१०४]

परन्तु अनेकराग (बहुनिष्ठरति) को रसाभास मानते हुए भी ये दक्षिण नायिक के प्रसङ्ग को रसाभास नहीं मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि दक्षिण नायक का अनेक नायिकाओं के प्रति केवल व्यवहार की ही समानता होती है, प्रेम की प्रगाढता तो किसी एक ही नायिका के प्रति होती है। अन्यों के विषय में तो उसका प्रेम मध्यम या न्यून होता है।[१०५] बहुनायिकानिष्ठरति एवं दक्षिण नायक की रति के विषय में प्रस्तुत प्रबन्ध में आगे विवेचन किया जाएगा।[१०६]

---

९९. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०३

१००. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक अ० ५, 'अनुभयनिष्ठ रति प्रकरण।'

१०१. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०३-२०४; प्रस्तुत पुस्तक अ० ५ 'अनुभयनिष्ठरति प्रकरण'।

१०२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'अनुभयनिश्ठरति प्रकरण।'

१०३. द्रष्टव्य, वही। (अथवा रसार्णव सुधाकर, पृ० २०४)।

१०४. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०४

१०५. नन्वेवं दक्षिणादीनामपि रागस्याभासत्वमिति चेत्, न। दक्षिणस्य नायकस्य नायिकास्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं, न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढत्वमितरासु तु मध्यमत्वं मन्दमत्वं चेति तदनुरागस्य नाभासता। – रसार्णव सुधाकर, पृ० २०५

१०६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, (क) बहुनायकनिष्ठ रति', (ख) दक्षिण नायक का प्रकरण।

३-४ विद्याधर के मत के विरुद्ध तिर्यग् राग एवं म्लेच्छ राग को रसाभास सिद्ध करने के लिए इन्होंने प्रबल तर्क प्रस्तुत किए हैं। विद्याधर ने तिर्यग् गत रति को रसाभास न मानकर रस मानने के लिए युक्ति दी थी कि विभावादि की विद्यमानता ही रस का प्रयोजक है। और पशु-पक्षी आदि भी रस के विभाव बन सकते हैं। अतः तिर्यग् गत रति में रसाभास मानना अनुचित है।[१०७] इसके विरुद्ध शिङ्गभूपाल ने तर्क प्रस्तुत किया है कि केवल आलम्बन विभाव बन जाने से ही रस नहीं हो सकता। शृङ्गार रस का आलम्बन साधारण नहीं है। शृङ्गार को शुचि तथा उज्ज्वल माना गया है। पशु-पक्षी में स्नानादि के अभाव के कारण उज्ज्वलता, पवित्रता, दर्शनीयता का अभाव प्रसिद्ध है। अतः केवल विभावत्व के आधार पर रस नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अपनी जाति के योग्य धर्म के अनुसार हाथी का हथिनी के प्रति विभावत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। विभावत्व तभी सिद्ध होता है, जब वह भावक के चित्त में उल्लास उत्पन्न करे। विभावादि का ज्ञान ही औचित्य विवेक है। उससे शून्य पशु-पक्षी आदि विभावत्व को प्राप्त नहीं होते। यही बात म्लेच्छराग के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।[१०८]

म्लेच्छ राग के उदाहरण के रूप में शिङ्गभूपाल ने एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है जिसमें कोई किसान किसी के द्वारा सम्मोहित कर दिए जाने के कारण सोई हुई अपनी पत्नी को मरी हुई समझ कर विचलित हो जाता है। यहाँ किसान मोहन के कारण हुई सुप्ति दशा एवं मरण दशा का विवेक करने में असमर्थ है। अतः ऐसे अविवेकी व्यक्ति के अनुराग वर्णन में रसाभास ही होता है। क्योंकि, शिङ्गभूपला के अनुसार, अविवेकी व्यक्ति में रति का वर्णन होने पर शृङ्गार रस हास्य से उसी प्रकार अभिभूत हो जाता है, जिस प्रकार कीचड़ में गिरा हाथी। तिर्यग्गत रति एवं म्लेच्छ (अधम पात्र) गत रति की शोध-प्रबन्ध के पंचम अध्याय में सोदाहरण विवेचना की जाएगी।[१०९]

शिङ्गभूपाल ने रसाभास का एक अन्य कारण अनौचित्य को माना है। वे अनौचित्य के दो भेद स्वीकार करते हैं – १. असत्यत्व, २. अयोग्यत्व।

१. इनमें से असत्यत्व के कारण वृक्षादि विषयक रत्यादि के वर्णन में रसाभास होता है अर्थात् वे जड़ पदार्थों में रति आदि भावों के वर्णन में रसाभास

---

१०७. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'तिर्यग्गत रति प्रकरण'।

१०८. (क) रसार्णव सुधाकर, पृ० २०६-२०८

(ख) प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'तिर्यग्गतरति प्रकरण।'

१०९. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, शोध-प्रबन्ध अ० ५, अधमपात्रगत एवं तिर्षागतरति प्रकरण।'

मानते हैं, क्योंकि जड़ पदार्थों में रति आदि का वर्णन नितान्त असत्य है।

नीच मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि के रत्यादि भाव-वर्णन में रसाभास मानने का कारण उनकी (रति आदि भाव-प्रदर्शन की) अयोग्यता है।[११०]

भानुदत्तः :

रसतरङ्गिणी के लेखक भानुदत्त ने रसाभास की कोई स्पष्ट परिभाषा तो प्रस्तुत नहीं की है, परन्तु रसाभास के प्रसङ्ग में अनौचित्य का उल्लेख इन्होंने भी किया है। इनका कथन है कि अनौचित्य का सर्वथा ध्यान रखना चाहिए – **अनौचित्यं सर्वथावधेयम्**[१११] – क्योंकि अनौचित्य उद्वेग का कारक होता है।[११२] लोकव्यवहार में जो प्रसिद्ध है वही औचित्य है – **'लोकयात्राप्रसिद्धमौचित्यम्'।**[११३] भानुदत्त भी अन्य आचार्यों की भाँति युवा प्रेमी - प्रेमिकाओं की रति में ही रस स्वीकार करते हैं।[११४] इसी हेतु इन्होंने निम्न प्रसङ्गों में रसाभास माना है :–

१. अनुभयनिष्ठरति –
   (क) केवल पुरुष में ही रति होने पर,
   (ख) केवल नायिकागत रति होने पर।

२. बहुनिष्ठरति –
   (अ) एक नायिका की अनेक नायकों के प्रति रति प्रदर्शित होने पर,
   (आ) नायक की रति के अनेक नायिकागत होने पर।[११५]

इनके उदाहरणों का उल्लेख इसी प्रबन्ध में अन्यत्र किया जाएगा।[११६]

---

११०. आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्त्तितानाम्।
असत्यत्वादयोग्यत्वादनौचित्यं द्विधा भवेत्।।
असत्यकृतं तत् स्यादचेतनगतं तु यत्।
अयोग्यकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्।। – रसार्णवसुधाकर, - २/९८-९९, संस्कृत परिषद् सागर विश्व विद्यालय सागर, १९६०

१११. रसतरङ्गिणी - ८/१७ वृत्तिभाग, पृ० १६९ 'मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई दिल्ली, सन् १९१४

११२. वही, ८/१७, वृत्ति भाग।

११३. वही।

११४. 'तस्माद् द्वयो र्यूनो र्यत्र रतिस्तत्रैव रसः' वही, ८/१८ वृत्तिभाग, पृ० १६९

११५. वही, ८/१९-२२, पृ० १६९-१७३

११६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत रचना, अ० ५, 'अनुभयनिष्ठरति एवं बहुनायकनिष्ठरति प्रकरण।'

यहाँ पर एक शङ्का उठती है कि इस प्रकार एक नायक की अनेक नायिका विषयिणी रति को रसाभास मानने पर कृष्ण-गोपिका का प्रेमवर्णन भी रसाभास माना जाएगा। क्योंकि कृष्ण का राधा से अथवा अनेक गोपिकाओं से प्रेम था। भानुदत्त ने प्राचीनों के मत का साक्ष देते हुए इस विचार का खण्डन किया है। उनका कथन है कि जिस नायक के लिए अनेक नायिकाएँ व्यवस्थित हों, वहाँ रसाभास नहीं होता। और यदि वहाँ भी रसाभास माना जाए तो सर्वश्रेष्ठ नायक श्रीकृष्ण की अनेक नायिकाविषयिणी रति को भी रसाभास मानना पड़ेगा। इसलिए जहाँ अव्यवस्थित बहुकामिनी विषयिणी रति हो, जहाँ वैषयिक नायक की रति हो तथा बहुनायकविषयिणी रति प्रकट की गई हो, वहीं रसाभास होता है। इसी कारण वैषयिक की तथा वेश्या की प्रीति रसाभास है।[११७]

कृष्ण गोपिका के प्रेम वर्णन में सहृदय को रस की अनुभूति होती है अथवा रसाभास की इस विषय पर आगे विचार प्रस्तुत किया जाएगा।[११८]

रूपगोस्वामी :

भक्ति रस के प्रतिष्ठापक रूपगोस्वामी ने रसाभास की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है –

पूर्वमेवानुशिष्टेन विकलाः रसलक्ष्मणाः।
रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्त्तिताः॥[११९]

अर्थात् पहले ही बताए गए रस-लक्षण से हीन रस ही रसज्ञों द्वारा रसाभास कहे गए हैं।

रसाभास के तीन भेद :

रूपगोस्वामी ने रसाभास के तीन भेद स्वीकार किए हैं – १. उपरस, २. अनुरस, ३. विरस। इनके अनुसार रसाभास के ये भेद क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ होते हैं।[१२०]

---

११७. "...... परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता बह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनीविषयाया रतेराभासतापत्तेः। तस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्। – रसतरङ्गिणी, ८/२० के अन्तर्गत, पृ० १७२

११८. द्रष्टव्य, प्रस्तुत, रचना, अ० ५, 'कृष्णगोपिका प्रसङ्ग।'

११९. भ० र० सि०, उत्तर विभाग, ९/१

१२०. वही, उत्तर विभाग, ९/२

१. उपरस : स्थायिभाव, विभाव एवं अनुभाव आदि की विरूपता (अनौचित्य) के कारण शान्त आदि बारहों रस[१२१] ही उपरस माने गए हैं। शान्त, प्रीति, प्रेम एवं वत्सल उपरस[१२२] (रसाभास) का सोदाहरण विवेचन करने के बाद इन्होंने शृङ्गार उपरस (रसाभास) का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

शृङ्गार रसाभास : जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है रूपगोस्वामी ने रसाभास के कारण के रूप में १. स्थायिभाव, २. विभाव एवं ३. अनुभाव की विरूपता का उल्लेख किया है। शृङ्गार रसाभास (उपरस) के विवेचन में भी इन तीनों की विरूपता के कारण होने वाले रसाभास के पृथक्-पृथक् दिखाया गया है :-

१. स्थायिभाव की विरूपता के कारण होने वाले शृङ्गार उपरस के भेद : रूपगोस्वामी ने (१) एकनिष्ठरति एवं (२) अनेकनिष्ठ रति को स्थायिभाव के वैरूप्य के कारण शृङ्गार उपरस माना है। इनके अनुसार यद्यपि यहाँ विभाव की विरूपता है, परन्तु लक्षणा से स्थायिभाव की विरूपता कही गई है।[१२३]

पूर्वराग रसाभास नहीं :

इनका यह भी मत है कि अनुराग के प्राग्-अभाव में रसाभास न हो कर रस ही रहता है, रति का अत्यन्ताभाव होने पर ही एकनिष्ठरति रसाभास कहलाती है।[१२४] इस प्रकार शिङ्गभूपाल की भाँति इन्होंने पूर्वराग की अवस्था में एकनिष्ठरति को भी रस ही स्वीकार किया है। एक नायक के द्वारा अनेक नायिकाओं के प्रति प्रदर्शित रति (दक्षिणनायक के प्रसङ्ग) में ये रस ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।[१२५]

---

१२१. रूपगोस्वामी ने भक्ति रस के १२ भेद स्वीकार किए हैं। सर्वप्रथम भक्ति के (क) मुख्य तथा (ख) गौण भेद से दो प्रकार माने हैं। पुनः (क) मुख्य भक्ति के पांच भेद स्वीकृत किए गए हैं - १. शान्त, २. प्रीति, ३. प्रेयान्, ४. वत्सल, ५. और मधुर (शृङ्गार)। (ख) गौण भक्ति के सात भेद माने गए हैं - १. हास्य, २. अद्भुत, ३. वीर, ४. करुण, ५. रौद्र, ६. भयानक और ७. बीभत्स। - भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग, ५/९५-९८

१२२. द्रष्टव्य, वही, ९/४-७ १/२; १०१५-१०१९ (उदाहरण)।

१२३. द्वयोरेकतरस्यैव रति र्या खुल दृश्यते।
याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता।।
विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचार्यते।। - वही, ९/८-९

१२४. अत्यन्ताभव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः।
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत्।। – भ० र० सि०, दक्षिण-विभाग, ९/१०

१२५. केचित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः।
नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम्।। - वही, ९/११

२. विभाव की विरूपता के कारण होने वाले शृङ्गार उपरस के भेद : रूपगोस्वामी के विचार में चतुरता एवं उज्ज्वलता आदि का न होना शृङ्गार रस में विभाव की विरूपता होती है। १. लता, २. पशु, ३. पुलिन्दी (म्लेच्छ स्त्री) और ४. वृद्धाओं में चतुरता आदि का अभाव पाया जाता है।[१२६] अतः इन में वर्णित रति को रूपगोस्वामी ने शृङ्गार उपरस माना है।[१२७] उनके अनुसार शृङ्गार रस का विभाव बनने के लिए पवित्रता, उज्ज्वलता, चतुरता एवं सुवेषता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इससे अन्यत्र स्थलों पर जहाँ विमावत्व वर्णित हो वहाँ शृङ्गार का आभास होता है।[१२८]

३. अनुभाव की विरूपता के कारण होने वाले शृङ्गार उपरस : आचारों के उल्लंघन, ग्राम्यता और धृष्टता को रूपगोस्वामी ने अनुभाव की विरूपता कहा है।[१२९]

(अ) आचारों (समय) का व्यतिक्रम :

खण्डिता आदि नायिकाओं का नायक के विषय में क्रोधोदय इत्यादि तथा नायक का प्रिया द्वारा ताड़ना आदि में स्मित इत्यादि करना समय कहा जाता है। इनका अन्यथाभाव (विपरीत भाव) समयों का व्यतिक्रम होता है।[१३०]

(आ) ग्राम्यत्व :

बाल इत्यादि शब्द का कथन, नीरस उक्तियों का विस्तार एवं कटि स्थल की खुजली इत्यादि चेष्टाओं को रूपगोस्वामी ने ग्राम्यता कहा है।[१३१]

---

१२६. वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता।
लता-पशु-पुलिन्दीषु वृद्धास्वापि स वर्तते।। - वही, ९/१२

१२७. विशेष विवरण के लिए देखिए - प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, अ० ५

१२८. शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात्सुवेषत्वाच्च कथ्यते।
शृङ्गारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः।। - भ० र० सि०, उत्तर विभाग, ९/१४

१२९. समयानां व्यतिक्रान्ति र्ग्राम्यत्वं धृष्टताऽपि च।
वैरूप्यमनुभावादे र्मनीषिभिरुदीरितम्।। - वही, ९/१५

१३०. समयाः खण्डितादीनां प्रिये रोषोदितादयः।
पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु।।
एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः।। – भ० र० सि०, उत्तर विभाग, ९/१६
१६ $\frac{१}{२}$

१३१. बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्तिप्रपञ्चनम्।
कटिकण्डूतिरित्याद्यं ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः।। - वही, ९/१७ $\frac{१}{२}$

(इ) धृष्टता

सम्भोग आदि की स्पष्ट प्रार्थना आदि धृष्टता होती है।[१३२]

रूपगोस्वामी के विचार में समयव्यतिक्रम, ग्राम्यता एवं धृष्टता रूप अनुभावादि की विरूपता के कारण भी शृङ्गार उपरस होता है। उदाहरणतया –

कान्तः कैलासकुञ्जोऽयं रम्याऽहं नवयौवना।
त्वं विदग्धोऽसि गोविन्द किं वा वाच्यमतः परम्॥[१३३]

कोई स्त्री श्रीकृष्ण से कह रही है कि - यह रमणीय कैलास कुञ्ज है, मैं रम्य नवयौवनवती हूँ और हे गोविन्द तुम चतुर हो। इससे अधिक क्या कहना चाहिए। इस उक्ति से स्पष्ट रूप में सम्भोग की प्रार्थना प्रकट होती है। अतः यह धृष्टता है। धृष्टता रूपी अनुभाव की विरूपता के कारण यहाँ शृङ्गार उपरस है।

२. अनुरस – रूपगोस्वामी का मत है कि जहाँ पर हास्यादि सातों गौण रसों के एवं शान्त रस के विभावादि भक्त इत्यादि हों तथा विभावादियों का श्रीकृष्ण से सम्बन्ध न हो वहाँ ये ही रस अनुरस कहे जाते हैं –

भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसाः हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः॥[१३४]

वस्तुतः रूपगोस्वामी के द्वारा रसाभास के अनुरस भेद की मान्यता उनके एकाङ्गी दृष्टि की परिचायिका है।[१३५]

इसके अतिरिक्त ये आठों रस (हास्यादि सात गौण रस एवं शान्त रस) यदि

---

१३२. प्रकटप्रार्थनादिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता। - भ० र० सि०, ९/१८

१३३. वही, १०२८ (उदाहरण)।

१३४. उत्तर विभाग, ९/२०

१३५. वही, – साहित्यशास्त्र के आचार्य यश इत्यादि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं–
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ - का० प्र०, १/२।
परन्तु श्रीचैतन्यमतानुयायी श्रीरूपगोस्वामी आदि आचार्य काव्य का प्रमुख प्रयोजन भगवद् भक्ति को ही मानते हैं। अतः इन की दृष्टि में वे ही रस उत्कृष्ट कोटि के होते हैं, जिनके विभावादि साक्षात् श्रीकृष्ण हों। जिन रसों के विभावादि श्रीकृष्ण नहीं होते उन को वे रस नहीं मानते। रूपगोस्वामी द्वारा स्वीकृत रसाभास का अनुरस भेद भी उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्रभावित है।

कृष्ण आदि विभावादि के द्वारा तटस्थों में प्रकट हों तो भी इनको अनुरस ही माना जाता है –

अष्टावमी तटस्थेषु प्रकाट्यं यदि बिभ्रति।
कृष्णादिभि र्विभावाद्यैस्तदाऽप्यनुरसा मताः॥[१३६]

३. अपरस

कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद् विषयाश्रयतां गताः।
हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः॥[१३७]

– अर्थात् यदि हास आदि के विषय श्री कृष्ण और उनके प्रतिपक्षी इस रस के आश्रय होते हैं तब वहाँ विज्ञों ने उन्हें अपरस माना है। तात्पर्य यह है कि, जहाँ श्रीकृष्ण को देखकर शत्रुओं द्वारा किए गए हासादि का वर्णन होता है, वहाँ वे हासादि अपरस माने जाते हैं।

रसाभास भावाभास की आस्वादनीयता रूपगोस्वामी को भी स्वीकार्य है।[१३८]

केशवमिश्र – आचार्य केशव मिश्र ने 'अनौचिती' को महान् रस दोष कहा है। उनके मतानुसार पार्वती एवं शङ्कर का अथवा माता-पिता का केली (क्रीड़ा) वर्णन अनौचिती है। इसी प्रकार यदि कहीं स्तनादि की समानता आकाश आदि से किया जाए तो ऐसी अत्युक्ति भी अनौचिती ही है – **"अनौचिती च महान् रसदोषः"**

भवानीशङ्करादीनां पित्रो र्वा केलिवर्णनम्।
अत्युक्ति र्वा नभः साम्यं स्तनादौ स्यादनौचिती॥[१३९]

इसी भाँति अनौचित्य के कारण अन्य दोष भी होते हैं। यथा नायिका के मानादि करने पर अथवा चरण प्रहार आदि करने पर नायक का आत्यन्तिक कोप

---

१३६. भ० र० सि०, उत्तर विभाग, ९/२१

१३७. वही, ९/२२

१३८. भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ – वही, उत्तर विभाग, ९/२४

१३९. अलङ्कार शेखर, ८/२, पृ० ८८

वर्णन करना अनुचित है।[१४०]

अप्पय दीक्षित – अप्पय दीक्षित ने रसाभास के सम्बन्ध में कोई नूतन उपस्थापना नहीं की। मम्मटादि की भाँति इन्होंने भी रस-भाव की अनुचित प्रवृत्ति को रसाभास-भावाभास माना है – **अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासश्चेत्युच्यते।**[१४१] अप्पय दीक्षित ने भी रसाभास-भावाभास के निबन्धन में ऊर्जस्वी अलङ्कार माना है।[१४२] परन्तु इन्हें आनन्दवर्धन आदि के समान यह अलङ्कार वहाँ अभीष्ट है, जहाँ रसाभास-भावाभास अन्य रस-भाव आदि के अङ्ग रूप में वर्णित हों –[१४३]

जगन्नाथ

अप्पय दीक्षित के पश्चात् पण्डित राज जगन्नाथ की रसाभास-विवेचना पर आवश्यक विस्तार के साथ ही साथ गम्भीरता भी पाई जाती है।

जगन्नाथ ने रसाभास की परिभाषा में दो पक्षों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि कुछ आचार्य रसाभास की परिभाषा यह करते हैं –

१. **अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्**[१४४]

– जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ उसे रसाभास कहते हैं। विभावादि का अनौचित्य लोक-व्यवहार से समझना चाहिए। जिसके विषय में लोगों की 'यह अनुचित है' इस प्रकार की बुद्धि हो, उस विभाव को अनुचित मानना चाहिए – **विभावादावनौचित्यं पुन लोंकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् अनुचितम्' इति धीरिति केचित्।**[१४५]

---

१४०. ईदृशा इत्यनेनान्येऽप्यनौचित्यहेतवो दोषा भवन्तीति दर्शितम्।
यथा नायिकाया मानादिना चरणप्रहारादिना वा नायकस्यात्यन्तिककोपवर्णनम् - अलङ्कारशेखर, ८/२

१४१. कुवलयानन्द, १७१

१४२. रसभावतदाभास भावशान्तिनिबन्धनाः।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम्।। - वही, १७०

१४३. अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासश्चेत्युच्यते, स यत्रापरस्याङ्गं तदूर्जस्वी - वही, (१७१ (वृत्ति)।

१४४. रसगङ्गाधर, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४६ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि० सं० २०२०)

१४५. वही।

२. विद्वानों का दूसरा पक्ष रसाभास के उक्त लक्षण को नहीं मानते। क्योंकि अनुचित विभाव को रसाभास मान लेने पर यद्यपि मुनिपत्नी, गुरु पत्नी आदि के विषय में होने वाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनि पत्नी आदि रति के लिए अनुचित आलम्बन हैं। परन्तु एक नायिका की अनेक नायकों के प्रति होने वाली (बहुनायकनिष्ठ) रति एवं नायक-नायिका दोनों में से एक में ही होने वाली (अनुभयनिष्ठ) रति का संग्रह नहीं होगा क्योंकि वहाँ विभाव अनुचित नहीं है, भाव ही अनुचित है। अत: रसाभास के लक्षण में 'अनुचित विशेषण विभाव में न लगा कर रति आदि स्थायिभावों में लगाना चाहिए। अर्थात् रसाभास का लक्षण इस प्रकार करना चाहिए – 'अनुचित रूप से प्रवृत्त स्थायिभाव रसाभास कहलाते हैं'। इस लक्षण में मुनिपत्नी आदि गत रति (अनुचित आलम्बन विषयिणी रति), बहुनायकनिष्ठरति एवं अनुभय-निष्ठरति सब का संग्रह हो जाता है। क्योंकि इन तीनों उदाहरणों में रति अनुचित रूप से प्रवृत्त होती है। 'अनौचित्य' का अर्थ इस मत में भी वही (प्रथम पक्ष के अनुसार ही) है –

तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि, बहुनायक - विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्। तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादि विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायक- विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव[१४६]

इन दोनों मतों में से कौन-सा अधिक उचित है यह कहना कठिन है। रस का प्रमुख आधार स्थायिभाव है। अत: उसी की अनुचित प्रवृत्ति को रसाभास मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। फिर भी, रसाभास के प्रसङ्ग में विभाव आदि का अनौचित्य भी अत्यन्त सार्थक है। वस्तुत: ये दोनों मन्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं। एक ओर विभावादि की अनुचित प्रवृत्ति का निर्णय भाव के अनौचित्य पर आधारित है। दूसरी ओर विभावादि के अनौचित्य के आधार पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि भाव अनुचित रूप में प्रवृत्त हुआ है। रही बात बहुनायक विषयक रति एवं अनुभयनिष्ठरति के संग्रह की, वह अनुचित विशेषण को विभाव के साथ लगाने पर भी हो जाता है। अर्थात् अनुचित विभावत्व इन में भी सिद्ध होता है। मुनिपत्नी विषयक रति आदि से इन प्रसङ्गों की भिन्नता मात्र इतनी है कि मुनि पत्नी विषयक रति आदि में आलम्बन विभाव (जिसके प्रति भाव प्रकट किया जाता है) अनुचित है। तथा बहुनायक विषयक रति में आश्रय (भाव व्यंजना करने वाला पात्र) अनुचित है। तात्पर्य यह है कि प्रथम उदाहरण में मुनिपत्नी

---

१४६. रसगङ्गाधर, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४८

आदि को इतर व्यक्ति अपना प्रेम पात्र माने, यह अनुचित है और दूसरे उदाहरण में एक नायिका एक से अधिक नायकों के प्रति रति प्रकट करे यह अनुचित है। इसी प्रकार अनुभयनिष्ठरति में भी आश्रयविभाव का अनौचित्य सिद्ध होता है। अतः इस सन्दर्भ में अन्य आचार्यों के मतों के विरुद्ध स्थायिभाव विषयक अनौचित्य की पृथक् कल्पना करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

रूपगोस्वामी ने भी अनुभयनिष्ठरति एवं बहुविषयक रति को स्थायिभाव की विरूपता (अनौचित्य) के कारण रसाभास माना है। परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि विभाव की विरूपता (अनौचित्य) ही यहाँ उपचार (लक्षण) से स्थायिभाव में कही जाती है।[१४७]

इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की मान्यता सर्वथा उपयुक्त है। उन्होंने आभास की स्थिति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी में मानते हुए भी, अन्त में स्थायिभाव में, और परिणामतः रस में स्वीकार की है –

यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः।[१४८]

जगन्नाथ ने उपनायकनिष्ठ, मुनिगुरुपत्नीगत, बहुनायकनिष्ठ एवं अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास स्वीकार किया है।[१४९]

इन्होंने राजादि की पत्नी के प्रति प्रकट होने वाली रति को भी रसाभास कहा है।[१५०]

बहुनायकविषयक रति को रसाभास सिद्ध करने के पश्चात् इन्होंने द्रौपदी एवं पाण्डवों के प्रेम प्रसङ्ग के विषय में प्रचलित विवाद का सङ्केत किया है। इनके अनुसार नवीन आचार्य इस प्रसङ्ग को रसाभास मानते हैं और प्राचीन आचार्यों के अनुसार वहाँ रस ही है।[१५१]

इसकी चर्चा अन्यत्र प्रस्तुत की जाएगी।[१५२]

---

१४७. भ० र० सि० - उत्तर-विभाग, ९/८-९

१४८. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१८

१४९. रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण, – उदाहरणों की विवेचना के लिए देखिए, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, अ० ५

१५०. अत्र मुनिगुरुशब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम्। – वही, प्रथम आनन, पृ० ३५४

१५१. वही, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५४-३५५

१५२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० ५ 'द्रौपदी-पंचपाण्डव प्रसङ्ग'

इन्होंने शृङ्गार रस के समान शृङ्गाराभास के भी संयोग एवं विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार स्वीकार किये हैं।[१५३]

पण्डितराज ने शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों के आभासों का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार कलहशील कुपुत्र के विषय में एवं वीतराग आदि में वर्णन किया जाने वाला शोक, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डाल आदि में वर्ण्यमान निर्वेद, निन्दनीय एवं कायर पुरुषों में तथा पिता आदि (श्रद्धेयजनों) के विषय में वर्णित क्रोध एवं उत्साह, ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित विस्मय, गुरु आदि के प्रति वर्णित हास, महावीर (नायकादि) में भय तथा यज्ञीय पशु के मज्जा, रुधिर, मांस आदि में जुगुप्सा के वर्णन में ततद्रसों में आभास उत्पन्न हो जाता है –

एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्यकातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन च क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसासृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः।[१५४]

उपर्युक्त प्रसङ्गों में से कतिपय को आज के परिवर्तित समाज में यथावत् रसाभास स्वीकार कर लेने में शङ्का हो सकती है। इस पर आगे यथास्थान विचार किया जायेगा।[१५५]

जगन्नाथ के उपरान्त रसाभास-भावाभास पर किसी आचार्य ने कोई नूतन सामग्री उपस्थापित नहीं की। इन आचार्यों ने जगन्नाथ के समय तक स्वीकृत शृङ्गार रसाभास के भेदों का सोदाहरण उल्लेख मात्र किया है। परिचिति की दृष्टि से उनके मन्तव्यों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है –

नरेन्द्रप्रभसूरि –

जगन्नाथ के बाद नरेन्द्र प्रभसूरि ने रसाभास-भावाभास की परिभाषा लगभग मम्मट आदि के ही शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत की है –

---

१५३. तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाराभासोऽपि द्विविधः - संयोगविप्रलम्भभेदात् - र० गं०, रसभास प्रकरण, पृ० ३५५

१५४. वही, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

१५५. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० ५

आभासा रसभावानामनौचित्यप्रवर्त्तनात्[१५६]

इनके अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में अनौचित्य का अर्थ है - परवनिता आदि में अभिलाषा आदि – **परवनितादिष्वभिलाषादिप्रवृत्तिरनौचित्यम्।**[१५७]

इन्होंने सीता के प्रति रावण की रति को परवनिता में प्रकटित अभिलाषा के कारण रसाभास माना है।[१५८]

स्मरणीय है कि जगन्नाथ को छोड़कर इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने सीता के प्रति रावण की रति को अनुभयनिष्ठ होने के कारण रसभास माना है।[१५९]

इसके अतिरिक्त इन्होंने तिर्यगादिगत, निरिन्द्रियगत एवं हीन पात्र (अधम पात्र) गत रति को भी रसाभास स्वीकार किया है –

आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि।[१६०]
हीनजातिषु मनुष्येष्वपि केऽपि रसाद्याभासं मन्यन्ते॥[१६१]

वस्तुतः नरेन्द्रप्रभसूरि का रसाभास-विवेचन पूर्णतः हेमचन्द्र का अनुकरण है। शृङ्गाराभास के उदाहरण भी इन्होंने वे ही दिए हैं, जिनका उल्लेख हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में किया है।[१६२]

अभिनव कालिदास

अभिनव कालिदास (नरसिंह कवि) का विचार है कि शृङ्गार, वीर, रौद्र और अद्भुत रस की समुचित पुष्टि तभी सम्भव है जब वह लोकोत्तर आश्रय में वर्णित हो। इसी आधार पर इन्होंने म्लेच्छादिगतरति को रसाभास स्वीकार किया है।

---

१५६. अलङ्कार महोदधि, ३/५३, पृ० ९६ (ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन् - १९४२)

१५७. वही, ३/५३ वृत्ति।

१५८. इसके उदाहरण क लिए देखिए, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, 'अनुभयनिष्ठरति प्रकरण'।

१५९. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक पृ० १७२-१७४; १७९; १८३

१६०. अलङ्कार महोदधि, ३/५३ के अन्तर्गत, (पृ० ९६)

१६१. वही, पृ० - ९६; ३/५३ के अन्तर्गत

१६२. देखिए, अलङ्कार महोदधि, रसभास प्रकरण, पृ० ९६

अनुभयनिष्ठ, तिर्यग्गत, म्लेच्छगत (अधमपात्रनिष्ठ) तथा बहुनायकनिष्ठ रति में इन को भी रसाभास स्वीकार्य है –

शृङ्गारवीररौद्राद्भुतानां लोकोत्तराश्रयत्वेन परिपोषातिशयः। अत एव शृङ्गारस्य म्लेच्छादि विषयत्वेनाभासत्वम्। तथा चोक्तम्- एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा। योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः॥[१६३]

अल्लराज :

अल्लराज का भी मन्तव्य है कि जहाँ युवा नायक-नायिका दोनों का पारस्परिक प्रेम न हो, वहाँ रसाभास होता है –

एतेन द्वयो र्यूनो र्यत्र रतिस्तत्रैव रसः। अन्यथा रसाभास एव।[१६४]

इन्होंने अधोलिखित प्रसङ्गों में रसाभास स्वीकार किया है –

(अ) अनुभयनिष्ठरति –

१. स्त्री-पुरुष में से केवल पुरुष में ही रति दिखाने पर,

२. केवल स्त्री में ही रति का प्रादुर्भाव होने पर।

(आ) बहुनिष्ठरति –

१. एक नायिका की अनेक नायकों के प्रति प्रकट होने वाली रति में

२. एक पुरुष का अनेक कामिनियों के प्रति होने वाले अनुराग में।[१६५]

इनके उदाहरणों की चर्चा आगे की जाएगी।[१६६]

शिङ्गभूपाल आदि के समान अल्लराज ने भी दक्षिण-नायक की (अनेक कामिनीविषयक) रति को रसाभास न मानकर रस ही माना है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि किसी एक पुरुष द्वारा अनेक स्त्रियों के उपभोग का वर्णन

---

१६३. नञ्जराज यशोभूषण, ४/, पृ० ३८ (ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन् - १९३०)।

१६४. रसरत्न प्रदीपिका, ६/४३ वृत्ति, पृ० ४१ (भारतीय विद्या भवन, मुंबई, सन् - १९४५)।

१६५. वही, ६/४३-४७, पृ० ४१

१६६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५ सम्बन्धित प्रकरण।

होने पर यदि उस (पुरुष) का अनुराग किसी एक ही स्त्री पर ध्वनित होता हो तो वहाँ रस ही मान लेना चाहिए।[१६७]

अच्युतराय –

जगन्नाथ के अनुकरण पर अच्युतराय ने रसाभास (एवं भावाभास) की परिभाषा इस रूप में प्रस्तुत की है –

असंमतालम्बित्वादयोग्यविषयत्वतः।
रसाभासास्तथा भावाभासाश्च स्युरनुक्रमात्॥[१६८]

असंमत आलम्बन विभाव होने पर एवं अयोग्य विषय में वर्णित होने पर क्रमशः रसाभास और भावाभास होते हैं अर्थात् जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ रसाभास होता है और जहाँ भाव अनुचित विषय में वर्णित हो वहाँ भावाभास होता है।[१६९] इन्होंने उदाहरण में गुरु पत्नीगत रति को अनुचित माना है।[१७०]

राजचूडामणि –

राजचूडामणि दीक्षित ने रति आदि भावों के अनुचित-प्रवर्त्तन में रसाभास स्वीकार किया है –

'रसाभासस्तु रत्यादेरनौचित्यप्रवर्त्तने'[१७१]

---

१६७. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपाद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते तदा रस एव स्यात्। - र० र० प्र०, ६/४७, पृ० ४२

१६८. साहित्यसार, ४/१७६

१६९. तत्र रसाभासं भावाभासं च लक्षयितुं हेतुद्वयं प्रकटयति - असंमतेति। एवं चानुचितालम्बनविभावत्वं रसाभासत्वम्। अनुचितविषयत्वं भावाभासत्वं चेति तल्लक्षणं फलितम्। उक्तं हि रसगङ्गाधरे - 'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्' इति। 'अनुचितविषया भावाभासा' इति च। - साहित्यसार, 'सरसामोद' संस्कृत व्याख्या', निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् - १९०६

१७०. वही, ४/१७७

१७१. काव्यदर्पण, ४/१७८ (वाणी विलास प्रेस, राजस्थान, सम्पादक पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री)।

इन्होंने एकनिष्ठरति एवं बहुनायकनिष्ठरति को रसाभास कहा है।[१७२]

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि वेश्याएं स्वभावत: अनेक पुरुषों के साथ प्रेम का व्यवहार करती हैं तो क्या उनके अनेक पुरुष विषयक प्रेम प्रदर्शन को भी रसाभास माना जाए ? इसके उत्तर में राजचूडामणि का कथन है कि वेश्या का भी एक ही समय में अनेक पुरुषों के साथ प्रेम करना अनुचित है। साथ ही शृङ्गार का लक्षण (भरत आदि आचार्यों ने) **'उत्तमप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक:'** ऐसा कह कर किया है। अत: वेश्या विषयक शृङ्गार वर्णन रसाभास का कारण बनता है।[१७३] पशु-पक्षी गत रति वर्णन में इन्हें 'रस' ही स्वीकार्य है, रसाभास नहीं।[१७४]

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की दृष्टि में अनौचित्य का अर्थ :

१. काव्यप्रकाश के टीकाकार **गोविन्द ठक्कुर** के अनुसार अनौचित्य का अर्थ है - प्रकर्षका विरोध। प्रकर्ष-विरोध से इनका तात्पर्य अङ्गीरस को अङ्गरस के रूप में प्रकट करना प्रतीत होता है। इन्होंने अनुभयनिष्ठ, तिर्यगादिगत एवं बहुनिष्ठ रति में तथा व्यभिचारिभावों के आभास के अङ्गरूप में वर्णन होने पर अनौचित्य स्वीकार किया है।[१७५]

---

१७२. '........ यत्र परस्परानुरागस्तत्र रस:, यत्र त्वन्यतरानुराग एव तत्र न रस: किंतु रसवदाभासमानत्वाद्रसाभास एवेति ध्येयम्।'

'....... एवमेकस्या युगपदनेकेषु रतिप्रवृत्तिरप्याभास एव। यथा-स्तुम: कं वामाक्षि. .... ध्यायसि तु यम्। .... इत्येकस्या अनेक विषयकराग प्रतीते रसाभास:। - काव्यदर्पण, ४/१७८ (वृत्तिभाग)।

१७३. न च वेश्याया अनेकविषयकरागेऽपि अनौचित्यमिति नात्र रसाभासतेति वाच्यम्; तस्या अपि युगपदनेकानुरागस्यानौचित्यात्, 'उत्तमप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक:' इति शृङ्गारलक्षणाद् वेश्याविषयत्वे शृङ्गारस्य सुतरामाभासत्वाच्च' – वही, ४/१७८ वृत्तिभाग।

१७४. केचित्तु तिर्यगादिषु रसाभासमाचक्षते। तदयुक्तम्, तेष्वपि विभावादिसंभवात्' - वही, ४/१७८ वृत्ति।

१७५. अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिना रुपेणेत्यर्थ:। तच्चैकाश्रयत्वे, तिर्यगादिविषयतायां, बहुविषयत्वे, व्यभिचारिणामाभासाङ्गतायां (वा) द्रष्टव्यम्। - काव्यप्रदीप, पृ० ९२ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३); काव्यप्रकाश (बालबोधिनीटीका, पृ० १३०)।

२. 'सुधासागर' के लेखक **भीमसेन** ने प्रदीपकार के मत के विरुद्ध तिर्यग्गत रति को रसाभास न स्वीकार कर रस ही माना है।[१७६] इनके अनुसार अन्यत्र अनेक कामुकविषयक रति में रसाभास मानने पर भी द्रौपदी का पाण्डवों के प्रति प्रेम में रसाभास नहीं मानना चाहिए।[१७७] इनका यह भी मत है कि स्वकान्ता के विषय में भी शोकादि अवस्था में रतिवर्णन अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण आभास रूप ही समझना चाहिए।[१७८]

काव्यादि के श्रवणादि से विभावादि के साधारणीकृत हो जाने पर सहृदय को अपने स्थायिभाव की ही चर्वणा होती है। अतः अलौकिक रस में आभासता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ? इसके उत्तर में सुधासागरकार का कथन है कि यद्यपि काव्य-नाटक के श्रवण-दर्शन से विभावादि के साधारणीकृत हो जाने पर सहृदयों को अपनी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है, अतः यह अलौकिक रस स्वयं आभास नहीं होता। फिर भी असाधारण की प्रतीति के प्रयोजक काव्य के वर्णन में जब अनौचित्य का प्रवेश हो जाता है तो व्यङ्ग्य रस भी आभास रूप हो जाता है।[१७९]

३. **श्रीधर** ने काव्यप्रकाश विवेक में अनौचित्य की व्याख्या इस प्रकार की है –

'आभासत्वमविष्पष्ठप्रवृत्त्या अनौचित्यम्'।[१८०] इनके अनुसार **'स्तुमः कं वामाक्षि'** इत्यादि (काव्य प्रकाश, ४/४८) पद्य में होने वाली रति की चर्वणा

---

१७६. '..... तिर्यगादौ तु अनौचित्याभावाद्रस एव। न तदाभासः' – का० प्र०, बालबोधिनी टीका,' पृ० १२१

१७७. अत एवान्यत्रानेककामुकविषयरतेराभासत्वेऽपि पाण्डवेषु द्रौपद्या न तथा। — वही, पृ० १२१

१७८. अत एवान्यत्रानेककामुकविषयरतेराभासत्वेऽपि पाण्डवेषु द्रौपद्या न तथा – वही, पृ० १२१

१७९. यद्यपि काव्यनाट्यश्रवणदर्शनाभ्यां विभावादिसाधारण्यज्ञाने सति सामाजिकानां स्वीयस्थायिव्यक्तिरित्यलौकिकरसः स्वतो नाभासः। तथापि असाधारण्यप्रतीति प्रयोजककाव्यवर्णिते यत्र चानौचित्यप्रतिसंधानं तत्र व्यङ्ग्ये रसेऽप्याभासव्यवहार इति ध्येयम्' – वही, पृ० १२१

१८०. काव्य प्रकाश विवेक, खण्ड १, सं० – शिव प्रसाद भट्टाचार्य। Studies in Indian Poetics : Past and Present, पृ० ९२ से उद्‌धृत।

वास्तविक नहीं है क्योंकि वहाँ नायक-नायिका में परस्पर आस्थाबन्ध का अभाव है। अत: यह वास्तविक श्रृङ्गार नहीं है, शुक्तिका में रजत की भाँति आभास मात्र है।[१८१]

४. **चण्डीदास** के अनुसार अनौचित्य से अभिप्राय लोक एवं शास्त्र का उल्लङ्घन है। इनके विचार में यह अनौचित्य तब उपस्थित होता है जब (भरतादि प्रणीत) श्रृङ्गारादि रस का लक्षण पूर्ण रूप से सङ्गत न हों, किन्तु लक्षण के कुछ अंश से ही सम्बन्ध रखते हों।[१८२] इन्होंने अधमपात्र एवं तिर्यगादि गत (रति) वर्णन को अनौचित्यपूर्ण माना है।[१८३]

५. **श्री विद्याधर चक्रवर्तिन्** एवं **भट्टगोपाल** ने भी अनौचित्य का अर्थ इसी प्रकार किया है –

'अनौचित्यमन्ततः शास्त्रविरोधात् चमत्कारभङ्गः। तेन प्रवर्त्तिता रसा भावाश्च आभासाः। आमुखे च भासनमाभासः शुक्तिरजतवत्। तच्च तल्लक्षण-राहित्येऽपि तद्वदवभासमानत्वम्।'[१८४]

६. **उद्योतकार** ने अनौचित्य की परीक्षा के लिए सहृदय के व्यवहार को प्रमाण माना है। जहाँ सहृदय को प्रतीत हो कि यहाँ अनौचित्य है, वहाँ अनौचित्य समझना चाहिए –

'अनौचित्यं च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम्, यत्र तेषां - अनुचितमिति धीः।'[१८५]

---

१८१. ...... तदिह (स्तुम इत्यादौ) येयं रतिश्चर्वणामारोहति नासौ तात्विकी परस्पर सम्बन्धाभावात्। ततश्च नायं वास्तवः श्रृङ्गारः, उत्तमप्रकृतिरुज्ज्वलवेशात्मकः श्रृङ्गार इत्यभिधानात्। आभासो ह्यसौ शुक्तिकायां रजतवत्।

Studies in Indian Poetics : Past and Present (कलकत्ता, १९६४) पृ० ९२ से उद्धृत।

१८२. अनौचित्यं च लोकशास्त्रातिक्रमः। एतच्च श्रृङ्गारादिलक्षणैक देशयोगोपलक्षण-परम्' - काव्यप्रकाश दीपिका, पृ० १४५ (वाराणसेय सं० वि० वि०, सं० - शिव प्रसाद भट्टाचार्य, सन् १९६५)

मिलाइए - अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्री रहितत्वे - सत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।' - सा० द०, ३/२६२ वृत्ति।

१८३. तेनाधमपात्रतिर्यगादेरवबोधः। - काव्यप्रकाश दीपिका, पृ० १४५

१८४. Studies in Indian Poetics : Past and Present (कलकत्ता, १९६४) पृ० ९२ से उद्धृत।

१८५. काव्यप्रकाश, 'बालबोधिनी टीका, (पृ० १२१) में उद्धृत उद्योतकार का मत।

७. बालबोधिनी टीका के लेखक **वामन झलकीकर** ने अनौचित्य का आधार लोक एवं शास्त्र को बताया है। उनके अनुसार शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण करके प्रतिषिद्ध विषय के प्रति हुआ कोई भाव का निरूपण जब सामाजिक को अनुचित लगता है तब उसे अनौचित्य कहा जाता है – **'अनौचित्यं हि शास्त्र लोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादि रूपं सामाजिकसंवेद्यम्'।**[१८६]

इन्होंने, १. बहुविषयक, २. उपनायकादिगत, ३. अनुभयनिष्ठ, ४. गुरुजन–विषयक एवं ५. तिर्यगादिगत रति को रसाभास स्वीकार किया है।[१८७] इन्होंने शृङ्गार के अतिरिक्त हासादि रसों के आभासों का भी उल्लेख किया है।[१८८]

अभिनवगुप्त की भाँति इन्हें भी यह मान्य है कि रसाभास के उदाहरणों में पहले रस की अनुभति होती है, उसके बाद रसाभास की। इस सम्बन्ध में उनका कथन है –

'रसानौचित्यस्य रसावगमोत्तरमेवागमात् आभासता प्रयोजकतैव। न च वाच्यवाचकानौचित्यवद्रसभङ्गहेतुतेति बोध्यम्।'[१८९]

अर्थात् रस के अनौचित्य के कारण जो आभास उत्पन्न होता है, वह रसागम की उत्तरकालिक स्थिति अथवा अनुभूति है।

रसाभास के प्रसङ्ग में उन्होंने एक और प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या लौकिक अवस्था में ही रसाभास का बोध हो सकता है, रस की साधारणीकरण वाली अवस्था में नहीं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि 'साधारणीकरण के उपाय से सामाजिक वर्णनीय में तन्मय हो जाता है तब उसी में अनौचित्य उपस्थित होता है और सामाजिकनिष्ठ रति को भी आभासता प्राप्त हो जाती है; लौकिक अवस्था मात्र में नहीं –

'नन्वेतावता लौकिकस्याभासत्वमागतं न तु सामाजिकनिष्ठस्यालौकिकस्येति चेन्न। साधारणीकरणोपायेन सामाजिकस्य वर्णनीयमयीभावात्सामाजिकनिष्ठ-रतेप्याभासत्वमिति।'[१९०]

---

१८६. काव्यप्रकाश 'बालबोधिनी टीका', पृ० १२१

१८७. वही, पृ० १२१

१८८. वही, पृ० १२१

१८९. वही, पृ० १२१

१९०. वही, पृ० १२१

तात्पर्य यह है कि रसाभास के प्रसङ्ग में सहृदय का चित्त पहले रस की अनुभूति में मग्न रहता है, पर अकस्मात् अनौचित्य का बोध हो जाने पर उसका वह रसानुभव रसाभास में परिवर्तित हो जाता है।

८. **भट्ट सोमेश्वर** ने अनौचित्य का अर्थ इस प्रकार किया है – **'अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्यम्'**[१९१] अर्थात् अन्योन्य अनुराग आदि के अभाव के कारण अनौचित्य होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत रसाभासविषयक विचारों का अनुशीलन करने के पश्चात् रसाभास के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

१. सभी आचार्यों ने अनौचित्य को रसाभास का आधार माना है।

२. अभिनवगुप्त, मम्मट, काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट सोमेश्वर तथा श्रीधर के अनुसार अनौचित्य से अभिप्राय नायक-नायिका में परस्पर अनुराग का अभाव है।

३. उद्भट, जगन्नाथ एवं काव्य प्रकाश के टीकाकार चण्डीदास, विद्याधर चक्रवर्तिन् और वामन झलकीकर के अनुसार अनौचित्य से तात्पर्य शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण है। अन्य आचार्यों ने भी अनौचित्य के विवेचन में लोक एवं शास्त्र को ही आधार बनाया है।

४. निम्नलिखित प्रसङ्गों में शृङ्गार रसाभास स्वीकार किया गया है।

(क) विश्वनाथ ने मुनि, गुरुपत्नी आदि गत रति में तथा अच्युतराय ने गुरुपत्नी गत रति में,

(ख) विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने उपनायकनिष्ठ रति में,

(ग) मम्मट, जयदेव, भानुदत्त, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ, अभिनव कालिदास, अललराज एवं राजचूडामणि ने बहुनायकनिष्ठ रति में,

(घ) शिङ्गभूपाल, भानुदत्त तथा अल्लराज ने बहुनायिकानिष्ठ रति में,

– परन्तु शिङ्गभूपाल, भानुदत्त एवं अल्लराज ने दक्षिण नायक की अनेक कामिनीविषयिणी रति में भी रस ही स्वीकार किया है।

---

१९१. काव्य प्रकाश, काव्यादर्श सङ्केत टीका, पृ० ५६
– राजस्थान, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, राजस्थान, सन् १९५९

(ङ) भानुदत्त ने वैषयिक और वेश्या की रति में तथा राजचूडामणि दीक्षित ने वेश्यागत रति में,

(च) अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, अप्पय-दीक्षित, जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि, अभिनवकालिदास, राज चूडामणि एवं अल्लराज ने अनुभयनिष्ठ रति में,

(छ) भोजराज, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, नरेन्द्रप्रभसूरि तथा अभिनव कालिदास ने अधमपात्रगत रति में,

(ज) रूपगोस्वामी ने बालक और वृद्धागत रति में,

(झ) भोजराज, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, नरेन्द्रप्रभसूरि, अभिनवकालिदास, काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर एवं वामन झलकीकर ने तिर्यग्गत रति को रसाभास स्वीकार किया है, परन्तु विद्याधर, काव्यप्रकाश के एक अन्य टीकाकार भीमसेन दीक्षित एवं राजचूडामणि तिर्यग्गत रति को रसाभास न मानकर रस ही स्वीकार करते हैं।

(ञ) भोजराज, हेमचन्द्र, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी एवं नरेन्द्रप्रभसूरि निरिन्द्रियगत रति को रसाभास मानते हैं।

७. शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल विरोधी रसों के संयोजन में रसाभास मानते हैं।

८. शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों में रसाभास का स्पष्ट उल्लेख अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ एवं वामन झलकीकर ने किया है।

९. भामह एवं दण्डी के परवर्ती अलङ्कारवादी आचार्यों ने रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वि अलङ्कार में किया है। हेमचन्द्र ने समासोक्ति आदि अलङ्कारों को रसाभास का जीवित माना है।

रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकट किये गये हैं –

(क) रसाभास रस की उत्तरकालिक अवस्था है। – अभिनवगुप्त, वामन-झलकीकर।

(ख) प्रत्येक रस का आभास अन्ततः हास्य में परिणत हो जाता है। - अभिनवगुप्त।

(ग) रसाभास रसध्वनि का ही एक प्रकार है। – आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ।

(घ) रसाभास आस्वादनीय है। – विश्वनाथ, रूपगोस्वामी।

(ङ) रसाभास का अनौचित्य रस के स्वरूप का नाश नहीं करता। – जगन्नाथ।

रसाभास से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य :

अनौचित्य को रसभङ्गका एक मात्र कारण माना गया है –

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।[१९२]

रसाभास के मूल में भी अनौचित्य का विनियोग स्वीकार किया गया है।[१९३] यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि संस्कृताचार्यों द्वारा रसाभास को उत्तम काव्य का विषय मानना[१९४] कहाँ तक उचित है ? जो अनौचित्यपूर्ण हो, उसका आस्वाद्यत्व भी कैसे सम्भव है ?

इन शङ्काओं के समाधान के लिए एवं रसाभास के यथार्थ स्वरूप से परिचय प्राप्त करने के लिए निम्नोक्त शीर्षकों पर विचार प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। –

१. रसाभास और रस,

२. रसाभास और अनौचित्य,

३. रसाभास और साधारणीकरण,

४. रसाभास की अनुभूति।

१. रसाभास और रस :

जगन्नाथ ने रसाभास के विषय में प्रचलित दो भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। विद्वानों के एक पक्ष के अनुसार रसाभास को रस कहना उचित नहीं है। क्योंकि रस स्वरूपतः निर्मल एवं औचित्यपूर्ण होता है और रसाभास के मूल में अनौचित्य का विनियोग अनिवार्य रूप में रहता है। अतः रस एवं रसाभास एक स्थल पर नहीं रह सकते - इनमें समानाधिकरण हो ही नहीं सकता। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

---

१९२. ध्व० आ०, ३/१४ वृत्ति

१९३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० २

१९४. (क) ध्व० आ०, २/३

(ख) का० प्र०, ४/२६

(ग) सा० द०, ३/२५९

(घ) भ० र० सि०, ९/२४

इसके उदाहरण के रूप में नैयायिकों के हेत्वाभास को ले सकते हैं। नैयायिक हेतु और हेत्वाभास (जैसे अग्नि का वास्तविक हेतु - धुआँ तथा हेत्वाभास - धुएँ के समान दीखने वाला कुहरा) को एक नहीं मानते।

इसी प्रकार रस और रसाभास को भिन्न-भिन्न मानना चाहिए।[१९५]

इसके विरुद्ध विद्वानों के दूसरे पक्ष का मत है कि किसी वस्तु में अनौचित्य के आ जाने से उसके स्वरूप का नाश (आत्म हानि) नहीं हो जाता। केवल उसके दोष की सूचना भर कर दी जाती है। उसी प्रकार अनौचित्य के कारण रस के स्वरूप का विनाश नहीं होता। हाँ उसके दोष का सङ्केत करने के लिए उसे रस न कह कर रसाभास कहा जाता है। यह कहना ऐसा ही है, जैसे किसी दोषयुक्त अश्व को अश्वाभास कह दिया जाता है, परन्तु ऐसा कहने पर भी रहता तो वह अश्व ही है। अतः अनौचित्यपूर्ण होने पर भी रसाभास भी रस ही है - अर्थात् आस्वाद्य होने के कारण उसे रस ही कहा जाता है।[१९६]

२. रसाभास और अनौचित्य :

अनौचित्य का आधार - लोक एवं शास्त्र :

सभी आचार्यों ने रसाभास का कारण अनौचित्य को माना है।[१९७] इस सन्दर्भ में अनौचित्य का अर्थ है - शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण।[१९८] लोक का अर्थ है लोकवृत्त या लोक व्यवहार अर्थात् साधारणतः जैसा व्यवहार संसार में होता है। और शास्त्र का अर्थ है - शास्त्रानुमोदित - आदर्श रूप में जैसा होना चाहिए।[१९९]

---

१९५. तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्। निर्मलस्यैव रसादित्वात्। हेत्वाभासत्वमिव 'हेतुत्वेन' इत्येके। - रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४९ (ब. हि० वि० वि०)।

१९६. 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभास - व्यवहारः। अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे। – वही, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४९

१९७. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० २, पृ० ६४-६७

१९८. (क) अनौचित्यं हि शास्त्रलोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादिरूपं सामाजिकसंवेद्यम्। तदुक्तमुद्योतादौ - अनौचित्यं च सहृदय व्यवहारतो ज्ञेयम्, यत्र तेषामनुचितमिति धीः। - का० प्र०, वामनी टीका, पृ० ११८

(ख) लोकयात्राप्रसिद्धमौचित्यम्। - रसतरङ्गिणी, ८/१७ वृत्ति भाग।

(ग) विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकव्यवहारतो विज्ञेयम्। यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति। – रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४७

१९९. शक्तिर्निपुणता - लोकशास्त्र ....., का० प्र०, १/३, टीका भाग।

लोक एवं शास्त्र परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। लोक में जो होता है, उसी के आधार पर शास्त्रकार यह प्रतिपादित करता है कि यह होना चाहिए। और लोक व्यवहार भी शास्त्र निर्दिष्ट विधि-निषेधों को पालन करके ही चलता है।[२००] काव्य का पाठक भी लौकिक मानव ही होता है, अतः वह अपने समाज में प्रचलित आचार संहिताओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसलिए काव्यादि में उसके संस्कार के विरुद्ध (लोक एवं शास्त्र द्वारा गर्हित) वर्णन हो तो उसे अनुचित लगेगा ही। उदाहरणार्थ - तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो किसी भी एक स्त्री और किसी एक पुरुष को आलम्बन मान कर शृङ्गार का निरूपण किया जा सकता है। परन्तु लोक एवं शास्त्र के प्रतिकूल भाई-बहिन अथवा पिता-पुत्री का शृङ्गार-वर्णन सहृदय को अनुचित लगेगा ही।

शास्त्र एवं लोकव्यवहार की परिवर्तनशीलता :

समय की गति के साथ-साथ शास्त्र के विधि-निषेध एवं लौकिक मान्यताएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। जैसे-जैसे युग बदलता है, लोक-दृष्टि भी धीरे-धीरे बदलने लगती है। एक समय में जो व्यवहार शास्त्रानुमोदित एवं लोक-प्रचलित होता है, उससे भिन्न समय में वह यथावत् ग्राह्य नहीं रहता - कल की नीति आज अनीति हो सकती है और आज की अनीति आने वाले कल की नीति हो सकती है।

इसी प्रकार औचित्यानौचित्य के मापदण्ड शास्त्र एवं लोक-व्यवहार के परिवर्तन के साथ-साथ औचित्यानौचित्य की धारणा भी बदलती रहती है। जगन्नाथ ने द्रौपदी एवं पाण्डवों के प्रेम प्रसङ्ग से इसी तथ्य की ओर सङ्केत किया है। प्राचीनों ने द्रौपदी एवं पाण्डवों के प्रसङ्ग को रस माना है। और नवीनों ने रसाभास।[२०१] इसका कारण है - दो भिन्न-भिन्न समय के सामाजिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन।

इसी प्रकार उचितानुचित सम्बन्धी धारणा एक ही समय में भिन्न-भिन्न देशों में अथवा समाज में भिन्न-भिन्न हो सकती है। भारतवर्ष में नाट्यमंच पर चुम्बन,

---

२००. द्रष्टव्य, रस-सिद्धान्त (डा० नरेन्द्र), पृ० ३०७

२०१. अथात्र किं व्यङ्ग्यम् -

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः।।

अत्र ...... पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद्रसाभास-एवेति नव्याः, प्राञ्चस्तु अपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रसाभासतेत्याहुः।' - रसगङ्गाधर,। रसाभास प्रकरण, पृ० ३५४-३५५

आलिङ्गन आदि निषिद्ध माने जाते हैं।[२०२] परन्तु पाश्चात्य रङ्गमंच पर इन कृत्यों के प्रदर्शन पर कोई प्रतिरोध नहीं है। इसका कारण दोनों देशों का काम के प्रति दृष्टिकोण की भिन्नता है। काम के प्रति पश्चिमी देशों की दृष्टि काफी उदार है। भारत में काम के प्रति मर्यादित दृष्टिकोण है।

इसके अतिरिक्त एक ही समय एक ही देश अथवा समाज के दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की उचितानुचित विषयक धारणा में भी भिन्नता देखी जा सकती है। समाज में हरेक व्यक्ति का स्वभाव या रुचि एक समान नहीं होती।[२०३] अपने स्वभाव के अनुसार जो बात एक व्यक्ति को उचित प्रतीत होती है, वही बात दूसरे के मन में अनौचित्य का उद्‌बोध कर सकती है। इसके उदाहरण के रूप में भी उपर्युक्त द्रौपदी का पाँच पति विषयक प्रेम को लिया जा सकता है। परम्परावादी एवं रूढ़ि प्रिय व्यक्ति को इस प्रेम में भी औचित्य ही दिखाई देता है, परन्तु आज का बुद्धिवादी पाठक इस प्रकार के सम्बन्धों की आलोचना किए बिना नहीं रहेगा।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना का निष्कर्ष यह है कि औचित्यानौचित्य, नैतिकता अनैतिकता सम्बन्धी धारणा देश, काल, व्यक्ति सापेक्ष होती है। जगन्नाथ ने अन्ततः लोकबुद्धि को अनौचित्य की कसौटी मान कर[२०४] इसी आशय को प्रकट किया है।

३. रसाभास एवं साधारणाकरण :

रसानुभूति में साधारणकीरण एक महत्त्वपूर्ण व्यापार है। इसकी सफलता के लिए विभावादि का औचित्यपूर्ण होना परमावश्यक है।[२०५] रसाभास के मूल में किसी न किसी प्रकार के औनौचित्य का विनियोग पाया जाता है।

अतः यद्यपि आचार्यों ने रसाभास के आस्वाद्‌यत्व को स्वीकार करते हुए उसे ध्वनि-काव्य अथवा उत्तम-काव्य का ही एक प्रकार स्वीकार किया है।[२०६] तथापि

---

२०२. सा० द०, ६/१७

२०३. यदाहुः - भिन्नरुचिर्हि लोकः। - ध्व० आ० लो०, पृ० ७० (चौ० वि० वाराणसी, सन् १९७९)।

२०४. यत्र तेषामयुक्तमिति धीरितिति। - रसगङ्गाधर, १म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४७ (काशी हि० वि० वि० प्रकाशन, वि० सं० २०२०)।

२०५. विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता कवेरिति।
तस्माद् विभावाद्यौचित्यमेव रसवत्ताप्रयोजकं नान्यदिति भावः।। - ध्व० आ० लो०, पृ० १४७

२०६. (क) ध्वन्यालोक, २/३

रसाभास-काव्य में उतनी तन्मयता अथवा विगलित वेद्यान्तरता नहीं होती जितनी रस-काव्य में। इस का कारण यह है कि रसाभास का अनौचित्य साधारणीकरण की पूर्णता में बाधा उपस्थित कर देता है। परिणामतः सहृदय की चेतना वहाँ उतनी लीन नहीं हो पाती जितनी रस-दशा में सम्भव है।

रसाभास - काव्यों में साधारणीकरण की यथार्थ स्थिति को समझने के लिए रसाभास की अनुभूति को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

४. रसाभास की अनुभूति :

संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसाभास के स्वरूप एवं उदाहरणों के अनुशीलन से यह तथ्य सामने आता है कि रसाभास के मूल में निहित अनौचित्य का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है। अतः रसाभास की अनुभूति के विषय में निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। फिर भी अनौचित्यानुभूति के आधार पर रसाभास के उदाहरणों को प्रमुख तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

१. प्रथम वर्ग में ऐसे उदाहरण या प्रसङ्ग लिए जा सकते हैं, जो नैतिक दृष्टि से अनौचित्यपूर्ण होने पर भी सहृदयों को ग्राह्य होते हैं। ऐसे प्रसङ्गों में शिष्टाचार की अवहेलना को सामाजिक न्याय्य ठहराता है। उदाहरण के रूप में दक्षिण नायक[२०७] के प्रसङ्ग को लिया जा सकता है। लौकिक शिष्टाचार की दृष्टि से एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं है। परन्तु काव्यादि में वर्णित दक्षिण-नायक के व्यवहार में रसिक प्रकृति का पाठक किसी प्रकार के अनौचित्य का अनुभव नहीं करता। प्रकृति भेद से यदि किसी को अनौचित्य का अनुभव हो भी जाए तो वह बहुत हल्के रूप में होता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में ऐसे उदाहरणों का एक विशाल भण्डार है, जिन में स्त्री-पुरुष के अवैध सम्बन्धों का चित्रण उपलब्ध होता है - कहीं कोई तरुणी रति समागम का निमिन्त्रण देती हुई पथिक को अपनी शैय्या दिखा रही है,[२०८] कहीं कोई चतुर नारी ज़ार के साथ सम्भोग करने से उत्पन्न पसीने और निःश्वास के लिए भारी घड़ा

(ख) काव्यप्रकाश, ४/६

(ग) सा० दर्प०, ३/२५९

२०७. एषु त्वेनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः। - सा० द०, ३/३५

२०८. श्वश्रूरत्र निमज्जति यत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि।। - का० प्र०, ५।१३६, पृ० २५०

उठाने का बहाना बना रही है,[२०९] कोई नायिका अपने उन्नत स्तनों का प्रलोभन देकर पथिक को रोकने का प्रयास कर रही है,[२१०] कहीं पर नायिका का सन्देश लेकर गई दूती स्वयं नायक से सम्भोग करके लौट गई है,[२११] कहीं कोई रूपवती घर में प्रवेश करने से पूर्व अपने पीछे लगे मनचलों को नेत्र की माला डालकर सन्तुष्ट कर रही है,[२१२] कहीं पर एकान्त स्थल देखकर नायिका सहेली से प्रच्छन्न कामुक को भेजने का आग्रह कर रही है।[२१३] इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जिनमें उच्छृङ्खल काम-व्यवहार का चित्रण हुआ है। काव्यानुरागी-पाठक ऐसे काव्यों का बड़ी रुचि से सेवन करता है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि इससे व्यक्ति के अचेतन मन में छिपी कामभावना को सन्तुष्टि मिलती है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड् के अनुसार मन के तीन भाग हैं - अचेतन, अवचेतन और चेतन।[२१४] मनुष्य के अवचेतन में कुछ सहज वासनाएँ होती हैं, जिन में काम-वासना सबसे प्रधान और सबकी शासिका होती है। बचपन से ही मनुष्य की इस वासना को अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में हुआ करती है। परन्तु जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे उसकी सामाजिक चेतना उसकी नग्न उच्छृङ्खल

---

२०९. अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिः श्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।। – अत्र चौर्यरतगोपनं व्यज्यते।
- वही, ३/१३, पृ० ८३

२१०. पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मानक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस।।
अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते। - वही, ४/५८, पृ० १५०

२११. निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागाधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्। - का० प्र०, १/२, पृ० ३०

२१२. भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयां बभूव।। – र० गं०, प्रथम आनन, 'रसाभास प्रकरण'।

२१३. अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं सामर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः।।
अत्र विवक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते। - का० प्र०, ३/२०, पृ० ८७

२१४. देखिए, 'समीक्षालोक' - भगीरथ दीक्षित, पृ० ७९
(इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९७६)।

वासनाओं का दमन करती जाती है। वे वासनाएँ दमित होकर अवचेतन में पड़ी रहती हैं और अनेक छद्म रूप धारण कर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूढ़ती रहती हैं। काव्य भी काम-सन्तुष्टि का एक साधन है। अनेक प्रकार के सामाजिक - बन्धनों के कारण व्यक्ति अपनी जिस वासना को प्रत्यक्ष रूप में तृप्त नहीं कर पाता, उसे काव्य-नाट्यादि के माध्यम से प्रच्छन्न रूप से तृप्त कर एक विशिष्ट प्रकार की सन्तुष्टि प्राप्त करता है। अतः स्त्री-पुरुष के जो व्यवहार सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से अनैतिक समझे जाते हैं, वे काव्यादि के विषय बन कर पाठक के चित्त में उल्लास उत्पन्न करने में सक्षम सिद्ध होते हैं।

२. रसाभास के द्वितीय वर्ग में ऐसे उदाहरण आते हैं, जिनमें सामाजिक क्षणिक रसास्वाद के पश्चात् कविनिबद्ध भावों के विपरीत किसी अन्य भाव की अनुभूति करता है। किसी सत्पात्र के प्रति दुष्ट पात्र की आसक्ति, हास एवं क्रोध का वर्णन इसी वर्ग के उदाहरण हैं। ऊपर सीता के प्रति रावण की कामोक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। उसमें रस सामग्री (विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी) तो शृङ्गार रस के ही हैं। परन्तु यहाँ सहृदय न केवल रावण की रति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है, बल्कि उसके चित्त में रावण के प्रति क्षोभ, क्रोध आदि भाव जागृत हो जाते हैं। इसी प्रकार राम के प्रति रावण के क्रोध-प्रदर्शन में भी पाठक का हृदय रावण से तादात्म्य ग्रहण करने की अपेक्षा, उसी के प्रति आक्रोश से भर उठता है। इस प्रकार के उदाहरणों में रसकाव्यों की भाँति पाठक उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिस भाव का अनुभव. आश्रय आलम्बन के प्रति करता है। बल्कि वहाँ आश्रय ही पाठक के भावों का आलम्बन बन जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक स्थल पर इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है :

"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यञ्जना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है, जिसमें आश्रय किसी काव्य का नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यञ्जना करता है और श्रोता (या पाठक) किसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उस का भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का - जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिस

की व्यञ्जना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि भाव-व्यञ्जना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है।"[२१५]

यहाँ आचार्य शुक्ल ने जिस रस की नीची अवस्था का उल्लेख किया है और पुराने साहित्य-ग्रन्थों में इसका वर्णन न होने की बात कही है, वह रसाभास की अवस्था से पूर्णतया मेल खाती है।

उपर्युक्त रसाभास के दोनों वर्गों की अनुभूति के विषय में विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि प्रथम वर्ग में अनौचित्य की अनुभूति मन्द होती है और द्वितीय में तीव्र। यही कारण है कि प्रथम वर्ग के उदाहरणों में अनौचित्यानुभूति अनान्दानुभूति की तुलना में क्षीण होती है। सहृदय के मन में उठने वाला हल्का अनौचित्य-विवेक उसके रसानुभव में बहुत मन्द प्रभाव डालता है। इसके विपरीत रसाभास के दूसरे वर्ग के उदाहरणों में, जहाँ अनौचित्य की अनुभूति तीव्र होती है, सहृदय सर्वप्रथम कवि निबद्ध भावों का हल्का अनुभव प्राप्त करता है। उसके पश्चात् उसके चित्त में उद्बुद्ध होने वाली अनौचित्य की तीव्र अनुभूति किसी अन्य परवर्तिनी प्रतिक्रिया जैसे – घृणा, क्षोभ, उपहास, श्रद्धा आदि भावों का जन्म देती है।

एक प्रश्न :

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि रसाभास के प्रथम वर्ग के उदाहरणों को तो रस-ध्वनि कोटि में रखना उचित है, क्योंकि वहाँ अनौचित्य की अनुभूति मन्द होती है और आनन्द की तीव्र। पाठक इन प्रसङ्गों में काव्य के आश्रयपात्र के साथ तादात्म्य भी स्थापित कर लेता है, परन्तु दूसरे वर्ग के उदाहरणों को जिन में अनौचित्य की तीव्र अनुभूति होती है और पाठक काव्य के आश्रयपात्र से तादात्म्य स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ रहता है, उत्तम-काव्य का विषय कैसे माना जा सकता है ? यदि माना जा सकता है तो किस आधार पर ? इसके उत्तर में निम्नोक्त दो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

१. रसाभास रस की उत्तरकालिक स्थिति है : अर्थात् रसाभासकाव्यों में सर्वप्रथम सहृदय को रस की ही अनुभूति होती है। रसाभास की स्थिति रसानुभव के अनन्तर आती है। इस बात को अभिनवगुप्त ने सीपी में चांदी के आभास का दृष्टान्त देकर समझाया है – **'शुक्तौ रजताभासवत्'।**[२१६] अन्धकार में पड़ी सीपी

---

२१५. रस मीमांसा, पृ० २५५ (काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, सं०, २०२३)।

२१६. ध्व० आ० लो०, पृ० १८६-८७

में द्रष्टा को पहले पहल चाँदी का ज्ञान होता है, उसके बाद सीपी का। सीपी के ज्ञान से पूर्व जितनी देर तक चाँदी का ज्ञान रहता है, उतनी देर तक वह ज्ञान सत्य ही है। उस क्षण सीपी में चाँदी का वह भ्रम द्रष्टा के चित्त में उतना ही हर्ष या कौतुहल को जगाता है, जितना चाँदी का वास्तविक दर्शन होने पर। भले ही बाद में उसका वह ज्ञान असत्य सिद्ध हो जाए। इसी प्रकार रसाभास - काव्य में भी सहृदय को अनौचित्य ज्ञान से पूर्व रस का ही अनुभव होता है। उस की यह रसानुभूति तब तक बनी रहती है, जब तक उसे अनौचित्य का भान नहीं हो जाता। किन्तु कुछ क्षण बाद पूर्वापर सम्बन्ध का विवेक जागृत होने पर उसे वही आनन्द अनुचित लगने लगता है – उसका रसानुभव रसाभास में परिणत हो जाता है। इस तथ्य की स्पष्टीकरण के लिए अभिनव ने सीता के प्रति प्रदर्शित रावण की रति का उल्लेख किया है। सीता के सम्बन्ध में रावण की प्रेमोक्ति को पढ़कर सामाजिक कुछ क्षणों के लिए इस 'रति में तन्मय हो जाता है। उस क्षण उसे विभाव और रत्यादि के पौर्वापर्य का विवेक रहता ही नहीं। अतः इस अवस्था में उसे शृङ्गार की ही अनुभूति होती है। परन्तु जैसे ही उसे यह ध्यान आता है कि यहाँ रति अनुचित आलम्बन में प्रकट हुई है तो उसकी प्रथम शृङ्गारानुभूति शृङ्गाराभास में परिवर्तित हो जाती है।[२१७] काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार 'रस के अनौचित्य के कारण जो आभास उत्पन्न होता है, वह रसागम की उत्तरकालिक स्थिति अथवा अनुभूति है। यह अनौचित्य वाच्य-वाचक के अनौचित्य की भाँति रसभङ्ग का कारण नहीं बनता।'[२१८]

---

२१७. (क) रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरूपतैव 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात्। तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति, पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन' दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभासः। - ध्व० आ० लो०, पृ० ७९-८० (चौ० वि०, सन् १९७९)

(ख) अत्रादौ सहृदयानां सीताविषयकरावणरतेस्तन्मयीभावेनास्वाद्यतेति शृङ्गारचर्वणैव, पश्चात्तद्रतेरनुचितालम्बनत्वज्ञानेन तद्विषयक हासोद्बोधाद्धास्य चर्वणैव, शृङ्गारचर्वणा च तदाभासचर्वणैवेति। - ध्व० आ० लो०, बालप्रिया, पृ० '७९

२१८. रसानौचित्यस्य रसावगमोत्तरमेवावगमात् आभासताप्रयोजकतैव। न वाच्यवाचकानौचित्यवद्रसभङ्ग हेतुतेति बोध्यम्। – का० प्र०, वामनी टीका, पृ० १२१

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रसाभास के इन उदाहरणों में सहृदय सर्वप्रथम कुछ क्षणों के लिए ही सही, रस की ही अनुभूति करता है, अतः इन्हें रसादि ध्वनि अथवा उत्तम काव्य का विषय मानने में कोई विसङ्गति नहीं है।

२. रसाभास काव्यों में अनौचित्य ज्ञान के बाद होने वाली भावानुभूति भी एक प्रकार की रस की दशा है – रसाभास - काव्य में रसानुभव के बाद अनौचित्य की प्रतीति हो जाने पर भी उसकी रसवत्ता सर्वथा समाप्त नहीं हो जाती। केवल आस्वाद का प्रकार बदल जाता है। यही कारण है कि अनौचित्य की प्रतीति हो जाने पर भी सहृदय इस वर्ग के रसाभास काव्यों से सर्वथा उदासीन नहीं होता। वह इस प्रकार के प्रसङ्गों में भी अपने चित्त को लगाए रखना चाहता है। उपर्युक्त रावण-सीता के प्रसंग में अनौचित्य की प्रतीति हो जाने पर सहृदय के चित्त का उस प्रसंग से सर्वथा विच्छेद नहीं हो जाता। अन्तर इतना आता है कि अनौचित्य ज्ञान से पूर्व वह जिस रति का आस्वाद ले रहा था, वह नहीं रहता। काव्य-प्रसंग में वह तब भी तल्लीन रहता है। रावण के प्रणय-निवेदन में जब उसे अनौचित्य दिखाई देने लगता है तब वह रावण को अपनी घृणा, उपेक्षा, क्षोभ, उपहास आदि भावनाओं का आलम्बन बना लेता है। जो रावण अनौचित्य-प्रतीति से पूर्व रति का आश्रय था, अब वह पाठक की उपेक्षादि भावनाओं का आलम्बन बन जाता है। क्रूर रावण को सीता के प्रति प्रणय निवेदन करते हुए देखकर उसके मन में उठने वाले क्रोध एवं घृणा, सीता की दयनीय अवस्था को देखकर होने वाली करुणा, सीता की ओर से अस्वीकृति का ज्ञान होने पर सीता की चरित्रगत महानता के बोध से उद्बुद्ध होने वाला हर्ष एवं रावण की आत्यन्तिक असफलता का ध्यान आने पर उसके प्रति होने वाली उपहास आदि भावनाएँ सहृदय के चित्त में जो प्रभाव डालती हैं, वह भी एक प्रकार की रसात्मक ही होती हैं। "....... यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है .... यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है तो श्रोता वा दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक सञ्चार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। ..... इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।"[२१९]

२१९. रसमीमांसा, पृ० २५५

३. उपर्युक्त दूसरे वर्ग से मिलता-जुलता रसाभास के उदाहरणों का तीसरा वर्ग यह हो सकता है, जिसमें सहृदय को अनौचित्य का ज्ञान प्रारम्भ से ही रहता है। द्वितीय वर्ग के उदाहरणों में अनौचित्यज्ञान से पूर्व सहृदय एक बार को तो कुछ क्षणों के लिए ही सही, रस का ही अनुभव करता है। रसाभास का अनुभव उसे कुछ क्षण बाद अनौचित्य प्रतीति के बाद होती है। परन्तु इस (तृतीय) वर्ग के उदाहरणों में प्रसङ्गादि का ज्ञान पहले से होने के कारण अनौचित्य-बोध भी प्रारम्भ से बना रहता है। अतः यहां सहृदय को रस का क्षणिक आस्वाद भी प्राप्त नहीं होता। अनौचित्य का पूर्वज्ञान श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य में सरलता से हो जाता है। नाट्यमञ्च पर सीता के प्रति रतिनिवेदन करते हुए अथवा राम के प्रति क्रोध अभिव्यक्त करते हुए रावण को देखकर सहृदय उसके भावों के साथ एक क्षण भी तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता, बल्कि प्रारम्भ से ही उसके हृदय में रावण के प्रति क्रोधादि के भाव जागृत हो जाते हैं। इस प्रकार रसाभास के द्वितीय वर्ग के उदाहरणों की पार्यन्तिक अनुभूति एवं तृतीय वर्ग के उदाहरणों की प्रारम्भिक अनुभूति समान होती है। द्वितीय वर्ग के उदाहरणों में यह अनुभूति कुछ देर बाद होती है और तृतीय वर्ग के उदाहरणों में आरम्भ से ही यह अनुभूति बनी रहती है। द्वितीय वर्ग के रसाभास-काव्यों की भाँति इस में सहृदय काव्य के आश्रय विभाव से तादात्म्य स्थापित करने में भले ही असमर्थ हो, परन्तु उसका मन भावशून्य यहाँ भी नहीं होता। यहाँ भी काव्य-प्रसङ्ग अथवा कवि के भावों में उसकी तल्लीनता बनी रहती है। यह बात अवश्यक है कि रसाभास की अनुभूति में सहृदय की चेतना उतनी तल्लीन नहीं हो पाती, जितनी रसानुभव की दशा में सम्भव है।

इस सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि रसाभास-काव्य में साधारणीकरण की स्थिति रसकाव्य के सदृश सुदृढ़ नहीं होती और इस में पाठक को रसकाव्य के समान पूर्ण आनन्दानुभूति भी नहीं होती। परन्तु रसाभास की दशा में भी एक प्रकार का आनन्दानुभव होता अवश्य है। भले ही वह आनन्द रसानन्द से कुछ न्यून हो। अतः रसाभास को उत्तम-काव्य की श्रेणी में रखा गया है, जो उचित ही है।

सहित्य में रसाभास का महत्त्व :

रसाभास काव्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। काव्य में साधु और असाधु सभी प्रकार के चरित्र होते हैं। अच्छाई और बुराई का संघर्ष दिखाते हुए, अन्त में अच्छाई का विजय दिखाना काव्य का चरम लक्ष्य है। अतः बुरे चरित्रों को और

अधिक बुरा सिद्ध करने के लिए कवि को रसाभास की योजना करनी ही पड़ती है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी पात्र को अत्यधिक दुष्ट सिद्ध करना हो तो कवि उससे विविध प्रकार के अनौचित्यपूर्ण व्यवहार कराएगा। इससे पाठक के मन में उसके प्रति अतिशय रोष का भाव एकत्रित हो जाता है। तब साधु पात्र द्वारा उसका विनाश अथवा पराजय दिखाकर काव्य को कान्तासम्मितोपदेश का साधन बनाता है। अतः रसाभास के कारण होने वाली अनौचित्यानुभूति भी पाठक के हृदय में एक प्रकार के आनन्द की ही सृष्टि करती है। इसके अतिरिक्त मानव मन की विविधता के उद्घाटनार्थ भी रसाभास का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रकार काव्य में रसाभास की महत्ता सिद्ध होती है।

तृतीय-अध्याय

रसाभास का अन्य काव्य–तत्त्वों से सम्बन्ध

रस–ध्वनिवादी आचार्यों ने अङ्गभूत रसाभास को अलङ्कारविशेष माना है और अलङ्कारवादियों ने अङ्गीभूत रूप में वर्णित रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वि–अलङ्कार में किया है। हेमचन्द्र ने समासोक्ति आदि अलङ्कारों का भी रसाभास से सम्बन्ध जोड़ा है। रसाभास का प्रमुख आधार अनौचित्य है। अतः विलोम रूप से वह औचित्य तत्त्व के साथ भी सम्बन्धित है। अनौचित्य ही स्वरूपगत सूक्ष्म भेद के साथ रसाभास एवं काव्य–दोषों का मूल कारण बनता है। अतः काव्य दोषों के साथ भी रसाभास का प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

रसाभास एवं उपर्युक्त काव्य तत्त्वों के पारस्परिक सम्बंध की चर्चा से रसाभास के स्वरूप पर और अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय में निम्नलिखित विषयों पर सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है :–

१. रसाभास और अलङ्कार,

२. रसाभास और औचित्य तत्त्व,

३. रसाभास और काव्यदोष।

१. रसाभास और अलङ्कार :

(क) रसाभास और ऊर्जस्वि अलङ्कार :

अलङ्कारवादी आचार्यों में सर्वप्रथम उद्भट ने कदाचित् रसाभास को अलङ्कारों में अन्तर्भुक्त करने के उद्देश्य से (अनौचित्य तत्त्व का रस तथा भावों से सम्बंध दिखाते हुए रसाभास - भावाभास के आधार पर ही) 'ऊर्जस्वि' नामक अलङ्कार की कल्पना की है। उद्भट प्रदत्त 'ऊर्जस्वि' का लक्षण इस प्रकार है –

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥

– का० स० सं०, ४/५

– काम-क्रोधादि कारण से अनुचित रूप से प्रवर्त्तित रसों एवं भावों का निरूपण 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार कहलाता है। करिका को स्पष्ट करते हुए इन्हीं के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने इस की वृत्ति में लिखा है कि काव्य में रस-भाव का उपनिबन्धन या तो शास्त्रानुमोदित रूप में होता है अथवा शास्त्रविरुद्ध। इन में से जहाँ शास्त्रानुमोदित रूप में रस तथा भाव का उपनिबन्धन रहता है, वहाँ क्रमशः रसवत् तथा प्रेय अलङ्कार होते हैं और जहाँ रस एवं भाव का शास्त्र एवं लोक विरुद्ध वर्णन हो वहाँ 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार होता है। 'ऊर्जस्वि' का अर्थ है 'बलवत्'।[१]

आचार्य उद्भट ने 'ऊर्जस्वि' का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है –

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्।।[२]

अर्थात् शिव जी का काम-भाव इतना बढ़ गया कि वे सत्पथ का त्याग करके पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए।

इस पद्य में 'रति' स्थायिभाव है। 'काम' शब्द से शृङ्गार के स्थायी-भाव इसी रति का कथन किया गया है।[३] पार्वती आलम्बन विभाव है। बलपूर्वक

---

१. क्वचित्खलु रसभावानां शास्त्रसंविदविरुद्धेन रूपेणोपनिबन्धः क्रियते क्वचित्तु तद्विरुद्धेन। तत्र यत्र शास्त्रसंविदविरुद्धेन रूपेण तेषामुपनिबन्धस्तत्र प्रेयोऽलङ्कारो रसवदलङ्कारश्चाभिहितः। यत्र तु तद्विरुद्धत्वं तन्मूललोक-व्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां रसभावानामुपनिबन्धे सति ऊर्जस्वित्काव्यं भवति। अत एव तत्र स्वकल्पनापरिकल्पित्वेन ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वादूर्जस्विव्यपदेशः। – का० सा० सं०, ४/५ (लघुवृत्ति)।

२. का० सा० सं०, ४/५ के अन्तर्गत।

३. आचार्य उद्भट ने रस के उदाहरणों में स्वशब्दवाच्यता को अनिवार्य माना है – 'रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादि रसादयम्। स्वशब्दस्थायि - संचारिविभावाभिनयास्पदम्।।' (का० सा० सं०, ४/३) परन्तु परवर्ती आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने स्थायी, व्यभिचारी आदि का स्वशब्द के द्वारा कथन को रसदोष माना है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट उद्घोष किया है कि 'विभावादि के प्रतिपादन से रहित केवल शृङ्गारादि शब्द के प्रयोग से काव्य में थोड़ी भी रसप्रतीति नहीं होती - "न हि केवल शृङ्गारादिशब्द-मात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये कथमपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति" (ध्वन्यालोक, १. ४ वृत्तिभाग)। उद्भट के उपर्युक्त मत से असहमति प्रकट करते हुए कुन्तक ने भी लिखा है कि इससे पूर्व के आचार्यों ने रसों की स्वशब्द निष्ठता को नहीं माना है – तत्र स्वशब्दास्पदत्वं

पकड़ना आवेग का सूचक होने से व्यभिचारिभाव है। सत्पथ का त्याग करने से मोह लक्षित होता है। पकड़ने को तत्पर होना आङ्गिक अनुभाव है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार रस की सम्पूर्ण सामग्री - विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव - विद्यमान है, परन्तु फिर भी इससे पाठक को शृङ्गार रस की अनुभूति नहीं हो रही है। उद्भट के अनुसार उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण संसार के पूज्य भगवान् शङ्कर का अविवाहित कुमारी पार्वती के प्रति प्रवृद्ध राग के कारण जो बल प्रयोग दिखाया गया है, वह शास्त्र विरुद्ध होने से 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार है।[४]

उद्भट के पश्चात् सभी अलङ्कारवादियों ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार को रसाभास पर ही आधारित किया है। आचार्य रुय्यक ने रसाभास, भावाभास को ही 'ऊर्जस्वि' की संज्ञा दी है[५] और इसके उदाहरण के रूप में **'दूराकर्षण मोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि यते श्रुतिम्'**[६] इत्यादि पद्य को ही उद्धृत किया है। इस पद्य को रसवादी अभिनवगुप्त ने शृङ्गार रसाभास के कारण हास्य में परिणति का उदाहरण माना है।

अलङ्कारवादी उद्भट एवं रुय्यक के 'ऊर्जस्वि' विषयक विचारधारा से प्रतीत होता है कि उनके द्वारा इस अलङ्कार के स्वरूप की मान्यता रसवादियों द्वारा स्वीकृत रसाभास, भावाभास का अलङ्कारों में अन्तर्भाव दिखाने के प्रयोजन से ही हुई है, परन्तु 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार का मूलरूप, जो आचार्य भामह एवं दण्डी की रचनाओं में उपलब्ध होता है, उसका रसाभास के साथ सम्बन्ध नहीं था। दोनों आचार्यों के 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार विषयक मन्तव्य से यह बात स्पष्ट हो सकेगी।

रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्' (वक्रोक्तिजीवित, ३/११/३७)। वस्तुतः विभावादि की समुचित योजना ही रस-परिपाक का हेतु है। आचार्य मम्मट ने तो व्यभिचारी, स्थायी एवं रस का स्वशब्द से कथन को रसदोष माना है - 'व्यभिचारिरस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।.... रसे दोषाः स्युरीदृशाः (का० प्र०, ७/६०)। वस्तुतः समुचित विभावादि की योजना के अभाव में केवल रस, स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव आदि के नामोल्लेख कर देने मात्र से रस की प्रतीति नहीं होती; वरन् इनकी स्वशब्द वाच्यता रसानुभूति में क्षीणता का कारण बनती है। अतः रसादि की स्वशब्दवाच्यता को मम्मटादि के मत के अनुसार रसदोष मानना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

४. काव्यालङ्कार सा० सं०, ४/५ (उदाहरण पर लघुवृत्ति)।

५. रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्-प्रेय - ऊर्जस्विसमाहितानि। - अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र ८३

६. हि० अभिनव भारती, पृ० ५१८

सर्वप्रथम भामह ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार का लक्षण दिए बिना ही सीधा उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है –

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विसन्दधाति किं कर्णः शल्ये' त्यहिरपाकृतः॥– (काव्यालङ्कार, ३/७)

कर्ण के द्वारा अर्जुन पर (चलाया गया बाण जब) लौट आया तब (कर्ण ने यह कहते हुए) सर्प को हटा दिया कि हे शल्य ? कर्ण क्या दो बार बाण का सन्धान करता है ? इसमें वीर कर्ण की गर्वोक्ति है कि मैं दो बार निशाना नहीं मारता। अतः 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार है। दण्डी ने 'ऊर्जस्वि' का लक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है – **'ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारम्'**[७] अर्थात् अहङ्कार को व्यक्त करने वाली उक्ति 'ऊर्जस्वि' - अलङ्कार कहलाती है।

आचार्य दण्डी ने 'ऊर्जस्वि' का निम्न उदाहरण दिया है –

अपकर्त्ताऽहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद् भयम्।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्त्तुं जातु वाञ्छति॥
इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम्॥[८]

मैं तुम्हारा अनिष्ट करने वाला हूँ ऐसा (सोचकर) तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (युद्ध से) विमुख व्यक्तियों पर मेरा खड्ग कभी भी प्रहार नहीं करता। यह कह कर किसी अभिमानी पुरुष ने युद्ध में पराजित (अत एव उससे विमुख) किसी व्यक्ति को छोड़ दिया। इस प्रकार के (अहङ्कारयुक्त) वचनों को 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार मानना चाहिए।

भामह एवं दण्डी के उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में वीर पुरुषों का गर्व प्रदर्शित किया गया है और वह गर्व वीर रस के स्थायी उत्साह को परिपक्व दशा (वीर रस) तक ले जाने की अपेक्षा स्वयं प्रधान रूप से प्रकट हुआ है। शास्त्रीय व्याख्या के अनुसार यहाँ उत्साह स्थायिभाव गर्व व्यभिचारिभाव से हतप्रभ हो गया है। इसलिए 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार है।

उपर्युक्त भामह एवं दण्डी के उदाहरणों से इस तथ्य को सहज ही रेखाङ्कित किया जा सकता है कि इन दोनों आचार्यों ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार वहाँ माना है।

---

७. काव्यादर्श, २/२७५

८. काव्यादर्श, २/२९३-९४

जहाँ अहङ्कार की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई हो अथवा जहाँ कोई व्यभिचारिभाव ही प्रधान रूप से प्रकट हुआ हो और स्थायिभाव को हतप्रभ कर दे। दोनों आचार्यों ने इस अलङ्कार के प्रसङ्क में अनौचित्य शब्द अथवा रसाभास का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है और न ही यहाँ 'गर्व' भाव कर्ण अथवा अन्य वीर पुरुष के चरित्र का अपकर्षक है। अतः उपर्युक्त भामह और दण्डी तथा उद्भट और उनके अनुयायियों के मतों का परीक्षण करने पर 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप सामने आते हैं –

१. प्रथम स्वरूप के अनुसार 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार उस उक्ति में मानना चाहिए, जिसमें स्पष्ट रूप से अहङ्कार अभिव्यक्त हुआ हो – 'ऊर्जस्वि' रुढाहङ्कारम्'। 'ऊर्जस्वि' में आए 'ऊर्जस्' शब्द की समानता बल,[९] गर्व अथवा अहङ्कार से हाने के कारण भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। दोनों आचार्यों के उदाहरणों में गर्व व्यभिचारिभाव उत्साह स्थायिभाव को हतप्रभ करके प्रधान रूप से अभिव्यक्त हुआ है। अतः इससे यह साङ्केतिक अभिप्राय भी माना जा सकता है कि 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार वहाँ माना गया है, जहाँ कोई व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से उपस्थित हो कर स्थायिभाव को हतप्रभ कर दे। भामह एवं दण्डी के मत में 'ऊर्जस्वि' का यही स्वरूप प्रतीत होता है।

२. द्वितीयस्वरूप के अनुसार 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ अनुचित रूप से प्रवृत्त रस एवं भाव (रसाभास-भावाभास) का निबन्धन हो। भामह एवं दण्डी के परवर्ती उद्भट, रुय्यक एवं उनके अनुयायियों के अनुसार 'ऊर्जस्वि' का यही स्वरूप है।

इस प्रकार 'ऊर्जस्वि' के मूल स्वरूप-कल्पना के साथ रसाभास का सम्बंध नहीं था। क्योंकि उसे रसाभास-भावाभास से सम्बन्धित करने का किसी प्रकार का विचार-सङ्केत भामह एवं दण्डी की स्थापना में नहीं मिलता। कदाचित् इसका कारण यह भी हो सकता है कि भामह एवं दण्डी के समय तक रसाभास-भावाभास की स्वतन्त्र रूप में कल्पना न हुई हो। इस सन्दर्भ में यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि परवर्ती रसवादी आचार्य शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल ने अङ्गीरस की अप्रधानता होने पर रसाभास होने का मत प्रकट किया है।[१०] रसवादियों का यह मत भामह एवं

---

९. संस्कृत-हिन्दी कोश-वामन आप्टे।

१०. (क) भावप्रकाशन, ६/२९, पृ० १३२-१३३ (ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, सन् १९३०)

(ख) अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्।। – रसार्णवसुधाकर, पृ० २०२

दण्डी के 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार विषय इस साङ्केतित विचारधारा से प्रभावित प्रतीत होता है, जिसके अनुसार "ऊर्जस्वि अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ कोई व्यभिचारिभाव ही प्रधान रूप से उपस्थित होकर स्थायिभाव को हतप्रभव कर दे।" 'ऊर्जस्वि' के द्वितीय स्वरूप की कल्पना निस्सन्देह रसाभास भावाभास को अलङ्कारों में अन्तर्भुक्त करने के उद्देश्य से हुई है।

इस सम्पूर्ण विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल रूप में यद्यपि 'ऊर्जस्वि' का रसाभास से सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, परन्तु परवर्ती रसवादी आचार्यों ने अङ्गीरस की अप्रधानता को भी रसाभास स्वीकार कर 'ऊर्जस्वि' के साथ रसाभास का सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

इस प्रकार रसाभास एवं ऊर्जस्वी के सम्बन्ध में यह एक रोचक तथ्य है कि 'ऊर्जस्वि' के मूल रूप (रुढाहङ्कार या व्यभिचारिभाव का प्रधान रूप से प्रकट होकर स्थायी को हतप्रभ कर देना) की प्रेरणा से जहाँ रसवादी शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल के रसाभास के लक्षण (अङ्गीरस से अङ्गरस की प्रधानता रूप) का जन्म हुआ तो दूसरी ओर रसाभास-भावाभास (अनुचित रूप से प्रवर्तित रस-भाव) को अलङ्कारों में अन्तर्भुक्त करने के प्रयास के परिणाम स्वरूप अलङ्कारवादी उद्भट आदि द्वारा मान्य 'ऊर्जस्वि' विषयक द्वितीय स्वरूप का उदय हुआ।[११]

यहाँ यह बात ध्यान देने क़ी है कि रस-ध्वनिवादी आनन्दवर्धन आदि ने भी 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार के अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु अलङ्कारवादियों से इनकी मतभिन्नता इस बात में है कि अलङ्कारवादी अङ्गीभूत रसाभास-भावाभास को 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार का नाम देते हैं, जब कि रसवादी आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार वहाँ माना है, जहाँ रसाभास-भावाभास अङ्गरूप में वर्णित हों। आनन्दवर्धन एवं विश्वनाथ ने स्पष्ट लिखा है कि 'रसादि - रस, भाव, रसाभास-भावाभास एवं भावशान्ति - जहाँ अङ्गरूप में वर्णित हों वहीं क्रमशः रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कार होते हैं।[१२] परन्तु यदि

---

११. (क) काव्यालङ्कार सारसंग्रह, ४/५

(ख) अलङ्कारसर्वस्व, सू० ८३

१२. (क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।। – ध्वन्या०, २/५

(ख) रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।। – सा० द०, १०/९५-९६
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्।

वे प्रधानतया बोधित हों तो उन्हें अलङ्कार नहीं माना जा सकता।[१३] मम्मट ने अङ्गभूत रसाभास-भावाभास को गुणीभूत व्यङ्ग्य के एक भेद अपराङ्ग के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[१४]

इस सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार वहाँ होता है –

१. (क) जहाँ किसी उक्ति में अहङ्कार स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ हो
   (ख) अथवा जहाँ गर्वरूप व्यभिचारिभाव प्रधानरूप से प्रकट होकर स्थायिभाव को हतप्रभ कर दे।

२. जहाँ अनुचित रूप से प्रवृत्त रस, भाव (रसाभास, भावाभास) का उपनिबन्धन हो।

३. जहाँ रसाभास, भावाभास अङ्गरूप में वर्णित हों।

'ऊर्जस्वि' के उपर्युक्त तीन रूपों में से प्रथम रूप को रसवादियों द्वारा स्वीकृत 'भाव' के अन्तर्गत माना जा सकता है। क्योंकि जिस काव्य में व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से व्यंजित हो उसे रसवादी आचार्य मम्मट आदि ने 'भाव' की संज्ञा से अभिहित किया है।[१५] जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है। भामह एवं दण्डी के उपर्युक्त उदाहरणों में वीर रस का व्यभिचारिभाव 'गर्व' प्रधान रूप से व्यंजित हुआ है और स्थायिभाव 'उत्साह' उस गर्व रूप व्यभिचारिभाव से दब गया है।

२. अलङ्कारवादी आचार्य उद्भट, रुय्यक आदि द्वारा स्वीकृत 'ऊर्जस्वि' तो रसवादियों द्वारा मान्य रसाभास-भावाभास का ही अपर नाम है। इन आचार्यों द्वारा 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार के प्रसङ्ग में उद्धृत उदाहरणों से यह बात सर्वथा पुष्ट होती है।[१६]

३. रसवादियों द्वारा स्वीकृत 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार में यद्यपि रसाभास भावाभास की स्थिति अङ्गरूप में मानी गई है तथापि रसाभास भावाभास की स्थिति या अनुभूति उसमें भी रहती ही है। अत: रसवादियों द्वारा स्वीकृत 'ऊर्जस्वि' (अङ्गरूप में वर्णित

---

१३. यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्। – ध्वन्या०, २/५ के अन्तर्गत।

१४. (क) का० प्र०, ५/४५
    (ख) द्रष्टव्य - वही, "बन्दीकृत्य नृपद्विषाम्........" इत्यादि - ११९ (उदाहरण)।

१५. (क) .... व्यभिचारी तथाञ्जित:। भाव:प्रोक्त:। - का० प्र०, ४/३५-३६
    (ख) संचारिण: प्रधानानि.... भाव इत्यभिधीयते।। – सा० द०, ३/२६०-६१

१६. (क) का० सा० सं०, ४/सूत्र ५ के अन्तर्गत।
    (ख) अ० स० सूत्र ८३ के अन्तर्गत।

रसाभास – भावाभास) अलङ्कार से भी रसाभास का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आचार्य मम्मट ने इस 'ऊर्जस्वि' को गुणीभूत व्यंग्य के एक भेद अपराङ्ग-व्यङ्ग्य के अन्दर परिगणित किया है। मम्मट के इस अपराङ्ग-व्यङ्ग्य का उदाहरण प्रस्तुत है :

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतः प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतै र्दृशो र्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिःस्तूयसे॥[१७]

– कवि कहता है कि हे राजन् ! आपके सैनिक शत्रुओं की स्त्रियों को बन्दी बना कर (उनके) पतियों के सामने उन्हें (बलात्) आलिङ्गन करते हैं, (स्त्रियों के नाराज होने पर) प्रणाम करते हैं, उन्हें चारों ओर से पकड़ लेते हैं और चुम्बन करते हैं। और आपके शत्रु इस प्रकार आपकी स्तुति करते हैं कि हे उचित कार्य करने वाले राजन् ! हमारे पुण्यों से हमें आपके दर्शन हुए हैं (अतः आपके दर्शन से) हमारी सारी विपत्तियाँ मिट गई हैं।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में राजा के सैनिकों का शत्रुओं के अननुरक्त स्त्रियों के प्रति जो रति प्रदर्शन है, वह अनौचित्यपूर्ण होने के कारणशृङ्गार रसाभास का विषय है। और श्लोके के उत्तरार्द्ध में शत्रु लोग प्रकृत राजा की स्तुति करते हुए वर्णित किए गये हैं, अतः शत्रुओं के द्वारा की जाने वाली स्तुति भी अनौचित्य पूर्ण होने से भावाभास है।

परन्तु इस पद्य में रसाभास तथा भावाभास दोनों ही अप्रधान रूप से वर्णित हैं। प्रधान रूप से यहाँ कवि की राजविषयक रति ही प्रकट हुई है।[१८] इस प्रकार यहाँ रसाभास-भावाभास के कविनिष्ठ रति भाव के अङ्ग होने से मम्मट के अनुसार अपराङ्ग व्यंग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य है। अप्पय दीक्षित ने निम्न पद्य में रसाभास का भाव के अङ्ग हो जाने के कारण 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार माना है :

त्वत्प्रत्यर्थिवसुन्धरेशतरुणीः सन्त्रासतः सत्वरं
यान्ती र्वीर ! विलुण्ठितुं सरभसं याताः किराता वने।
तिष्ठन्ति स्तिमिताः प्ररूढपुलकास्ते विस्मृतोपक्रमा-
स्तासामुत्तरलैः स्तनैरतितरां लोलैरपाङ्गैरपि॥[१९]

---

१७. का० प्र०, ५/११९

१८. अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ। – का० प्र०, ५/११९ वृत्ति।

१९. कु० आ०, १७१ के अन्तर्गत।

कवि कह रहा है - हे वीर राजन् ! तुम्हारे डर से तेजी से वन में भागती हुईं तुम्हारे शत्रु राजाओं की रमणियों को लूटने के लिए किरात लोगों ने तेजी से उनका पीछा किया। जब वे उनके पास पहुँचे तो उनके अत्यधिक चंचल स्तनों और लोल अपाङ्गों से स्तब्ध और रोमांचित होकर वे किरात अपने वास्तविक कार्य (लूटमार करने) को भूल गए।

यहाँ कवि का अभीष्ट आश्रयदाता राजा की वीरता का प्रशंसा करना है। अतः कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव अङ्गी है। शत्रुनृपतरुणियों के सौन्दर्य को देखकर किरातों का मुग्ध हो जाना अनुचित है, अतः शृङ्गार रसाभास भी है। यह शृङ्गाराभास राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है, अतः 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार है।[२०]

आचार्य आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुसार उपर्युक्त दोनों श्लोकों को 'ऊर्जस्वि' का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि आनन्दवर्धन ने अङ्ग या अप्रधानरूप में वर्णित रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावशान्ति को क्रमशः रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि एवं समाहित अलङ्कार माना है।[२१]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य भामह एवं दण्डी ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार का जो स्वरूप स्वीकृत किया है, वही उसका मूल रूप है। उस में किसी प्रकार के अनौचित्य का स्पर्श न रहने से उसका रसाभास से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। तथापि परवर्ती अलङ्कारवादियों ने रसवादियों द्वारा स्वीकृत रसाभास-भावाभास को अलङ्कारों में परिगणित करने के अभिप्राय से रसाभास-भावाभास के मूल कारण अनौचित्य के आधार पर ही 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार की स्थापना की है, जो उसके मूल रूप से भिन्न है। इधर रसध्वनिवादी आनन्दवर्धन आदि ने अङ्गी या प्रधानरूप से वर्णित रसाभास-भावाभास को ध्वनि की कोटि में रखकर 'ऊर्जस्वि' का अस्तित्व वहाँ स्वीकार किया जहाँ रसाभास-भावाभास अङ्ग रूप में वर्णित हों। इस प्रकार अनौचित्य से प्रवृत्त रस एवं भाव को रसवादी आचार्यों ने क्रमशः रसाभास, भावाभास की संज्ञा प्रदान की और अलङ्कारवादियों ने उन्हें ही 'ऊर्जस्वि' नाम देकर अलङ्कारों में परिगणित करने की चेष्टा की है।

(ख) रसाभास एवं समासोक्ति आदि अलङ्कार :

जिन अलङ्कारों के वर्णन से रस-प्रतीति में बाधा या शिथिलता उत्पन्न हो वे

---

२०. अत्र प्रभुविषयरतिभावस्य शृङ्गाररसाभासोऽङ्गम्।। - कु० आ० १७१ वृत्ति।

२१. ध्व० आ०, २/५

अलङ्कार रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर ही आचार्य हेमचन्द्र ने समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों को रसाभास-भावाभास का जीवित मानां है –

रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम्।[२२]

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि इस वाक्य में हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'जीवित' शब्द का तात्पर्य यह नहीं लेना चाहिए कि जहाँ ये अलङ्कार होंगे वहाँ रसाभास-भावाभास होगा ही और जहाँ इन अलङ्कारों का प्रयोग नहीं होगा वहाँ रसाभास-भावाभास भी नहीं होगा। ये अलङ्कार रसाभास के अनिवार्य तत्त्व नहीं हैं अपितु इस शब्द का अभिप्राय इतना ही है कि ये अलङ्कार रसाभास-भावाभास को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इन अलङ्कारों से रसाभास की सम्भावना इसलिए रहती है कि इन में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है। उदाहरणतया समासोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाय।[२३] प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप करने से जहाँ एक ओर समासोक्ति अलङ्कार की सिद्धि होती है, दूसरी और निरिन्द्रिय लता-वृक्ष पवन आदि में रति आदि मानवीय भावों का आरोप रहने से रसाभास-भावाभास की भी सिद्धि होती है।[२४]

आचार्य रुय्यक ने समासोक्ति का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है –

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥[२५]

– राग भरे चन्द्र ने निशा का चंचल ताराओं वाला मुख इस प्रकार पकड़ा कि उस (निशा) ने राग के कारण सामने ही सारे के सारे खिसके अन्धकार रूपी वस्त्र को भी नहीं देखा।

---

२२. का० अनु०, २/५४

२३. समासोक्ति के लक्षण के लिए देखिए -

(क) अ० स०, सूत्र ३२ के अन्तर्गत।

(ख) का० प्र०, १०/९७

२४. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। - का० अनु०, २/५४

२५. अ० स०, सू० ३२ के अन्तर्गत।

इस पद्य में निशा और शशी के विशेषण श्लिष्ट हैं। उनके सामर्थ्य से यहाँ प्रस्तुत निशा और शशी के व्यवहार से नायिका तथा नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है। अतः इससे समासोक्ति अलङ्कार की सिद्धि तो हो ही जाती है, साथ ही यहाँ निरिन्द्रिय निशा-शशी में रति-भाव का आरोप होने से रसाभास भी उपस्थित हो जाता है।

साहित्यदर्पणकार द्वारा प्रस्तुत समासोक्ति का उदाहरण देखिए –

व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनायाः
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रशभमङ्गमशेषमस्याः
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाहः॥[२६]

– हे मलयानिल ! इस कमलनयनी के सुवर्ण कलश तुल्य कुचों के वस्त्र को झिटक कर हठपूर्वक जो तुम इसका सर्वाङ्गीण आलिङ्गन करते हो, अतः तुम धन्य हो।

प्रस्तुत श्लोक में हठ कामुक और वायु का कार्य समान ही दिखाया गया है। अतः प्रस्तुत वायु में अप्रस्तुत हठ कामुक के व्यवहार का आरोप होने से यह समासोक्ति का भी उदाहरण है और निरिन्द्रिय वायु में रति-भाव के प्रदर्शन से रसाभास का भी उदाहरण है।

उपमा आदि अलङ्कार एवं रसाभास :

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा एवं अर्थान्तरन्यास ये चारों अलङ्कार सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। इन अलङ्कारों में दो पदार्थों के मध्य सादृश्य प्रदर्शित रहता है। और यह सादृश्य अधिकतर जड़ एवं चेतन तत्त्वों के मध्य प्रदर्शित किया जाता है। अतः ये अलङ्कार भी रसाभास के सहायक हो सकते हैं। क्रमशः इन अलङ्कारों पर रसाभास की दृष्टि से विचार करेंगे।

आचार्य मम्मट द्वारा प्रदत्त उपमा का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्री र्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा॥[२७]

– स्वाधीनपतिका नायिका के समान विजय लक्ष्मी प्रभाव के कारणभूत

---

२६. सा० द०, १०/५७

२७. का० प्र०, १०/३९३

आपको स्वप्न में भी युद्ध में नहीं छोड़ती है। यहाँ विजयश्री एवं स्वाधीनपतिका में सादृश्य प्रदर्शित किया गया है। अतः उपमा अलङ्कार भी है और इस सादृश्य-प्रदर्शन में विजयश्री में मानवीय भावों का कथन होने से रसाभास भी है।

इसके अतिरिक्त उपमा अलङ्कार में उपमेय का सदृश्य कभी बहुत ही उत्कृष्ट उपमान के साथ दिखाया जाता है, कभी उपमेय से अत्यधिक निकृष्ट उपमान से। ये दोनों स्थितियाँ रसाभास की उत्पत्ति में सहायक हो सकती हैं। क्योंकि ऐसे सादृश्य सहृदय को खटकते हैं। उपमा के इन दोनों रूपों को भामह ने क्रमशः अधिक विपर्यय एवं हीन विपर्यय की संज्ञा देकर उपमा दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[२८] वामन ने इन दोषों को क्रमशः अधिकत्व एवं हीनत्व कहा है।[२९]

भामह प्रदत्त अधिक विपर्यय का उदाहरण –

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।
युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः॥[३०]

– पद्मासन पर आसीन यह चक्रवाक युग के प्रारम्भ में सृष्टि करना चाहते हुए भगवान् ब्रह्मा के समान शोभित हो रहा है। इस श्लोक में कवि ने चक्रवाक जैसे नागण्य पक्षी (उपमेय) की समानता ब्रह्मा जैसे सर्वशक्तिमान् देवता (उपमान) से कर दी है। ऐसे प्रसङ्ग पाठक पर अनुकूल प्रभाव नहीं डालते।

यहाँ वामन द्वारा उपमान के परिणामगत अधिकत्व दोष का उदाहरण भी द्रष्टव्य है :–

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसंनिभः॥[३१]

– कोई नायक किसी तरुणी से कह रहा है कि तुम्हारी नाभि पाताल के

---

२८. का० अ०, २/३९-४०, ५२

२९. का० अ० सू०, ४/२ सू० ८ – आचार्य मम्मट ने भामह सम्मत उपमा के विपर्यय दोष एवं वामन के अधिकत्व एवं न्यूनत्व दोषों का अन्तर्भाव अनुचितार्थत्व दोष में किया है – उपमायामुपमानस्य जाति-प्रमाणगतन्यूनत्वमधिकता वा तादृशोऽनुचितार्थत्वं दोषः। – का० प्र०, १०/सू० १४२ के अन्तर्गत।

३०. (क) का० अ०, २/५५
(ख) का० प्र०, १०/५८७

३१. का० अ० सू०, ४/२ सूत्र ११ के अन्तर्गत।

सामन (गहरी) है, स्तन पर्वतों के समान (ऊँचे) हैं और यह वेणीदण्ड (केश-पाश) यमुना नदी के प्रवाह के समान (काला) है।

इस प्रकार के वर्णन से पाठक के मन में नायिका की सुन्दरता का कोई चित्र उपस्थित नहीं होता। अतः इस प्रकार के वर्णनों को रसविरुद्ध ही समझना चाहिए।

श्लेष अलङ्कार से रसाभास की सिद्धि :-

श्लेष अलङ्कार में श्लिष्ट वर्ण, पद आदि से अनेक अर्थों का अभिधान किया जाता है।[३२] इस अलङ्कार का हृदय की अपेक्षा बुद्धि पर अधिक प्रभाव पड़ता है, जिससे पाठक के साधारणीकरण-व्यापार में विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः इस दृष्टि से यह अलङ्कार भी रसाभास की उत्पत्ति में सहायक बन सकता है। उदाहरणार्थ मम्मट द्वारा पदश्लेष के उदाहरण के रूप में उद्धृत पद्य प्रस्तुत है –

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देवः।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥[३३]

– हे राजन् ! इस समय हम दोनों का घर १. 'पृथुकार्त्तस्वरपात्र' (क. बच्चों के रोने का स्थान तथा ख. बड़े-बड़े सोने के पात्र से युक्त), २. 'भूषितनिः शेषपरिजन' (क. पृथ्वी पर लोटते हुए परिजनों वाला तथा, ख. अलङ्कृत परिजनों वाला) और ३. 'विलसत्करेणुगहना' (क. चूहों की मिट्टी से भरा हुआ तथा ख. झूमती हुई हथिनियों से भरा हुआ) होने से एक समान हो रहा है।

यह किसी याचक की राजा के सामने उक्ति है। उसने अपने तथा राजा के घर की एक अवस्था दिखाने के लिए उपर्युक्त तीन श्लिष्ट पदों का उच्चारण किया है। इस प्रकार के श्लिष्ट पदों से एक से अधिक अर्थों को समझने के लिए पाठक को बुद्धि का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है जो कि रस-चर्वणा के समय में पाठक के लिए अवांछित भार-सा बन जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समासोक्ति आदि अलङ्कार रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अन्य अलङ्कारों के उदाहरण भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त समासोक्ति आदि अलङ्कार रसाभास को उत्पन्न करने में तभी सहायक होंगे, जब उन अलङ्कारों के वर्णन से सहृदय के रसास्वाद के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो। अन्यथा

---

३२. का० प्र०, १०/८४

३३. वही, १० म उल्लास।

काव्य में सुकवि द्वारा किया गया इन अलङ्कारों का रसानुकूल संयोजन काव्याभ्यासी सहृदय को रुचिकर ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त हेमचन्द्र की स्थापना से केवल इतना ही तात्पर्य ग्रहण करना उचित है कि अलङ्कारों के सन्निवेश से सर्वदा रस का उत्कर्ष ही नहीं होता, बल्कि किन्हीं परिस्थितियों में - विशेषतः अलङ्कारों के प्रयोग से जब अत्यधिक अस्वाभाविकता एवं अयथार्थता व्यक्त होने लगे तो - वह रस-प्रतीति में विघ्न बनकर रसाभास की उत्पत्ति में भी सहायक सिद्ध हो सकता है।[३४] किसी रचना में कवि का अलङ्कारों के प्रति आग्रह उस सीमा तक ही उचित है, जहाँ तक वह वर्ण्य-विषय के रस-प्रवाह में बाधक सिद्ध न हो। शब्दार्थ-शरीर काव्य में ये उपमादि अलङ्कार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षक बन कर हार रूप में आएँ, भाररूप में नहीं। इस बात का ध्यान कवि को सर्वदा रखना चाहिए।

२. रसाभास और औचित्य :

रसाभास का मूल आधार अनौचित्य है। अतः प्रत्यक्ष रूप से औचित्य के साथ रसाभास का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी यहाँ रसाभास के सन्दर्भ में औचित्य पर जो प्रकाश डाला जा रहा है, उसका अर्थ यह है कि भरतादि आचार्यों ने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में विभिन्न काव्य तत्त्वों पर औचित्य की जो चर्चा की है, काव्य में उसका थोड़ा भी उल्लङ्घन रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। साथ ही इन आचार्यों ने औचित्य पर जो धारणा व्यक्त की है, उससे यह भी प्रतीत होता है कि रसाभास की परिकल्पना में इससे अप्रत्यक्ष प्रेरणा अवश्य मिली होगी। उदाहरणतया आनन्दवर्धन,[३५] अभिनवगुप्त आदि ने रस-भाव की परिपुष्टि के लिए विभावादि के औचित्य पर बल दिया है। इधर रसाभास की विवेचना में भी विभाव आदि के अनौचित्य को आधार बनाया

---

३४. हेमचन्द्र की इस स्थापना की पुष्टि का सङ्केत मम्मट प्रदत्त अलङ्कार की सामान्य परिभाषा से भी होता है –
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। – का० प्र०, ८/६७। कारिका में आए 'जातुचित्' का अर्थ है - कदाचित् उपकुर्वन्ति कदाचित् न उपकुर्वन्ति। तात्पर्य यह है कि अलङ्कार सदा ही रस के उपकारक बनते हों ऐसी बात नहीं है। अलङ्कार से रस का उपकाराभाव अथवा अनुपकार भी सम्भव है।

३५. (क) विभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः – ध्व० आ०, ३/१०
(ख) विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता। – ध्व० आ० लो०, पृ० ३६७

गया है।[३६] शम स्थायिभाव के वर्णन के लिए मुनि, तपस्वी आदि उचित विभाव हैं, पर वही शम स्थायी चाण्डाल आदि में दिखाने पर अनौचित्यावह होने से शान्तरसाभास का कारण सिद्ध होता है।[३७]

इस स्थल पर क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों की औचित्य विषयक धारणा का संक्षेप में उल्लेख करते हुए क्षेमेन्द्र के औचित्य विषयक मन्तव्य को प्रस्तुत किया जाएगा। साथ ही क्षेमेन्द्र ने औचित्याभाव (अनौचित्य) दिखाने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनमें से कतिपय का रसाभास की दृष्टि से अध्ययन किया जाएगा।

आचार्य भरत :

औचित्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा को स्थापित करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र माने जाते हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य पर चर्चा ही नहीं हुई। वस्तुतः साहित्य में आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र पर्यन्त सभी आचार्यों ने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में औचित्य तत्त्व की महिमा को स्वीकार किया है। साहित्य विद्या के उपजीव्य ग्रन्थ भरत के 'नाट्यशास्त्र' में 'उचित' या 'औचित्य' शब्द का प्रयोग भले ही न हुआ हो, पर उसके पर्यायवाची 'अनुरूप' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग अवश्य हुआ है। यहाँ भरत के निम्न पद्य का उल्लेख करना स्थलोचित होगा।

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशः
वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥[३८]

स्पष्ट है कि यहाँ मुनि भरत ने जो विधि निर्देश किए हैं वे औचित्य पालन का निर्देश ही है। नाट्य में औचित्य निर्वाह के लिए आवश्यक है कि आयु के अनुरूप पात्रों की वेशभूषा हो और वेशभूषा के अनुरूप चाल-ढाल, चाल-ढाल के अनुरूप बोलचाल हो और बालचाल के अनुरूप अभिनय। भरत के इस कथन में औचित्य का बीज स्पष्ट मिल जाता है। इसके अतिरिक्त भरत के नाट्यशास्त्र

---

३६. स० द०, ३/२६२-२६६

३७. वही, ३/२६४ १/२

३८. ना० शा०, १४/६८

में स्थान-स्थान पर रसोपयोगी नाट्यसामग्री के संचयन में जो लोक को प्रमाण माना गया है, वह भी प्रकारान्तर से औचित्य-निर्वाह का निर्देश ही है –

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते॥[३९]

भाव यह है कि नाट्य लोकानुसरण एवं लोकस्वाभावज है, अतः नाट्य-प्रयोगों में लोक ही प्रमाण होता है। यहाँ लोक को नाट्य का प्रमाण कहने का तात्पर्य यही है कि वह औचित्यपूर्ण हो। क्योंकि औचित्य का निर्धारण लोक से ही होता है। लोक में कोई वस्तु उत्कर्ष को तभी प्राप्त होती है जब वह औचित्य युक्त हो। यहाँ तक कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए जो **'सदृशं किल यस्य यत्'**[४०] - जो जिसके सदृश हो - कहा है, उसी पदावली का प्रयोग भरत के भूमिका के प्रसङ्ग में उपलब्ध होता है।[४१] इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में जो सहस्त्रशः विधान के उल्लेख उपलब्ध होते हैं,[४२] वे सब प्रकारान्तर से औचित्य की महत्ता को ही प्रकट करते हैं।

इस प्रकार भरतमुनि ने रस-परिपाक को दृष्टि में रख कर नाट्य में विभिन्न तत्त्वों की पारस्परिक अनुरूपता पर अत्यधिक बल दिया है। सम्भव है भरत द्वारा अभिनय के प्रसङ्ग में निरूपित विभिन्न तत्त्वों की पारस्परिक अनुरूपता ही आगे चलकर क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई हो।

---

३९. ना० शा०, २६/११३ (चौ० सं० संस्थान, वि० सं० २०३७) अन्य द्रष्टव्य –
(क) नाना शीलाः प्रकृतयःशीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकंप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।। - वही, २६/११९
(ख) लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम्।। - वही, २६/११२

४०. औ० वि० च०, ७

४१. (क) विन्यासं भूमिकानां तु संप्रवक्ष्यामि नाटके।
यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः।। - न० शा०, ३५/१
(ख) या यस्य सदृशी चेष्टा ह्युत्तमाधममध्यमा।
सा तथाऽऽचार्ययोगेन नियम्या भावभाविनि।। – वही, ३५

४२. वही, १७/२३, २५/५१

भामह :

भरत के बाद ऐतिहासिक क्रम से भामह का काल माना जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र का विषय नाट्य है। नाट्य का लक्ष्य है सहृदय को रसानुभूति कराना। अतः भरत के यहाँ रस की दृष्टि से औचित्य का 'अनुरूपता' के नाम से उल्लेख मिलता है। परन्तु भामह अलङ्कारवादी आचार्य हैं। अलङ्कारवादियों की दृष्टि में 'चारुता संपादन' ही साध्य है।[४३] अतः 'चारुता संपादन' के लिए क्या उचित है, क्या अनुचित इस बात का विचार भामह ने यथा-प्रसङ्ग किया है। इनके काव्यालङ्कार में औचित्य के लिए 'युक्तता'[४४] और न्याय्य[४५] शब्द का प्रयोग हुआ है। काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद में भाषागत दोषों[४६] की चर्चा करने के बाद दोष-परिहार[४७] का जो निर्देश किया गया है, वह अप्रत्यक्ष रूप से अनौचित्य-परित्याग एवं औचित्य-पालन का परामर्श ही है। भामह का यह भी कथन है कि विशेष सन्निवेश (संयोजन) से दोष युक्त उक्ति भी उसी प्रकार सुन्दर बन जाती है, जिस प्रकार फूलों की माला के बीच में रखा हुआ नीला (हरा) पलाश –

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥[४८]

यहाँ 'सन्निवेशविशेष' से तात्पर्य औचित्यपूर्ण विधान से ही है। इसी प्रकार भामह के अनुसार कोई असाधु वस्तु भी किञ्चित् आश्रय-सौन्दर्य से उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हो जाती है, जिस प्रकार रमणी के नयनों में लगा काला काजल –

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥[४९]

इस प्रकार भामह ने औचित्य के महत्त्व को अप्रत्यक्ष्य स्वीकृति प्रदान की है।

---

४३. (क) न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः॥ – का० अ०, १/३६

(ख) काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः॥ - का० अ० सू० १/१-२

४४. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। - का० अ०, १/२१

४५. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। - वही, १/३५

४६. वही, १/४७-५३

४७. वही, १/५४-५९; ४/१४

४८. वही, १/५४

४९. वही, १/५५

दण्डी :

दण्डी ने देश, काल, लोक आदि विरुद्धत्व दोषों[४९-ए] के परिहार के विवेचन द्वारा औचित्यपर अप्रत्यक्ष्य प्रकाश डाला है। अनौचित्य का ही अपर नाम दोष है। अनौचित्य के परिहार से ही (औचित्य आने पर) दोष गुणरूपता को प्राप्त हो सकते हैं। भामह ने सन्निवेश विशेष एवं आश्रय-सौन्दर्य आदि के द्वारा दोष (अनौचित्य) के निवारण की बात कही थी। इसी तथ्य को दण्डी ने 'कवि कौशल' शब्द से प्रकट किया है। इनका विचार है कि जो बात देश, काल कला आदि के विरुद्ध होने से दोषरूप हो, वह भी कवि कौशल या प्रतिभा का स्पर्श पाकर गुण में परिणत हो जाती है –

विरोधः सकलोऽप्येषः कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते।।[५०]

इसके अतिरिक्त काव्यादर्श के ही अन्तिम परिच्छेद की समाप्ति में दण्डी ने लिखा है कि विधि-दर्शित मार्ग से दोष-गुण के रूप को जानकर वाणी का प्रयोग करने वाला विद्वान् आनन्द एवं कीर्ति को प्राप्त करता है।[५१] यहाँ विधि दर्शित मार्ग का अभिप्राय समुचित मार्ग से ही है। इस प्रकार इन साङ्केतिक तथ्यों से स्पष्ट है कि दण्डी ने भी अप्रत्यक्ष्य रूप से औचित्य की चर्चा कर दी है।

उद्भट :

दण्डी के बाद उद्भट ने 'ऊर्जस्वि' अलङ्कार के प्रसङ्ग में अनौचित्य का स्पष्ट कथन किया है।[५२] वह भी औचित्य का निषेधमुखी पक्ष से किया गया विचार ही है।

रुद्रट :

आचार्य भरत के बाद और आनन्दवर्धन से पूर्व औचित्य पर प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष रूप से जितने विचार उपलब्ध होते हैं, उन में आचार्य रुद्रट का विचार सबसे महत्त्वपूर्ण है। रुद्रट की इस दिशा में महत्त्व इसलिए भी है कि स्वयं अलङ्कारवादी होते हुए भी इन्होंने रसौचित्य पर भी प्रकाश डाला है। भामह एवं दण्डी की भांति

४९ए. का० आ० ३/१८०-१८५
५०. वही, ३/१७९
५१. वही, ३/१८७
५२. का० सा० सं०, ४/५

दोष-परिहार[५३] की चर्चा करने के साथ ही साथ इन्होंने रसौचित्य,[५४] अलङ्कारौचित्य,[५५] वृत्त्यौचित्य,[५६] रीत्यौचित्य[५७] पर भी विचार किया है।

आनन्दवर्धन :

औचित्य को एक व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का सबसे पहला श्रेय आनन्दवर्धन को है। ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी इन्होंने काव्य की मुख्य आत्मा रस को ही माना है।[५८] समूचे ध्वन्यालोक में जहाँ कहीं भी किसी काव्य-तत्त्व की चर्चा का प्रसङ्ग आया है, वहाँ इन्होंने रस की दृष्टि से औचित्य-निर्वाह का बराबर निर्देश दिया है। रसौचित्य के सम्बन्ध में इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग (या रसदोष) का अन्य कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है" –

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।[५९]

इसी प्रकार प्रबन्धौचित्य[६०] के प्रसङ्ग में प्रत्यक्षरूप से तथा रसविरोध एवं उनके विरोध-परिहार की दिशानिर्देश[६१] के प्रसङ्ग में अप्रत्यक्ष रूप से रसौचित्य पर

---

५३. का० अ० (रुद्रट कृत), ६/८; ६/२३-२४; ६/२९-३०; ६/३८; ६/४७

५४. वही, १४/३८; १५/२१

५५. वही, ३/५९; ४/३५

५६. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः।। - वही, २/३२

५७. वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम्।। - वही, १५/२०

५८. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्दवियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।। – ध्वन्या०, १/५
–....... शोको हि करुणरसस्थायिभावः प्रतीयमानस्य चान्यभेदर्शनेऽपि
रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।। - वही, १/५ (वृत्तिभाग)।

५९. वही, ३/१४ वृत्ति।

६०. वही, ३/१०-१४

६१. वही, ३/१७-२७

पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। रसौचित्य के साथ ही ध्वनिकार ने गुण,[६२] अलङ्कार[६३] संघटना[६४] (रीति) जैसे प्रमुख काव्य तत्त्वों में औचित्य की महत्ता पर भी विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है।

अभिनव गुप्त :

औचित्य सिद्धान्त के स्पष्टीकरण में ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त का विशेष योगदान है। औचित्य सिद्धान्त से सम्बद्ध ध्वन्यालोक की कारिकाओं पर जो विशद टीका इन्होंने लिखी है, उससे इनकी औचित्यविषयक धारणा का पता लग जाता है। उनका स्पष्ट कथन है कि

'विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता कवेरिति।
तस्माद् विभावाद्यौचित्यमेव रसवत्ता प्रयोजकं नान्यदिति भावः॥[६५]

विभावादि के औचित्य के विना रसवत्ता कैसे? विभावादि का औचित्य ही रसवत्ता का प्रयोजक है, कोई अन्य नहीं। उनका यह कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि 'औचित्यपूर्ण होने पर जो स्थायी एवं व्यभिचारी क्रमशः रस एवं भाव कहलाते हैं, वे ही अनौचित्यपूर्ण होने पर क्रमशः रसाभास एवं भावाभास संज्ञा से अभिहित होते हैं –

– अनौचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसः
व्यभिचारिण्या भावः। अनौचित्येन तदाभासः॥[६६]

कुन्तक :

आचार्य कुन्तक यद्यपि वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं, लेकिन औचित्य का महत्त्व इन्हें भी स्वीकार्य है। वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष में ही कुन्तक ने जो छः प्रकार की वक्रताओं का उल्लेख[६७] किया है, वह प्रकारान्तर से औचित्य का ही कथन है। इनके यहाँ वक्रता औचित्य का ही अपर नाम है। स्वयं कुन्तक

---

६२. ध्वन्या०, २/७-१०
६३. वही, २/१४-१९
६४. वही, ३/६-८; पृ० १७९-१८६ (आचार्यविश्वेश्वर कृत टीका)।
६५. ध्व० आ० लो०, पृ० १४७ (चौ० वि० काशी)।
६६. वही, पृ० ७८-७९ (चौ० वि० काशी)।
६७. व० जी०, १/१८-२१

ने पदवक्रता को औचित्य (पदौचित्य) कह कर इस तथ्य को स्वीकार किया है – **'तत्र पदस्य तावत् औचित्यं बहुविधमेतदभिन्ने वक्रभावः'**[६८] यहाँ तक कि क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य की परिभाषा देने वालों में एक मात्र कुन्तक हैं। इनके विचार में वस्तु के स्वाभाविक उत्कर्ष का नाम ही औचित्य है –

– **औचित्यं वस्तुनः स्वभावोत्कर्षः।**[६९] औचित्य की यह इतनी व्यापक परिभाषा है कि इसके अनुसार काव्य के सभी अंग औचित्य की सीमा के भीतर आ जाते हैं।

महिमभट्ट :

रसवादी आचार्य महिमभट्ट ने भी औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में औचित्य का विधेयात्मक और निषेधात्मक (अनौचित्य के रास्ते) दोनों रूपों पर विचार व्यक्त किया है। औचित्य के विधेयात्मक पक्ष पर विचार करते हुए इन्होंने इसे (औचित्य को) काव्य के स्वरूपाधायक तत्त्व स्वीकार किया है, जिसके बिना काव्य व्यवहार ही असंभव है।[७०] निषेधात्मक रूप में औचित्य (अनौचित्य) का सामान्य लक्षण यह है कि वह विवक्षित रसादि की प्रतीति में व्याघात उत्पन्न करने वाला है।[७१] द्वितीय विमर्श के आरम्भ में ही अनौचित्य के दो भेद (अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग)[७२] करके महिमभट्ट ने विस्तार से चर्चा की है। काव्य में रस-भाव की प्रधानता को ध्यान में रखकर ही इन्होंने अर्थानौचित्य को मुख्य दोष और शब्दानौचित्य को गौण दोष कहा है। उनकी दृष्टि में काव्य की रसात्मकता में औचित्य का कितना महत्त्व है, उनके इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है "रसात्मक काव्य में अनौचित्य का संस्पर्श संभव नहीं होता।"[७३]

---

६८. वही, १

६९. वही, २

७०. तस्य (औचित्यस्य) काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादान-वैयर्थ्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एव हि काव्यव्यापारो नापरः। ते च यथाशास्त्रमुपनिबध्यमाना रसाभिव्यक्ते र्निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। – व्य० वि०, प्रथम विमर्श, पृ० १४२ (चौ० सं० सी०, वा०)

७१. 'एतस्य (अनौचित्यस्य) च विवक्षित रसादि प्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्य-लक्षणम्।' - वही, २य विमर्श, पृ० १८२

७२. वही, २य विमर्श, पृ० १७९ - समूचे द्वितीय विमर्श में अनौचित्य के इन्हीं दो भेदों का भेदोपभेद सहित विस्तृत परिचर्चा है।

७३. 'रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्यसंस्पर्शः सम्भाव्यते।' – वही, १म विमर्श, पृ० १४२

भोजराज :

महिमभट्ट के बाद भोजराज ने भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में औचित्य का उल्लेख अनेक रूपों में किया है। भोजराज के अनुसार रुद्रट से भी पहले यशोवर्मा ने औचित्य का साक्षात् कथन कर दिया था। इन्होंने यशोवर्मा के एक पद्य को शृङ्गारप्रकाश में उद्धृत किया है, जिसमें वागौचित्य, पात्रौचित्य, अवसरानुकूल रसपुष्टि आदि का कथन हुआ है।[७४]

भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में दोष और गुणों के विवेचन के प्रसङ्ग में औचित्य पर अप्रत्यक्ष्य रूप से प्रकाश डाला है। विरुद्ध दोष के प्रसङ्ग में जहाँ अनुमान विरोध का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसके तीन भेद किए गए हैं – युक्तिविरोध, औचित्य, एवं प्रतिज्ञा विरोध।[७५] 'भाविक' नामक शब्दगुण के प्रकरण में भोज ने औचित्य के दो भेद स्वीकार किये हैं - लघुऔचित्य और व्यापक औचित्य।[७६]

द्वितीय परिच्छेद में शब्दालङ्कार के निर्णय के अवसर पर विषयौचिती, कालौचिती, देशौचिती, वाच्यौचिती पर प्रकाश डाला गया है।[७७] 'जाति' नामक शब्दालङ्कार के अन्दर भोज ने 'भाषौचित्य' का विचार किया है, जिस का अर्थ – पात्र, विषय आदि के औचित्य से भाषा विशेष का प्रयोग करना है।[७८] उसी प्रकार 'गति' नामक अलङ्कार की चर्चा में भोज ने यह भी कहा है कि अर्थौचित्य की दृष्टि से गद्य, पद्य एवं मिश्र रूप काव्य भी वागलङ्कार है।[७९]

---

७४. औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगत सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्य तामवहितैरेता वदेवास्तु नः।। शृं० प्र०, २/४१

७५. युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञादिकृतो यस्त्विह कश्चन।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यै र्निगद्यते।। – स० कं०, १/५६

७६. वही, २

७७. वही, २/७-१५

७८. तत्र संस्कृतमित्यादि भारती जातिरिष्यते।
सा त्वौचित्यादिभि र्वाचामलङ्काराय जायते।। - वही, २/६

७९. गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं यत्सा गतिः स्मृता।
अर्थौचित्यादिभिः सापि वागलङ्कार इष्यते।। - वही, २/१८

इसी प्रकार रसनिरूपण के प्रकरण में भोजराज ने प्रबन्धकाव्य में रस, अलङ्कार एवं सङ्कर के विनियोग में अनौचित्य-परिहार पर बल दिया है।[८०]

सारांश यह है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने जिस औचित्य को सैद्धान्तिक रूप में प्रतिष्ठित किया, उस पर भरत से लेकर क्षेमेन्द्र तक के प्रायः सभी काव्याचार्यों ने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में विचार किया है। भरत ने उसके महत्त्व पर अप्रत्यक्ष रोशनी डाली; आनन्दवर्धन ने विभिन्न काव्याङ्गों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया और उसकी अनिवार्यता सिद्ध की; अभिनव गुप्त एवं महिमभट्ट ने काव्य में उसकी सही स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट कराया; कुन्तक की औचित्य की परिभाषा और वक्रता के प्रकारोल्लेख क्षेमेन्द्र की औचित्य परिभाषा और भेद - निरूपण में मार्गनिर्देशक बने; भोज ने औचित्य को दोषाभाव के साथ-साथ गुणभाव में स्वीकार कर काव्य स्वरूप के अन्तर्गत इसकी विवेचना की आवश्यकता प्रदर्शित की। तात्पर्य यह है कि ये सभी आचार्य व्यक्ताव्यक्त रूप में औचित्य की महिमा से उतना ही परिचित थे, जितना कि क्षेमेन्द्र। क्षेमेन्द्र को श्रेय इस बात की है कि अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा बीजारोपित एवं अङ्कुरित औचित्य-पादप को अपनी प्रतिभा के जल से सींच कर उसे एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस रूप में क्षेमेन्द्र को औचित्य-सिद्धान्त का व्यवस्थापक माना जा सकता है, उद्भावक नहीं। अब क्षेमेन्द्र के औचित्य-विषयक विचारों की कुछ विस्तार से चर्चा की जाएगी।

क्षेमेन्द्र :

क्षेमेन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों - विशेषतः आनन्दवर्धन एवं रुद्रट से प्रेरणा एवं दिशा ग्रहण कर औचित्य को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। क्षेमेन्द्र के औचित्य-विषयक परिचर्चा के निम्न तीन आधार बिन्दु हैं :-

१. औचित्य की काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत यथार्थ स्थिति,

२. औचित्य की परिभाषा,

३. औचित्य का व्यापक प्रयोग और उसके उदाहरण।

१. काव्य स्वरूप के अन्तर्गत औचित्य की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र का कथन है कि 'रस सिद्ध काव्य का स्थायी जीवन औचित्य ही है'

---

८०. त्राक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसंकरान्।
निवेशयन्त्यनौचित्य परिहारेण सूरयः।। - स० कं०, कारिका १२६; शृं० प्र०, वी० राघवन्, पृ० १२६ से उद्धृत। (अनुवादक डा० पी० डी० अग्निहोत्री)।

– **'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'।**[८१] क्षेमेन्द्र ने यह भी लिखा है कि औचित्य ही रस का जीवितभूत और सौन्दर्यानुभूति (आनन्दानुभूति) में चमत्कार साधक है।[८२]

जिस काव्य में बहुत सोचने विचारने पर भी औचित्य न दिखाई दे तो उस (काव्य) के अलङ्कारों से क्या लाभ ? गुणों की मिथ्या-गणना से भी क्या प्रयोजन ?[८३] अलङ्कार तो अन्ततः अलङ्कार (सौन्दर्य प्रसाधन) ही हैं और गुण भी (शैर्यादि की भाँति) ही हैं। रस सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य ही है।[८४]

क्षेमेन्द्र की इस विवेचना से स्पष्ट है कि वे रस को अलङ्कार और गुण की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण एवं अन्तरङ्ग तत्त्व स्वीकार करते हैं। अतः क्षेमेन्द्र के अनुसार रस के बिना काव्य-सिद्धि सम्भव नहीं है। और जहाँ तक औचित्य का प्रश्न है, वह रस-सिद्ध काव्य को चिरस्थायी जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस काव्य का प्राण-तत्त्व है, जिससे काव्य सिद्ध होता है। और औचित्य उस की स्थिरता का द्योतक जीवन-तत्त्व है। गद्य में की गई व्याख्या में क्षेमेन्द्र ने इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया है।[८५] क्षेमेन्द्र की रस-सम्बन्धी पक्षपातिता पर उनके साहित्य गुरु अभिनवगुप्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

२. इस प्रकार काव्य में औचित्य का यथार्थ स्थान निर्धारित करने के पश्चात् औचित्य की परिभाषा देते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है –

उचितं प्राहुराचार्याः[८६] सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥[८७]

– जो जिस के अनुरूप हो आचार्य उसे ही (उसका) उचित कहते हैं और उचित के भाव को ही औचित्य कहा जाता है।

---

८१. औचित्यविचार चर्चा, ५

८२. वही, ३

८३. वही, ४

८४. वही, ५

८५. वही, सू० ५ पर व्याख्या।

८६. क्षेमेन्द्र ने यहाँ ऐतिहासिक काल (आहुः) का निर्देश किया है, इससे उन्हें कदाचित् यही सूचित करना अभीष्ट रहा हो कि पूर्वाचार्यों (भरत, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि) ने औचित्य का यही स्वरूप बताया है।

८७. औ० वि० च०, ७

३. इसके पश्चात् काव्य में औचित्य का व्यापक प्रयोग प्रदर्शित करते हुए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के प्रभेदों की नामावली निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की है –

१. पद, २. वाक्य, ३. प्रबन्धार्थ, ४. गुण, ५. अलङ्कार, ६. रस, ७. क्रिया, ८. कारक, ९. लिङ्ग, १०. वचन, ११. विशेषण, १२. उपसर्ग, १३. निपात, १४. काल, १५. देश, १६. कुल, १७. व्रत, १८. तत्त्व, १९. सत्त्व, २०. अभिप्राय, २१. स्वभाव, २२. सारसंग्रह, २३. प्रतिभा, २४. अवस्था, २५. विचार, २६. नाम, २७. आशीर्वाद।[८८]

इनमें से प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, काल, देश, कुल, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद में औचित्य की उपेक्षा रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हो सकती है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इन काव्य अङ्गों में अनौचित्य दिखाने के हेतु जो उदाहरण उद्धृत किये हैं, उनके विश्लेषण से उन में से कई उदाहरण रसाभास के भी सिद्ध होते हैं। इस तथ्य की पुष्टि के लिए क्षेमेन्द्र द्वारा अनौचित्य-प्रदर्शन के लिए उद्धृत कतिपय काव्य तत्त्वों के उदाहरणों को प्रस्तुत कर उनमें रसाभास सिद्ध करना उचित होगा।

१. प्रबन्धार्थगत अनौचित्य एवं रसाभास :

क्षेमेन्द्र ने प्रबन्धार्थगत अनौचित्य को प्रदर्शित करने के लिए महाकवि कालिदास के निम्न पद्य को प्रस्तुत किया है –

ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तक्षणं कृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्।।[८९]

अर्थात् (संभोग के समय पार्वती के) ऊरु के मूलभाग में नखों के जो चिह्न पड़ गये थे, उसने शङ्कर के नेत्र को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब पार्वती ने उस स्थल के शिथिल वस्त्र को संयत करना चाहा तो (उस दृश्य से आकृष्ट चित्त वाले) शिव ने उन्हें वैसा करने से रोका।

---

८८. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्कारे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।। – औ० वि० च०, ८-१०

८९. वही, १३ (उदाहरण)।

यहाँ शिव-पार्वती का संभोग वर्णन है। क्षेमेन्द्र का विचार है कि जगन्माता पार्वती के संभोग वर्णन में पामर स्त्री के संभोग के सदृश खुलकर उमड़ी हुई नख-पङ्क्तियों का वर्णन करना एवं उन चिह्नों से तीनों लोकों के स्वामी शिव जी के नेत्रों का खींच जाना ये दोनों बातें नितान्त अनौचित्य की पोषिका हैं। इससे प्रबन्ध का सौन्दर्य क्षीण होता है।[९०] क्षेमेन्द्र की यह व्याख्या रसाभास के नितान्त निकट है। शिव एवं पार्वती के प्रति हिन्दु सहृदयों के चित्त में देवत्वभाव है। उन की सम्भोग दशा के नग्न चित्रण से पाठक की आस्था में आघात पहुँचता है, जिससे वह इस रति से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। अतः यहाँ रति (सम्भोग) वर्णन देवगत होने से शृङ्गाराभास है।

२. अलङ्कारानौचित्य एवं रसाभास :

क्षेमेन्द्र ने निम्न पद्य में अलङ्कारानौचित्य दिखाया है :-

खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस्तरुशिरसि दोलेव रचिता
शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता।
तृषार्त्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो-
विलान्वेषी सर्पो हत गजकराग्रं प्रविशति॥[९१]

अर्थात् पक्षियों से उड़ाई गई अँतड़ियों से पेड़ों के ऊपरी भाग में झूला-सा बन गया है। आहारतृप्ता शृगालिनी रतिश्रान्ता वनिता की भाँति सो रही है। तृषार्त्त शृगाल लहू में लिपटी हुई तलवार की धार को बार-बार चाट रहा है और बिल खोजता हुआ साँप मरे हुए हाथी की सूँड में घुस रहा है। क्षेमेन्द्र का विचार है कि यहाँ सुरत-क्रीड़ा से थकी हुई कान्ता के साथ अनुचित स्थान में स्थित नर-मांस-भक्षण से तृप्त शृगालिनी की जो उपमा दी गई है, उसमें कोई चमत्कार नहीं है, उल्टे यह उपमा प्रतिकूलता भी प्रकाशित करती है।[९२]

वस्तुतः यह बीभत्स रस का प्रसङ्ग है। इस में नरमांस के आहार से तृप्त शृगालिन का रतिखिन्ना वनिता से जो सादृश्य बताया गया है, उससे दो परस्पर विरोधी रस शृङ्गार और बीभत्स का सम्मिश्रण हो गया है। इस प्रकार की अलङ्कार योजना से रसाभास की सम्भावना हो सकती है।

---

९०. औ० वि० च०, १३ (उदाहरण) पर व्याख्या।

९१. वही, १५ (उदाहरण)।

९२. वही, कारिका १५ के अन्तर्गत।

इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने अन्य काव्य तत्त्वों में अनौचित्य प्रदर्शित करने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे भी रसाभास की पुष्टि हो सकती है।

अग्रिम पंक्तियों में क्षेमेन्द्र द्वारा रसौचित्य एवं रसानौचित्य को प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत कतिपय उदाहरणों का रसाभास की दृष्टि से अध्ययन किया जा रहा है :

१. रसाभास से हास्य का औचित्य :

क्षेमेन्द्र ने एक स्थल पर शृङ्गाराभास से हास्य का औचित्य स्वीकार किया है। इनसे पूर्व भरत ने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति मानी थी।[९३] और अभिनवगुप्त ने रसाभास से हास्य की उत्पत्ति स्वीकार की है।[९४] क्षेमेन्द्र ने शृङ्गार-आभास से हास्य का औचित्य प्रदर्शित करने के लिए निम्न श्लोक प्रस्तुत किया है –

सीधुस्पर्शभयान्न चुम्बसि मुखं किं नासिकां गूहसे
रे रे श्रोत्रियतां तनोषि विषमां मन्दोऽसि वेश्यां विना।
इत्युक्त्वा मदघूर्णमाननयना वासन्तिका मालती –
लीनस्यात्रिवसोः करोति वकुलस्येवासवसेचनम्॥[९५]

– सोई हुई मालती पर अत्रिवसु झुका हुआ पड़ा है, पर उसके होठों का चुम्बन नहीं ले रहा है। यह सब देखती हुई वासन्ती नाम की वेश्या ने पीछे से कटाक्ष किया–"क्या मुँह में पड़ी हुई शराब के स्पर्श के भय से मुख को नहीं चूम रहे हो ? क्या इसीलिए नाक सिकोड़े रहे हो ? तुम ने यह अच्छी विषम श्रोत्रियता दिखाई है। वस्तुतः वेश्या की सहायता न मिलने से ही तुम निष्क्रिय बने पड़े हो।" यह कह कर मदमत्त नयनों वाली वासन्ती ने मालती में आसक्त अत्रिवसु का आसव (जूठी शराब) से सिंचन कर दिया।

क्षेमेन्द्र का विचार है कि यहाँ शराब के स्पर्श से संकोच करने वाले (अतएव) शुष्क वकुल वृक्ष के समान ब्राह्मण अत्रिवसु को सरस (रसिक) बनाने के लिए वेश्या ने जो आसव सेचन किया है, उससे उत्पन्न अङ्गभूत शृङ्गार रसाभास से अङ्गी हास्य रस में चमत्कारी औचित्य उत्पन्न हो गया है।[९६]

---

९३. शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः.....। - हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१७

९४. वही, पृ० ११९

९५. औ० वि० च०, १६ (उदाहरण)।

९६. वही, १६ कारिका के अन्तर्गत।

अपनी प्रेयसी मालती पर झुका हुआ अत्रिवसु उसका मुख चूमना चाहता है, परन्तु मालती के मुख से आ रही शराब की गन्ध उसकी इस क्रिया में बाधक सिद्ध हो रही है। चुम्बन के लिए मालती पर झुके हुए धर्म भीरु ब्राह्मण का शराब की गन्ध के कारण नाक सिकोड़ना हास्य के सुन्दर चित्र की सृष्टि करता है। ऐसे में कोई वेश्या आकर उसके मुँह में जूठी शराब उडेल दे तो सचमुच यह दृश्य और अधिक हास्यपूर्ण होगा।

उल्लेखनीय है कि यद्यपि क्षेमेन्द्र ने इस उदाहरण के द्वारा शृङ्गार रसाभास से हास्य का औचित्य प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। तथापि क्षेमेन्द्र की इस धारणा से यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्रत्येक स्थिति में शृङ्गाराभास हास्य रस में औचित्य की सृष्टि करेगा ही। अनेक स्थितियों में शृङ्गाराभास से अनौचित्य की अनुभूति भी हो सकती है। क्षेमेन्द्र के इस उदाहरण से इतना ही स्पष्ट होता है कि हास्य रस के अङ्ग रूप में वर्णित होने पर शृङ्गाराभास किन्हीं स्थितियों में हास्य का औचित्य प्रस्तुत करता है।

२. स्थायिभाव के समुचित रसीकरण का अभाव और रसाभास :

अनेक बार सहृदय आश्रय द्वारा प्रदर्शित भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। इस का एक कारण विभाव, अनुभाव एवं संचारिभाव का समुचित संयोग न होने से स्थायिभाव का रस दशा तक प्राप्त न होना भी है। ऐसी स्थिति में सहृदय को रसाभास या वितृष्णा की अनुभूति भी हो सकती है। क्षेमेन्द्र ने करुण रस में अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए इसी प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :–

हा शृङ्गारतरङ्गिणीकुलगिरे ! हा राजचूडामणे
हा सौजन्यसुधानिधान ! ह ह हा वैदग्ध्यदुग्धोदये।
हा देवोज्जयनीभुजङ्ग युवतिप्रत्यक्षकन्दर्प हा
हा सद्बांधव हा कलामृतकर क्वासि प्रतीक्षस्व नः॥[९७]

– अर्थात् हाय शृङ्गार सरिता के मूल उद्‌गम स्वरूप कुल-पर्वत ! हाय राजशिरोमणि ! हाय सुजनतारूपी सुधा के निधान ! हाय वैदग्ध्य दुग्ध के आगार ! हाय उज्जयिनी नाथ ! हाय देव, युवतियों के लिए प्रत्यक्ष काम ! हाय सज्जनों के एक मात्र बांधव ! हाय कलामृत ! तुम कहाँ हो ! मेरी भी प्रतीक्षा करो।

---

९७. औ० वि० च०, १६ (उदाहरण)।

यहाँ मृत राजा के विरह में विलाप कर रही स्त्री (आश्रय) में जो शोक वर्णित किया गया है, वह उसी तक सीमित रह गया है। उचित रसीकरण के अभाव में उसका शोक सहृदयसंवेद्य नहीं हो सका है। ऐसे शोक-प्रदर्शन से सहृदयों को वितृष्णा ही होगी।

३. प्रधान नायक अथवा सत्पात्र में उत्साह की क्षीणता, कायरता आदि का प्रदर्शन भी रसाभास का जनक हो सकता है :-

आनन्दवर्धन ने प्रबन्धगत रसौचित्य के प्रसङ्ग में कहा है कि 'ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त कथा के भी रस के प्रतिकूल अंशों को त्याग देना चाहिए और अभीष्ट रसानुकूल नवीन कल्पना करके कथा का संस्कार करना चाहिए।'[९८] सम्भवत: इसी से प्रभावित होकर वीर रस में अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए क्षेमेन्द्र ने प्रबन्ध के प्रधान नायक (अथवा रस) के प्रतिकूल वर्णन को अनुचित माना है :-

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्ति हुं वर्तताम्
युद्धे स्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥[९९]

– ये (राम) वृद्ध हैं, इनके चरित्र के विषय में विचार करना उचित नहीं है, बस हुँ हुँ करते जाओ अर्थात् जो है सब ठीक है। ये तो युद्ध में स्त्री (तारका) के दमन करने पर भी अपना यश खण्डित नहीं समझते और संसार में महान् कहे जाते हैं। खर के साथ युद्ध करने में इन्हें तीन पग पीछे हटना पड़ा था और गुरुतर अपराधी इन्द्र पुत्र बालि के दमन में इन्होंने जो कौशल प्रदर्शित किया था, वह भी मुझे ज्ञात है।

क्षेमेन्द्र का विचार है कि यहाँ कवि ने परकीय प्रताप को न सह सकने वाले अप्रधान पात्र राम के पुत्र कुमार लव द्वारा जो ताड़कादमन, खर के साथ युद्ध

---

९८. इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्षान्तराभीष्टरसोचितकथोन्नय:॥ - ध्व० आ०, ३/११
मिलाइये - तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।
यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्। - द० रू०, ३/२४-२५

९९. औ० वि० च०, कारिका - १६ - के अन्तर्गत।

करते हुए रण में पीछे हट जाना, सुग्रीव के साथ लड़ने में लगे हुए बालि की हत्या आदि जनापवाद का कीर्त्तन कराया है, उससे प्रबन्धव्यापी प्रधान नायक रामगत वीर रस का सर्वथा विनाश हो गया है। अतः यह अनुचित है।[१००]

वस्तुतः भारतीय जन मानस अतुल पराक्रमी क्रूर रावण के संहारक, पितृभक्त आदर्श राजा राम के आदर्शमय वीर चरित्र से अत्यन्त प्रभावित है। राम के प्रति उसका अपार श्रद्धा भाव है। अतः भारतीय सहृदय राम को सदा वीर एवं आदर्श पुरुष के रूप में ही देखना चाहता है। परन्तु उसकी इस आस्था के विपरीत यहाँ राम के चरित्रगत कलङ्क का जो वर्णन हुआ है, उससे उसके मन में अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इस पर भी जब वह उनके निन्दक के रूप में स्वयं रामपुत्र कुमार लव को पाता है तो उसे लव से किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं होती। बल्कि उसकी इस धृष्टतापूर्ण कृत्य पर क्षोभ करने लगता है। इस प्रकार के वर्णनों से रसाभास की ही अनुभूति होगी।

४. अनुचित आलम्बन और रसाभास :

रसाभास के विवेचन में आलम्बन का विचार महत्त्वपूर्ण है। रसों की प्रकृति-भिन्नता उनकी आलम्बन विशिष्टता का कारण बनती है। तत्तद्भावों के वर्णन में आलम्बन के औचित्य पर ध्यान न दिया जाय तो उससे रसाभास की सम्भावना हो सकती है। इस तथ्य को क्षेमेन्द्र ने बीभत्स रस में अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए स्पष्ट किया है :

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः
क्षुधाक्षामो रुक्षः पिठरककपालार्दितगलः।
व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिपरिवृतैरावृततनुः
शुनीमन्वेति श्वा तमपि मदयत्येषः मदनः॥[१०१]

क्षेमेन्द्र का कथन है कि यहाँ जुगुप्सा का आलम्बन घृणित प्राणी कुक्कुर है, अतः अनुचित है। यदि इसी भाव का प्रदर्शन मनुष्य में किया गया होता तो परम उचित होता।[१०२]

---

१००. औ० वि० च०, प्रस्तुत उदाहरण पर व्याख्या।

१०१. औ० वि० च०, १६ (उदाहरण) - दुबला, एक आँख तथा एक पैर से रहित, बधिर, बेपोंछ, भूख का मारा, सूखा, व्यथित कण्ठवाला, कीड़ों से भरे पीब पूरित व्रणों से आवृत शरीर वाला कुत्ता कुतिया के पीछे दौड़ रहा है और कामदेव भी उसे उत्तेजित कर रहा है।

१०२. द्रष्टव्य, इसी उदाहरण पर व्याख्या।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भोजराज[१०३] आदि की भाँति क्षेमेन्द्र भी पशु-पक्षि गत भाव वर्णन को मानवीय भाव वर्णन की अपेक्षा हेय स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने यहाँ पशु-कुक्कुरगत जुगुप्सा भाव के वर्णन को अनुचित माना। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यद्यपि रति आदि कुछ भावों को पशु-पक्षी में दिखाया जाए तो वह सहृदयों की अरुचि का विषय होने से रसाभास की अनुभूति कराता है, परन्तु जहाँ तक जुगुप्साभाव का प्रश्न है वह पशु-पक्षी में भी कुशलतापूर्वक दिखाया जा सकता है। और ऐसे वर्णनों से सहृदय को रस की अनुभूति हो सकती है – (इस विषय पर 'तिर्यक् गत रति' के प्रकरण में विस्तार से चर्चा की गई है)। यहाँ पर भी कुत्ते पर जो घृणित भाव प्रदर्शित किए गए हैं, उससे सहृदय को किसी प्रकार के अनौचित्य का अनुभव नहीं होता। घृणित प्राणी घृणा भाव का आलम्बन सहज ही बन सकता है। हाँ क्षेमेन्द्र की यह धारणा अवश्य उचित है कि कुछ भाव मानवेतर प्राणियों (अयोग्य आलम्बनों) में प्रदर्शित होने पर अनौचित्य की प्रतीति में कारण बनते हैं। उससे रसाभास भी हो सकता है।

५. रस सङ्करगत अनौचित्य और रसाभास :

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रससङ्कर में भी अनौचित्य प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार यदि रससङ्कर में अनौचित्य का संस्पर्श हो तो वह किसी को भी इष्ट नहीं होता।[१०४] इस विषय में क्षेमेन्द्र ने अपना निष्कर्ष आनन्दवर्धन के निम्नलिखित वाक्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है :

विरोधी वाविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता॥[१०५]

अर्थात् रस विरोधी हो अथवा अविरोधी उसका परिपोष अङ्गी रस की अपेक्षा अधिक नहीं करना चाहिए। इसी प्रसङ्ग में उनका यह भी कथन है कि "यदि विरोधी रस का वर्णन ज्यादा कर दिया जाय तो (अङ्गीरस के) स्थायिभाव की

---

१०३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, 'तिर्यक् गत रति' का प्रकरण, पृ० १९४-१९८

१०४. अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससङ्करः॥ - औ० वि० च०, १८

१०५. (क) वही, १७-१८

(ख) ध्व० आ०, ३/२४

वही दशा होती है जो एक बार गड्ढे में गिर पड़े हाथी की होती है, वह पुनः उठ नहीं सकता।[१०६]

इसी प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है :-

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासि केयं त्वरा
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावन्मुखम्।
संसारे (धटिकाप्रणाल) विगलद्वारिसमे जीविते
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद् वा न वा संगमः॥[१०७]

– अर्थात् यदि गन्तव्य स्थान (या जाना) निश्चित ही है तो चले जाना, ऐसी क्या जल्दी है। दो-तीन क्षण रुक तो जाओ, जब तक जी भर तुम्हारा मुँह देख लूँ। इस संसार में घड़ी रूपी नलिका से जल की तरह जीवन बहता चला जा रहा है। कौन जानता है कि फिर तुम्हारी हमारी भेंट हो सकेगी या नहीं।

यहाँ प्रकरण प्राप्त शृङ्गार रस के साथ शान्त रस का जो सम्मिश्रण हुआ है, वह अनौचित्यपूर्ण है। कारण कि इस में सांसारिक जीवन की अनित्यता का जो विस्तार से वर्णन हुआ है, उससे वैराग्यभाव की अपेक्षा रति भाव अप्रधान हो गया है।[१०८] इस प्रकार के वर्णन कई बार रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्य शिङ्गभूपाल[१०९] एवं शारदातनय[११०] ने अङ्ग रस को अङ्गी रस की अपेक्षा अधिक प्रधानता देने पर स्पष्ट शब्दों में रसाभास स्वीकार किया है।

उपर्युक्त औचित्य विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रसाभास का औचित्य तत्त्व के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह विवेचन इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि भरतादि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में औचित्यपालन एवं अनौचित्यपरिहार के जो निर्देश उपलब्ध हुए हैं, उन सबका रसाभास की

---

१०६. विरुद्धवर्णनोदितेन हि अनौचित्येन स्थायी (कुञ्जर इव श्वभ्र-पतितः) पुनरुत्थातुं नोत्सहते। - औ० वि० च०, १७-१८

१०७. वही, १७-१८

१०८. द्रष्टव्य, औ० वि० चर्चा, इसी उदाहरण पर व्याख्या।

१०९. अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्॥ - रसार्णव सुधाकर, २/२६३ पृ० २०२

११०. भावप्रकाशन, रसाभास प्रकरण, ६/२९, ६/१७-२८

स्वरूप-कल्पना एवं उसके भेद-निरूपण में पर्याप्त महत्त्व है। उसीसे प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त करके परवर्ती आचार्यों ने रसाभास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। साथ ही इन आचार्यों ने, विशेषतः क्षेमेन्द्र ने, विभिन्न काव्यतत्त्वगत अनौचित्य के स्पष्टीकरण में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; उनके विवेचन से रसाभास के स्वरूप पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सका है।

३. रसाभास और काव्यदोष :

आचार्य भरत ने गुण को दोष का विपर्यास माना है – **'एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।'**[१११] भरत की इसी मान्यता का अनुकरण कर परवर्ती कुछ आचार्यों ने भी गुण और दोष का स्वरूप उन्हीं के परस्पर विपर्यय पर आधारित किया है।[११२] परन्तु आनन्दवर्धन ने दोष-विवेचन का आधार रस को बनाया।[११३] आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि रस (मुख्यार्थ) के अपकर्षक तत्त्व दोष कहलाते हैं – **मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः।**[११४] मम्मट ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत दोष-भेदों को व्यवस्थित रूप देकर दोष को मुख्य तीन भेदों में विभक्त किया है :–

१. शब्द दोष,
२. अर्थ दोष,
३. रस दोष।[११५]

पुनः शब्द दोष के तीन विभाग माने गए हैं –

१. पददोष,
२. पदांशदोष,
३. वाक्यदोष।[११६]

---

१११. ना० शा०, १७/९५

११२. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। - का० अ० सू०, २/१/१

११३. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः।। - ध्व० आ०, २/११

११४. का० प्र०, ७/४९

११५. वही, ७/४९

११६. वही, ७/५०-५२

इस प्रकार कुल मिलाकर दोष पाँच प्रकार के होते हैं –

१. पद दोष,

२. पदांशदोष,

३. वाक्यदोष,

४. अर्थदोष,

५. रसदोष।

इन में से शब्द दोष (के तीनों भेद-पद, पदांश एवं वाक्यगत दोष) एवं अर्थ दोष का रसाभास से वही सम्बन्ध है, जो कि उनका रस से है। अर्थात् जिस प्रकार ये दोष रस का अपकर्ष करते हैं, उसी प्रकार रसाभास के स्थल भी इन दोषों की उपस्थिति में अपकर्ष को प्राप्त होंगे। उदाहरणतया शब्द एवं अर्थगत क्लिष्टता को क्रमशः क्लिष्ट (शब्द दोष) एवं कष्ट (अर्थ दोष) नामक दोष माना गया है।[११७] ये दोष रस एवं रसाभास दोनों के लिए समान रूप से हेय हैं।

उपर्युक्त काव्यदोषों एवं रसाभास में अन्तर यह है कि काव्य दोष भाषा अथवा शैलीगत अनौचित्य से सम्बन्धित हैं, जबकि रसाभास के मूल में पाये जाने वाले अनौचित्य का सम्बन्ध लोक एवं शास्त्र के अतिक्रमण से है। तात्पर्य यह है कि किसी रचना में काव्य के बाह्य उपकरण वर्णों, पदों, छन्दों एवं अलङ्कारों के अनुचित अथचा व्यर्थ प्रयोग काव्य दोष की परिधि में माने जाएंगे। परन्तु संस्कृत काव्य शास्त्र में रसाभास की संज्ञा ऐसे काव्य प्रसङ्गों को दी गई है, जिन में सामाजिक मान्यताओं एवं नीतिनियमों के विरुद्ध वर्णन हो या जिन में लोक-स्वभाव एवं मनोविज्ञान के विरुद्ध आचरण प्रतिपादित हो। काव्यदोष हेय हैं अतः ये कवि की अयोग्यता के परिचायक हैं। रसाभास ग्राह्य हैं, इसीलिए उसे उत्तम काव्य का ही एक प्रकार माना गया है।

रसाभास एवं रसदोष :

रसदोष एवं रसाभास के मध्य भेद-व्यवस्था का निर्णय करना कठिन है। आपाततः ये दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। परन्तु फिर भी प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने रसाभास एवं रसदोष का जो स्वरूप स्वीकार किया है, उसके तात्विक परीक्षण से इन दोनों के मध्य विभाजक रेखा खींची जा सकती है।

---

११७. का० प्र०, ७/५०-५१; ७/५५

आचार्य मम्मट ने रसदोष के अधोलिखित भेद स्वीकार किए हैं :–

१. व्यभिचारिभावों, रसों एवं स्थायिभावों की स्वशब्द वाच्यता,
२. अनुभावों तथा विभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति,
३. प्रकृत रस के प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण,
४. रस की पुनः पुनः दीप्ति,
५. अनवसर में रस का विस्तार,
६. अनवसर में रस का विच्छेद,
७. अङ्गभूत रस का अत्यधिक विस्तृत-वर्णन,
८. प्रधान रस का विस्मरण,
९. प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय,
१०. प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन।[११८]

उपर्युक्त प्रकारों में से सप्तम एवं नवम रसदोष को रसाभास के भीतर समाहित किया जा सकता है। इन रस दोषों के स्वरूप विवेचन से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो सकेगा :–

१. अङ्गभूत रस का अति विस्तृत वर्णन :

इसका तात्पर्य यह है कि काव्य एवं नाटक में एक प्रधान रस रहता है और दूसरे उसके सहायक रस अप्रधान या अङ्ग कहे जाते हैं। कवि को चाहिए कि वह रस की प्रधानता-अप्रधानता को ध्यान में रखते हुए अप्रधान रस का ज्यादा विस्तार से वर्णन न करे। अन्यथा प्रधान रस की अनुभूति में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए अप्रधान रस का आवश्यकता से अधिक विस्तारपूर्व वर्णन को रसदोष माना गया है। उदाहरणार्थ – 'हयग्रीव वध' में श्रीविष्णु प्रधान नायक हैं, उनकी अपेक्षा प्रतिनायक दैत्य हयग्रीव का विस्तार से वर्णन किया गया है –

अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य[११९]

---

११८. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।। – का० प्र०, ७/६०-६२

११९. वही, ७/६२ वृत्तिभाग।

वस्तुतः प्रधान नायक की अपेक्षा प्रतिनायक अथवा प्रधान रस की अपेक्षा अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन पाठकों की रुचि के प्रतिकूल होता है। यही कारण है कि परवर्ती आचार्य शारदातनय[१२०] एवं शिङ्गभूपाल[१२१] ने अङ्गीरस की अप्रधानता को रसाभास स्वीकार किया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रसाभास के मूल में निहित अनौचित्य का आधार शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण है। परन्तु अङ्गभूत रस की अति विस्तृत वर्णन में भी शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण हो ही यह आवश्यक नहीं है। निरिन्द्रियगत रति आदि की भाँति इस में अनौचित्य का आधार मनोगत है। प्रधान नायक के रूप, गुण, शक्ति आदि की अपेक्षा अप्रधान (या प्रतिनायक) के रूपादि का विस्तृत वर्णन पाठक के मनोविज्ञान के विपरीत होने से अनौचित्यपूर्ण माना गया है।

२. प्रकृतिविपर्यय रूप रसदोष एवं रसाभास :

आचार्य मम्मट के अनुसार जिस प्रकृति के लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहाँ वर्णन प्रकृतिविपर्यय रूप रसदोष है।[१२२] संस्कृत काव्य शास्त्र में तीन प्रकार की प्रकृतियाँ मानी गई हैं –

१. दिव्य (इन्द्रादि नायक)
२. अदिव्य (वत्सराज उदयन आदि नायक)
३. दिव्यादिव्य (राम, कृष्ण आदि नायक)।

नाटकादि में इन तीनों ही प्रकृतियों के नायक होते हैं। इन तीनों प्रकृतियों के नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त भेद से चार-चार प्रकार के हो सकते हैं। ये नायक क्रमशः वीर, रौद्र, शृङ्गार तथा शान्त रस प्रधान काव्यों के नायक होते हैं। उपर्युक्त बारह प्रकार के नायक उत्तम मध्यम और अधम प्रकृति-भेद से ३६ प्रकार के हो जाते हैं।[१२३] इनमें से प्रत्येक नायक के व्यवहार का वर्णन उनकी अपनी प्रकृति के अनुकूल ही होना चाहिए, अन्यथा अनौचित्य की प्रतीति

---

१२०. भा० प्र०, ६/२९, पृ० १३२-१३३ (ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, ई० सन् - १९३०)

१२१. रसार्णवसुधाकर, पृ० २०२, (अनन्तशयन ग्रन्थमाला, सन् १९१६)

१२२. का० प्र०, ७/६२ वृत्तिभाग, पृ० ३६२-३६४ (व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ संस्करण, वि० सम्वत् २०२७)।

१२३. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गार-
शान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललित-धीरप्रशान्ताः,
उत्तमाधममध्यमाश्च।। - वही, ७/६२ वृत्तिभाग, पृ० ३६२

होने पर रसाभास की सम्भावना हो सकती है। उदाहरणतया – उत्तम दिव्य नायकों में सम्भोग शृङ्गार का वर्णन (शृङ्गार का नग्न चित्रण) नहीं करना चाहिए। क्योंकि उत्तम दिव्य प्रकृतियों के विषय में सम्भोग का वर्णन (प्रकृति विरुद्ध होने के कारण) माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अनुचित है।[१२४] आचार्य आनन्दवर्धन का भी इस सम्बंध में यही विचार है।[१२५] इसी प्रकार तुरन्त फल देने वाले क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल आदि जाने एवं समुद्र का उल्लङ्घन आदि रूप उत्साह आदि का वर्णन दिव्य प्रकृतियों में ही करना चाहिए, अदिव्य में नहीं। अदिव्य (मनुष्य) प्रकृति के नायकों में उत्साह आदि का उतना ही वर्णन करना चाहिए, जितना इतिहास प्रसिद्ध हो अथवा जितना मनुष्य में सम्भव हो। उससे अधिक वर्णन सदोष ही होगा।[१२६] उपर्युक्त प्रकृति विपर्यय रसदोष के विवेचन से यह तथ्य प्रकट होता है कि इस में आलम्बन की प्रकृति के प्रतिकूल भावों का वर्णन पाया जाता है। दूसरे शब्दों में हम इसे अयोग्य आलम्बन विभावगत भाव-वर्णन कह सकते हैं। हमारे विचार में इसे रस दोष न मानकर रसाभास मानना ही अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

शेष रसदोषों एवं रसाभास में परस्पर अन्तर है।

रसाभास एवं रसदोष में भेद :

अङ्गभूत रस की अतिविस्तृति एवं प्रकृतिविपर्यय इन दो रस दोषों को छोड़ कर अन्य आठ प्रकार के रसदोषों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि इन रसदोषों की स्वीकृति ऐसे प्रसङ्गों में की गई है जहाँ रस सामग्री का अथवा दो भिन्न-भिन्न रसों का संयोजन समुचित प्रकार और समुचित परिमाण में नहीं हो पाया है।

---

१२४. रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि। किन्तु रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद् वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्।। – का० प्र०, ७/६२, वृत्तिभाग, पृ० ३६३

१२५. तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते र्राजादे रुत्तमप्रकृतिभि र्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवताविषयम्। – ध्व० आ०, ३/१४ वृत्तिभाग, पृ० १९२ (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, वि० सम्वत्, २०२८)

१२६. "............ इत्युक्तवद् भ्रुकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगमन-समुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव। अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम्। अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्तितव्यं न प्रतिनायकवद्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत्।। – का० प्र०, ७/६२, वृत्ति, पृ० ३६३-६४ – व्याख्याकार, आ० विश्वेवर

शब्द एवं अर्थ दोषों के समान रसदोष भी त्याज्य हैं। सत्कवि को इनसे अपने काव्य को बचाना चाहिए। इसके विपरीत रसाभास काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। समाज की चारित्रिक दुर्बलताओं को प्रकट करने के लिए इसका वर्णन आवश्यक है। यही कारण है कि काव्यचिन्तकों ने रसदोष के परिहार के उपायों का निर्देश तो किया है, परन्तु रसाभास के परिहार के लिए उन्होंने कोई मार्ग नहीं बताया। इस का अभिप्राय यह है कि रसदोष को दूर किया जा सकता है, परन्तु रसाभास को नहीं। क्योंकि रसाभास को दूर करने के लिए रसाभास की प्रवर्त्तक सामग्री को ही हटाना पड़ेगा। उदाहरणार्थ प्रकृत रस में किसी अन्य विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण करना रसदोष माना गया है।[१२७] इस का परिहार विरोधी रस को बाधित रूप में लाने से हो जाता है।[१२८] परन्तु एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति प्रेम (बहुनायकनिष्ठ रति) को रसाभास माना गया है,[१२९] इसका परिहार किसी भी दशा में सम्भव नहीं है। इस प्रकार रसाभास एवं रसदोषों में पर्याप्त भिन्नता है। इसी प्रसङ्ग में यह भी उल्लेख्य है कि –

भामह एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत **देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम आदि विरोधी दोष**[१३०]

वामन द्वारा स्वीकृत **लोकविरुद्ध** एवं **विद्याविरुद्ध** वाक्यार्थ दोष।[१३१]

रुद्रट प्रतिपादित **विरस दोष,**[१३२] एवं

भोजराज द्वारा प्रतिपादित अनुमान विरोध के तीनों भेद – **युक्ति विरोध, औचित्यविरोध एवं प्रतिज्ञाविरोध** –

किन्हीं परिस्थितियों में रसाभास की उत्पत्ति में सहायक हो सकते हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि रसदोष एवं रसाभास के मूल में एक ही अनौचित्य तत्त्व का विनियोग स्वीकार किया गया है तथापि रसदोष के अनौचित्य में और रसाभास के अनौचित्य में अन्तर है।

---

१२७. का० प्र०, ७/६१; ७/३२८ (उदाहरण)।

१२८. वही, ७/६३

१२९. सा० द०, ३/२६३

१३०. (क) का० अ० (भामह), ४/२; ४/३१-५१
(ख) का० आ०, ३/१६२-७७

१३१. का० अ० सू०, २/२/२३-२४

१३२. का० अ० (रुद्रट) - ११/१२-१४

१३३. स० कं०, १/५६

चतुर्थ-अध्याय

नायक-नायिका के भेदों एवं उनके उदाहरणों में रसाभास

नायक और नायिकाशृङ्गार रस के आलम्बन विभाव हैं। स्त्री-पुरुष के रूप, गुण, कर्म, प्रकृति आदि के आधार पर नायक-नायिका के अनेक भेद, उपभेद किए गए हैं। नायक-नायिका भेद का मुख्य प्रयोजन स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्धों को प्रदर्शित करना है। चाहे उनके ये सम्बन्ध सामाजिक, धार्मिक मर्यादा के अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल। नायक-नायिका के जो भेदोपभेद सामाजिक नियमों के विरुद्ध होने से पाठक की रुचि के प्रतिकूल होंगे, उनसे रसाभास की ही सम्भावना होगी। रसाभास और नायक-नायिका भेद में परस्पर सम्बन्ध निर्दिष्ट करने के लिए नायक-नायिका के भेद-उपभेदों के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है :

नायिका भेद :

धर्म के आधार पर भानुदत्त ने नायिका के तीन भेद किए हैं – १. स्वकीया, २. परकीया और ३. सामान्या।[१]

१. स्वकीया – जो स्त्री अपने साथ विवाहित एक पुरुष से ही प्रेम करे, उसे स्वकीया नायिका कहते हैं - **तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वकीया।**[२] स्वकीया नायिका दिन-रात अपने पति की सेवा में परायण रहती है। अपने चरित्र का सदा संरक्षण करती है। उसमें आर्जव तथा क्षमा के गुण होते हैं।[३]

---

१. सा च त्रिविधा - स्वकीया परकीया सामान्या चेति।
– रसमंजरी, जगन्नाथ पाठक रचित 'सुषमा हिन्दी व्याख्या युक्त', पृ० ४ (श्री हरिकृष्णनिबन्ध भवन, बनारस, सन् १९५१)

२. वही, पृ० ५

३. अस्याश्चेष्टा भर्तुः शुश्रूषा शीलसंरक्षणमार्जवं क्षमा चेति। - वही, पृ० ५

आचार्य रुद्रट के अनुसार 'जो स्त्री सुख, दुःख तथा मरण में नायक का साथ नहीं छोड़ती, वह स्वकीया नायिका कहलाती है। ऐसी नायिका से पुण्य वालों का ही प्रेम होता है।[४] विश्वनाथ के अनुसार स्वकीया नायिका उस पतिव्रता स्त्री को कहते हैं, जो विनय, सरलता आदि गुणों से युक्त हो और सदा घर के कामों में तत्पर रहे।[५]

इस प्रकार नायिका का स्वकीया भेद आदर्श भारतीय नारी की मूर्त्ति है। इसका विवेचन विशुद्ध शृङ्गार अथवा प्रेम का विषय है।

वयः क्रम के अनुसार भानुदत्त ने स्वकीया के तीन भेद किए हैं - १. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा (प्रौढा)।[६]

(क) **मुग्धा** – जिस स्त्री के शरीर में अभी यौवन का संचार हो ही रहा हो, उसे मुग्धा कहते हैं – **'तत्राङ्कुरितयौवना मुग्धा'।**[७] यह मुग्धा नायिका भी ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना के भेद से दो प्रकार की हो जाती है।[८] जिसे अपने यौवनागम का बोध न हो उसे अज्ञातयौवना और जिसे अपने यौवनारम्भ का ज्ञान हो उसे ज्ञातयौवना कहते हैं।

ज्ञातयौवना मुग्धा पुनः दो प्रकार की होती है – १. **नवोढा** और २. **विश्रब्ध-नवोढा।**

जो विवाहिता नववधू लज्जा एवं भय के कारण पति का सङ्ग नहीं चाहती उसे **नवोढा** कहते हैं। और कालक्रम से जब उसके मन में भय और लज्जा के भाव मन्द पड़ जाते हैं और पति के प्रति कुछ आकर्षित होती है तब उसे **विश्रब्ध-नवोढा** कहते हैं।[९]

नवोढा के स्वरूप से यह स्पष्ट है कि यह नायिका पति समागम के लिए सहर्ष तत्पर नहीं होती। अभी तक उस में पति के प्रति विश्वास ही नहीं जागा है।

---

४. संपत्तौ च विपत्तौ च मरणे या न मुञ्चति।
सा स्वीया तां प्रति प्रेम जायते पुण्यकारिणः।। - शृं० ति०, १/८६

५. विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया। - सा० द०, ३/५७

६. स्वीया तु त्रिविधा - मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति। - र० मं०, पृ० ७

७. वही, पृ० ७

८. सा च अज्ञातयौवना ज्ञातयौवना च। - वही, पृ० ७

९. सैव क्रमशो लज्जाभयपराधीनरति र्नवोढा।
सैव क्रमशः सप्रश्रया विश्रब्धनवोढा।। - वही, पृं० ८

इसीलिए वह उसके व्यवहार से भयभीत होती है। इसके वर्णन से यदि नायक के व्यवहार में प्रत्यक्षतः बल प्रयोग की प्रतीति हो तो उससे रसाभास की ही अनुभूति होगी। कुछ इसी प्रकार की अनुभूति भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत नवोढा के उदाहरण में भी होती है –

हस्ते धृताऽपि शयने विनिवेशिताऽपि
क्रोडे कृताऽपि यतते बहिरेव गन्तुम्।
जानीमहे नववधूरथ तस्य वश्या
यः पारदं स्थिरयितुं क्षमते करेण।।[१०]

नायक अपनी नवोढा वधू के व्यापार को अपने मित्र से कह रहा है या स्वयं सोच रहा है कि हाथ में पकड़ लेने पर, शैय्या पर बैठा लेने पर एवं गोद में दबा लेने पर भी वह निकल जाने का प्रयत्न करती है। हमें ऐसा लगता है कि नववधू को वही पुरुष अपने वश में कर सकता है जो पारे को हाथ से लेकर स्थिर कर देने में समर्थ है। अर्थात् हाथ से लेकर पारा को स्थिर कर देना जैसे दुष्कर है वैसे ही नवोढा को अपने वश में करना अत्यन्त कठिन है।

इस पद्य में नायक-नायिका के आपसी व्यवहार का जो चित्र खींचा गया है, उससे यही प्रतीत होता है कि यहाँ नायक कोई युवा अथवा प्रौढ व्यक्ति है। वह अल्पवयस्का नववधू से अपनी वासना की पूर्ति में प्रयत्नशील है। नायिका उसके व्यवहार से भयभीत हो रही है। तात्पर्य यह है कि नवोढा के वर्णन में दो विरुद्ध प्रकृति के स्त्री-पुरुष के व्यवहार का चित्रण पाया जाता है। अतः उसे अनुचित मानकर रसाभास का विषय मानना उचित प्रतीत होता है।

मुग्धा नायिका का अज्ञातयौवना भेद और भी घृणास्पद है। नायिका के इस भेद पर आपत्ति करते हुए डा० सत्यदेव चौधरी का कहना है कि "अज्ञातयौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेह व्यवहार वर्णन उभय-पक्षीय न होकर लगभग एक पक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणीय विषय है तथा दोनों में रतिजन्य यौवन सम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति-विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है।[११]"

(ख) मध्या – जिस नायिका में लज्जा और काम समान रूप से रहें उसे मध्या कहते हैं – **'समानलज्जामदना मध्या।'**[१२] मध्या की लज्जा उस मात्रा में

१०. रसमंजरी, ७, पृ० १६

११. द्रष्टव्य, भारतीय काव्याङ्ग, पृ० १७४, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५९ ई०

१२. र० मं०, पृ० १९

नहीं होती जिससे वह अपने काम भाव को दबा दे। और उसका काम भी लज्जा को पराजित करने वाला नहीं रहता। दोनों तुल्यबल की स्थिति में होते हैं।[१३]

मुग्धा का वर्णन पाठक की विलास भावना को पुष्ट करने वाले होते हैं। –

स्वापे प्रियाननविलोकनहानिरेव स्वापच्युतौ प्रियकरग्रहणप्रसङ्गः।
इत्थं सरोरुहमुखी परिचिन्तयन्ती स्वापं विधातुमपि हातुमपि प्रपेदे॥[१४]

– कोई नायिका अपने मन में सोच रही है कि अगर मैं आँखे बन्द करके सो जाती हूँ तो प्रियतम के मुख को देखने का आनन्द नहीं मिलता और अगर आँखें खोलती हूँ तो मुझे जगी हुई जान कर प्रियतम हाथ पकड़ कर विवश करने लगता है। यह सोचती हुई वह कमलमुखी निद्रा का ग्रहण करने के लिए भी प्रवृत्त हुई और त्याग करने के लिए भी। यहाँ मध्या के मन में काम और लज्जा दोनों भावों का द्वन्द दिखाया गया है। ऐसे प्रसंग पाठकों की रुचि को विषय बनते हैं।

(ग) प्रगल्भा – जो नायिका समस्त काम कलाओं में (केवल अपने पति के साथ ही) प्रवीण हो उसे प्रगल्भा (प्रौढा) कहते हैं – **पतिमात्र विषयककेलिकलाकलापकोविदा प्रगल्भा।**[१५]

प्रगल्भा में काम भावना प्रबल रूप में होती है। मुग्धा और मध्या की भाँति इस में लज्जा नहीं रहती। विश्वनाथ ने प्रगल्भा के – १. स्मरान्धा, २. गाढतारुण्या, ३. समस्तरतकोविदा, ४. भावोन्नता, ५. दरव्रीडा और ६. आक्रान्तनायका ये छः प्रकार भी माने हैं।[१६] प्रगल्भा के इन भेदों के विषय में इतना भर उल्लेख करना पर्याप्त है कि विवाहित पति-पत्नी के एकान्त-व्यापार से सम्बन्धित होने के कारण इन प्रसंगों में पाठक को प्रायः अनौचित्य की अनुभूति तो नहीं होती, परं मध्या के इन भेदों के उदाहरणों से प्रेम-भाव का विशुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं होता। इस प्रकार के वर्णन मानसिक व्यभिचार को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध होते हैं।

विश्वनाथ की स्मरान्धा प्रगल्भा सखी से कहती है –

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि॥[१७]

---

१३. र० मं०, पृ० १९ 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या।
१४. वही, श्लो० ९, पृ० - २०
१५. वही, पृ० २२
१६. सा० द०, ३/७
१७. वही, ३/६०

हे सखि, तू धन्य है, जो प्रिय के समागम में सुरत के समय विश्वास और धैर्य के साथ – बड़े इतमीनान से – सैकड़ों नर्म वचन कहा करती है। मैं तो नीवी बन्धन से प्रियतम का करस्पर्श होते ही, हे सखियों, शपथ खाती हूँ, जो कुछ याद रहती हो। ऐसे प्रसंग पाठक के मानसिक व्यभिचार को तुष्ट करने में भले ही सफल हों पर इनसे एकान्ततः विशुद्ध प्रेम की अनुभूति हो, यह आवश्यक नहीं है। मान के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के तीन भेद किए गए हैं – १. धीरा, २. अधीरा, ३. धीराधीरा।[१८]

इनमें से मध्या धीरा पति के अपराध करने पर अपने कोप को वाणी (वक्रोक्ति) द्वारा प्रकट करती है, मध्या अधीरा कठोर वचनों का प्रयोग करती है एवं मध्या धीराधीरा कोप की अवस्था में कठोर वचन और रुदन दोनों करती है।[१९] इसी प्रकार प्रगल्भा धीरा नायकापराध से कुपित होकर सुरत में उदासीन रहती है, प्रगल्भा अधीरा तर्जन-ताडन (डांट-डपट, मार-पीट) करती है तथा प्रगल्भा धीराधीरा सुरत में उदासीन रहती है और तर्जन ताडन भी करती है।[२०]

मध्या एवं प्रगल्भा भेद के स्वरूप एवं उदाहरणों से अप्रत्यक्ष रूप में नायक के व्यभिचार, वंचना, कामलोलुपता एवं निर्लज्जता पर प्रकाश पड़ता है। अतः ये नायक पाठक की घृणा या क्षोभ के पात्र हैं। उदाहरणतया मध्या अधीरा का एक प्रसंग प्रस्तुत है :

जातस्ते निशि जागरो, मम पुनर्नेत्राम्बुजे शोणिमा,
निष्पीतं भवता मधु प्रविततं, व्याघूर्णितं मे मनः।
भ्राम्यद् भृङ्गघने निकुंजभवने लब्धं त्वया श्रीफलं,
पञ्चेषुः पुनरेव मां हुतवहक्रूरैः शरैः कृन्तति॥[२१]

कुपिता नायिका परस्त्री-गमनापराधी अपने प्रिय पर परुष वाक्य का प्रयोग करती हुए कहती है – "रातभर रतजगा तूने किया है और आँखों में लाली मेरी हो गई है। मधुपान तूने किया और मन मेरा चकरा रहा है। भौरों से भरे घने

---

१८. मध्याप्रगल्भे प्रत्येकं मानावस्थायां त्रिविधा। धीरा, अधीरा, धीराधीरा चेति। – र० मं०, पृ० २८

१९. मध्याया धीरायाः कोपस्य गीर्व्यञ्जिका। अधीरायाः परुषवाक्।
धीराधीरायाश्च वचनरुदिते कोपस्य प्रकाशके। – वही, पृ० २९

२०. प्रगल्भाया धीराया रतौदास्यम्। अधीरायास्तर्जनताडनादि। धीराधीराया रतौदास्यं तर्जनताडनादि च कोपप्रकाशकम्। – वही, पृ० २९

२१. वही, श्लो० १३, पृ० ३३

निकुंज-भवन में तूने श्रीफल (बिल्व फल एवं कुचनिधि) पाया और कामदेव अपने अग्नि के समान क्रूर बाणों से मुझे बींध रहा है।"

इस पद्य में (असङ्गति अलङ्कार के माध्यम से) पुरुष के व्यभिचार एवं नारी की अनियन्त्रित कामुकता प्रकट होती है। प्रेम का थोड़ा भी दर्शन यहाँ नहीं मिलता। ऐसे प्रसङ्ग रसाभास की ही सिद्धि करते हैं।

उपर्युक्त मध्या और प्रगल्भा के पति-प्रेम के आधार पर दो और भेद होते हैं – १. ज्येष्ठा और २. कनष्ठिा।[२२]

जिस पर पति का प्रेम अधिक हो वह 'ज्येष्ठा' और जिस पर अपेक्षाकृत कम प्रेम हो वह 'कनिष्ठा' कहलाती है।[२३]

नायिका के ये दो भेद रसाभास के विषय बनते हैं क्योंकि ज्येष्ठा और कनिष्ठा के उदाहरणों में नायक के असमान व्यवहार का प्रदर्शन अनिवार्य रहता है :

दृष्ट्वैकाशनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति॥[२४]

– एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रेयसियों को देखकर धूर्त नायक, आदरपूर्वक पीछे से आकर, क्रीड़ा के बहाने एक की आँखें मूँद करके, थोड़ी गर्दन घुमा के, प्रेम पुलकित मुसकुराती हुई दूसरी नायिका का चुम्बन करता है। यहाँ एक के प्रति अधिक प्रेम प्रतीत होता है। ऐसे प्रसंगों में पाठक को जहाँ एक ओर नायक की धूर्तता पर क्षोभ होता है, दूसरी ओर वंचिता नायिका (कनिष्ठा) की दयनीय अवस्था पर दुःख भी होता है।

२. परकीया :

धार्मिक और सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर जो नायिका गुप्त रूप

---

२२. एते च धीराऽऽदि षड् भेदा द्विविधाः – धीरा ज्येष्ठा कनिष्ठा च, अधीरा ज्येष्ठा कनिष्ठा च, धीराधीरा ज्येष्ठा कनिष्ठा च। – र० मं०, पृ० ४३-४४

२३. परिणीतत्वे सति भर्तुरधिकस्नेहा ज्येष्ठा, परिणीतत्वे सति भर्तुर्न्यूनस्नेहा कनिष्ठा। – वही, पृ० ४४

२४. सा० द०, ३/६४ (उदाहरण)।

से परपुरुष से अनुराग करती है, उसे परकीया कहते हैं।[२५] मुख्य रूप से परकीया के दो भेद हैं – १. परोढा और २. कन्यका।[२६] परोढा किसी अन्य पुरुष की विवाहिता स्त्री होती है। अतः उसका परकीयात्व स्वतः सिद्ध है। कन्या को परकीया कहने का अर्थ यह है कि वह पिता आदि के अधीन रहती है। परकीया की समस्त चेष्टाएं गुप्त होती हैं।[२७]

आचार्य मम्मट,[२८] विश्वनाथ[२९] और जगन्नाथ[३०] ने परनारी के साथ अनुचित व्यवहार को रसाभास का विषय माना है।

परकीया के अन्तर्गत १. गुप्ता, २. विदग्धा, ३. लक्षिता, ४. कुलटा, ५. अनुशयाना और ६. मुदिता नायिकाओं का अन्तर्भाव किया गया है।[३१] इन सभी नायिकाओं का प्रेम के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। समाज के समस्त विधि-निषेधों की अवहेलना करके ये अपनी अनियन्त्रित काम-वासना की पूर्त्ति में प्रयत्नशील रहती हैं :

१. गुप्ता : यह नायिका पर-पुरुष के साथ अपनी रति को गुप्त रखती है। सुरत-गोपन के काल-भेद के आधार पर गुप्ता के तीन भेद होते हैं – १. वृत्तसुरत गोपना (जो भूत काल में पर-पुरुष के साथ की हुई रति का गोपन करती है), २. वर्तिष्यमाण सुरतगोपना (जो होने वाली रति का गोपन करती है) और ३. वृत्तवर्तिष्यमाणसुरत गोपना (जो पूर्व विहित एवं होने वाली रति का गोपन करती है)।[३२]

---

२५. अप्रकटपरपुरुषानुरागा परकीया। - र० मं०, पृ० ५०

२६. सा द्विविधा परोढा कन्यका च। - वही, पृ० ५१

२७. कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता। अस्या गुप्तैव सकला चेष्टा। - वही, पृ० ५१-५२

२८. का० प्र०, ५/११९ (वृत्ति भाग)।

२९. सा० द०, ३/२६२-६३

३०. र० गं०, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५० (उपनायक निष्ठरति के उदाहरण के रूप में)।

३१. गुप्ता-विदग्धा-लक्षिता-कुलटाऽनुशयाना - मुदिताप्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः। - र० मं०, पृ० ५५

३२. गुप्ता त्रिधा-वृत्तसुरतगोपना, वर्तिष्यमाणसुरतगोपना, वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना च। - वही, पृ० ५६

२. विदग्धा : यह नायिका अपनी आन्तरिक भावना को चातुर्य से प्रकट करती है। यह दो प्रकार की होती है – १. वाग् विदग्धा और २. क्रियाविदग्धा।[३३]

१. जो नायिका वाणी द्वारा अपनी इच्छा को चतुरता पूर्वक प्रकट करती है, उसे वाग्विदग्धा कहते हैं। भानुदत्त की वाग्विदग्धा नायिका ठहरने के लिए स्थान के विषय में पूछते हुए पथिक से कह रही है –

निविडतमतमालवल्लिवल्ली-विचकिलराजिविराजितोपकण्ठे।

पथिक ! समुचिस्तवाद्य तीव्रे, सवितरि तत्र सरित्तटे निवासः॥[३४]

– हे पथिक ! मध्याह्न में सूर्यताप के प्रखर हो जाने पर आज तुम्हें नदी के तट पर ही ठहर जाना उचित है, क्योंकि उसके समीप ही लताएँ तमाल वन के चारों ओर घिरी हुई हैं और वहाँ मल्ली लताएं भी शोभित हो रही हैं।

यहाँ कोई विदग्धा नदी तट पर मध्याह्न में पथिक को विश्रामार्थ स्थान बताने के बहाने तमाल वन में सुरत के लिए मिलने का संकेत कर रही है। उसने अपनी इच्छा वाक्चातुर्य से प्रकट किया है, अतः वह वाग्विदग्धा नायिका है।

२. क्रियाविदग्धा नायिका अपनी (परपुरुष से सुरत की) इच्छा को क्रिया द्वारा प्रकट करती है :

दासाय भवननाथे बदरीमपनेतुमादिशति।

हेमन्ते हरिणाक्षी पयसि कुठारं विनिक्षिपति॥[३५]

– हेमन्त (जाड़े) के समय में घर के स्वामी ने नौकर को जब यह आदेश दिया कि बैर के वन का सफाया कर दो, तो उसकी पत्नी ने कुठार को पानी में फेंक दिया। (जिससे न कुठार मिले और न उसके प्रिय मिलन का स्थान बैर का वन कट सके)।

यहाँ नायिका ने कुठार को छिपा कर बड़ी चतुराई से बैर के वन को बचा लिया है, अतः यह क्रियाविदग्धा परकीया नायिका का उदाहरण है।

३. लक्षिता : इस नायिका की परपुरुषानुराग को उसकी सखियाँ जान लेती हैं। रहस्य-गोपन के उसके सभी प्रयास विफल हो जाते हैं। उदाहरणतया –

---

३३. विदग्धा च द्विविधा। वाग्विदग्धा क्रियाविदग्धा च। - र० मं०, पृ० ५८

३४. वही, श्लोक २३, पृ० ५८

३५. वही, श्लो० २४, पृ० ६०

यद् भूतं तद् भूतं यद् भूयात्तदपि वा भूयात्।
यद्भवति तद् भवति वा विफलस्तव कोऽपि गोपनायासः॥[३६]

– कोई नायिका पर-पुरुष से मिलकर लौट रही थी कि उसकी कोई एक सखी उसका यह रहस्य जान गई, पर भी, नायिका रहस्य को छुपाने का प्रयत्न करती है, तब उसकी सखी ने कहा –

– जो (तुम्हारा पर-पुरुष से मिलन) हुआ, सो हुआ, जो होने वाला है, वह भी हो अर्थात् भविष्य में भी उससे मिलने का प्रयत्न करती रहो और जो हो रहा है वह भी होता रहे, परन्तु इस सम्बन्ध में मेरे समक्ष तुम्हारा रहस्य को छिपाने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मुझे सब मालूम पड़ चुका है।

४. कुलटा : कुलटा नायिका अप्रकट रूप से अनेक पुरुषों की कामना करती है। भानुदत्त की कुलटा विधाता को उलाहना देते हुए कहती है :

एते वारिकणान् किरन्ति पुरुषान् वर्षन्ति नाम्भोधराः
शैलाः शाद्वलमुद्वहन्ति न सृजन्त्येते पुन र्नायकान्।
त्रैलोक्ये तरवः फलानि सुवते नैवारभन्ते जनान्
धातः कातरमालपामि कुलटाहेतो स्त्वया किं कृतम्॥[३७]

– हे विधाता ! मैं दीन शब्दों में पुकारती हूँ, तुमने मेरे (कुलटा के) लिए क्या किया ? ये मेघ जलकण बरसाते हैं, मेरे लिए पुरुषों को नहीं अर्थात् मैं जल-कणों की प्यासी नहीं, मुझे तो पुरुष चाहिएं। ये पहाड़ नये-नये घास उगाते हैं, मेरे लिए नायकों को उत्पन्न नहीं करते। तीनों लोकों में वृक्ष फलों को ही पैदा करते हैं, पुरुषों को नहीं।

कुलटा के इस उदाहरण से ऐसी नारी का चित्र सामने आता है, जो अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए अनेक पुरुषों की कामना कर रही है। यह नायिका व्यभिचार की साक्षात् मूर्त्ति है। सुरतानन्द ही इसके जीवन का लक्ष्य है।

५. अनुशयाना : भानुदत्त के अनुसार "जो नायिका संकेत स्थान के भ्रष्ट हो जाने अथवा अन्य किसी कारण से अपने प्रिय से न मिल सकने के कारण पश्चात्ताप करती रहे उसे अनुशयाना कहा जाता है।"[३८]

---

३६. र० मं०, श्लो० २५, पृ० ६२

३७. वही, श्लो० २६, पृ० ६३

३८. अनुशयाना यथा - वर्तमानस्थानविघटनेन भाविस्थानाभावशङ्कया स्वानधिष्ठितसङ्केतस्थलं प्रति भर्तुर्गमनानुमानेन चानुशयाना त्रिधा। - वही, श्लो० २७, पृ० ६५

समुपागतवति चैत्रे निपतति पत्रे लवङ्गलतिकायाः।
सुदृशः कपोलपाली शिव शिव तालीदलद्युतिं लभते।।[३९]

– कोई नायिका वसन्त का समय आने पर लवङ्गलता के गिर जाने पर इतनी शोकाकुल हो रही है कि उसकी आकृति पीली पड़ गई है। क्योंकि चैत्र मास (वसन्त) के आने से पूर्व लवङ्गलता का जो झुरमुट पत्तों की सघनता के कारण प्रिय मिलन का उचित स्थल बना हुआ था, अब वसन्त के आने पर, उसके पत्ते गिरते जा रहे हैं।

६. मुदिता : जो नायिका परपुरुष से सम्भोग-सुख की प्राप्ति की सम्भावना से प्रसन्न होती है, उसे मुदिता कहते हैं, जैसे –

गोष्ठेषु तिष्ठति पति र्बधिरा ननन्दा
नेत्रद्वयस्य न हि पाटवमस्ति यातुः।
इत्थं निशम्य तरुणी कुचकुम्भसीम्नि
रोमाञ्चकञ्चुकमुदञ्चितमाततान।।[४०]

अर्थात् तरुणी ने जब यह सुना कि ससुराल में उसका पति बधान (गोशाला) में रहता है, ननद बहरी है और जेठानी की आँखें भी मन्ददृष्टि की हैं तो उसके स्तनों के चारों ओर कंचुक के रूप में रोमांच भर आया।

उपर्युक्त गुप्ता आदि नायिकायें तत्कालीन समाज में व्याप्त अनाचार को सूचित करती हैं। लोक एवं शास्त्र दोनों की दृष्टि से ये नायिकायें तिरष्कार के पात्र हैं। ये अपने विवाहित पति को तो धोखा देती ही हैं, किसी अन्य पुरुष के साथ इनके सम्बन्ध का आधार भी विशुद्ध प्रेम न हो कर काम-प्रधान है। इनके लक्षणों एवं उदाहरणों के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि ये अपनी दूषित काम-वासना की तृप्ति के लिए पर-पुरुष को अपने जाल में फंसाए रखती हैं। इनमें भी कुलटा तो व्यभिचार की जीती जागती मूर्त्ति है। इनका जो चरित्र सामने आता है, उसमें प्रेम की प्रगाढता का कहीं भी दर्शन नहीं होता। ये नायिकायें भारतीय समाजिक की घृणा अथवा उपेक्षा का पात्र बनती हैं। अतः इनका काव्यबद्ध रूप रसाभास के विषय सिद्ध होते हैं।

३. सामान्या : जो नायिका मात्र धन के उद्देश्य से सभी प्रकार के पुरुषों से अनुराग करती है, वह सामान्या कहलाती है –

---

३९. र० मं०, श्लो० २७, पृ० ६५

४०. वही, श्लो० ३०, पृ० ७०

"वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्यवनिता"[४१]

सामान्या को ही वेश्या कहते हैं। 'यह न तो गुणहीन पुरुष से द्वेष करती है और न गुणवान् से प्रेम। इसका प्रेम मात्र धन से होता है।[४२] वेश्याओं के व्यवहार के विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र का एक रोचक पद्य है;

वित्तेन वेत्ति वेश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम्।
वित्तं विनाऽपि वेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम्॥[४३]

– धन के लोभ में आकर वेश्या कोढ़ी और वृद्ध व्यक्ति को कामदेव के सदृश समझती है और धन के बिना कामदेव सदृश पुरुष को भी कोढ़ी और जराजीर्ण समझती है। "चोर, नपुंसक, मूर्ख, अनायास से प्राप्त धन वाले, ब्रह्मचारी, सन्यासी आदि वेषधारी और गुप्त कामुक पुरुष प्राय: वेश्या के प्रेमी होती हैं।"[४४] धन के लोभ से पुरुष को झूठे प्रेम-जाल में फंसा कर उससे धन लूटना, अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर, उसे निर्धन जानकर उसकी उपेक्षा करना, फिर एक के बाद दूसरे, तीसरे व्यक्ति को अपने अधीन करना आदि वेश्या के कर्तव्य हैं। यही कारण है कि समाज की भांति काव्यादि में भी वेश्या सहृदय की घृणा का पात्र बनती है। अत: इसका वर्णन रसाभास का जनक होता है। संस्कृत के आचार्यों में शारदातनय,[४५] भानुदत्त[४६] एवं राजचूडामणि दीक्षित[४७] ने स्पष्ट शब्दों में तथा विश्वानाथ[४८] आदि ने अप्रत्यक्ष रूप में वेश्या के प्रेम में रसाभास स्वीकारा है।

---

४१. र० मं०, पृ० ७३

४२. सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न राग: स्याद् गुणिन्यपि॥ – शृं० ति०, १/१२०

४३. र० मं०, (सुषमा हिन्दी व्याख्या) पृ० ३६ से उद्धृत।

४४. तस्करा: पण्डका: मूर्खा: सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभा:॥ – सा० द०, ३/७०
– अन्य द्रष्टव्य शृं० ति०, १/१२४

४५. साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति।
निगुर्णेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि॥
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गार: कदाचन॥ - भा० प्र०, पृ० ९५-९६

४६. अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्॥ - र० त०, ८/२० वृत्ति भाग।

४७. "....... उत्तमप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक:" इति शृङ्गारलक्षणाद् वेश्याविषयत्वे शृङ्गारस्य सुतरामाभासत्वाच्च। - का० आलोक, ४/१७८ वृत्ति भाग।

४८. परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्॥ - सा० द०, ३/१८४

इसके विपरीत आचार्य रुद्रट वेश्या के वर्णन में भी रस ही स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि वेश्याएं केवल धन के लिए ही कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन नहीं करतीं, बल्कि किसी न किसी पुरुष के प्रति इनका भी सच्चा प्रेम होता है। और जहाँ सच्चा प्रेम होगा, वहाँ रसाभास नहीं मानना चाहिए। वेश्याओं को रागशून्य मानकर उनके वर्णन में रसाभास मानने वालों का उपहास करते हुए रुद्रट का कहना है कि "क्या उनके काम-भाव को बगुलों ने चर लिया है" – **तासां स्मरः किं भक्षितो बकैः –।**[४९] विश्वनाथ का भी मत है कि कहीं-कहीं वेश्या भी काम वश होकर 'सत्यानुरागिणी' होती है।[५०]

वस्तुतः श्रृङ्गार का मूलाधार प्रेम है। वेश्या धनादि के वश में होकर सर्वसाधारण के प्रति झूठा अनुराग प्रकट किया करती है। अपने इस कपटपूर्ण व्यवहार के कारण वह सामाजिक की घृणा का पात्र बनती है। काव्यादि में जहाँ इन की धूर्तता, वंचना एवं शोषण का चित्रण रहता है, वहाँ यह अनिवार्यतः पाठक की घृणा का विषय बनती है।

परन्तु कुशलकवि वेश्या की विवशता, सामाजिक उत्पीड़न आदि का प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत कर सहृदय के चित्त में उसके प्रति सहानुभूति जागृत करवा सकता है। उस स्थिति में किसी एक पुरुष के प्रति उसके विशुद्ध प्रेम-प्रदर्शन में सहृदय को रस की ही अनुभूति होगी; रसाभास की नहीं। महाकवि शुद्रक कृत मृच्छकटिक की वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति प्रेम इसका सुन्दर उदाहरण है।[५१] तात्पर्य यह है कि वेश्या के प्रेम में जहाँ व्यावसायिकता नहीं होती, वहाँ श्रृङ्गाराभास नहीं रहता। यह बात अवश्य है कि वेश्या के अनुराग वर्णन में, भले ही वह सच्चा हो, सहृदय को रस की उतनी तीव्र अनुभूति नहीं होती, जो स्वकीया आदि नायिकाओं के प्रेम वर्णन में सम्भव है। उसके निन्द्य पूर्वाचरण की स्मृति से रसानुभूति में शिथिलता की सम्भावना बनी रहती है।

कामुक प्रकृति के पाठकों की बात अलग है। वेश्याओं के हाव-भाव, काम-कला में निपुणता आदि के वशीभूत होकर, ये वेश्यागमन से ही अपने को धन्य समझते हैं।[५२] कामुक की दृष्टि में प्रेम का कोई मूल्य नहीं होता। उसे तो केवल वासना प्रिय होती है। अतः उसे वेश्या की तुलना में स्वकीया एवं परकीया - दोनों प्रकार की नायिकायें तुच्छ लगती हैं। रुद्रट के निम्नोक्त पद्य में इसी प्रकार के

४९. शृ० ति, २/१२०-१२२

५०. सा० दि०, ३/७१

५१. रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः। - वही, ३/७१ वृत्तिभाग।

५२. शृं० ति०, १/१२७

पाठकों की मनोवृत्ति प्रकट हुई है;

ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य निःशङ्ककेलि र्न पराङ्गनासु।
वेश्यासु चैतद्द्वितयं प्ररूढं सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य।।[५३]

दशानुसार नयिका के तीन भेद

भानुदत्त ने दशाभेद के अनुसार (एक मुग्धा को छोड़कर) स्वकीया, परकीया एवं सामान्या नायिका के तीन भेद स्वीकार किये हैं – १. अन्यसंभोगदुःखिता, २. वक्रोक्तिगर्विता, ३. मानवती।[५४]

१. अन्य संभोग दुःखिता – यह नायिका पर स्त्री के शरीर पर अपने प्रिय द्वारा किए गए सम्भोग चिह्न को देखकर दुःखित होती है – **'स्वप्रियसम्भोग-सूचकचिह्नवद्वनिताऽवगमजन्यत्वेन नायिकाविशिष्ट- दुःखवत्त्वमन्यसंभोग-दुःखितात्वम्'।**[५५] उदाहरणतया –

त्वं दूति निरगाः कुञ्जं न तु पापीयसो गृहम्।
किंशुकाभरणं देहे दृश्यते कथमन्यथा।।[५६]

नायिका ने प्रिय को बुलाने हेतु दूती को उसके घर भेजा। दूती उसे साथ लाने के बदले स्वयं उसके साथ सम्भोग करके लौट आई। नायिका ने उसके शरीर पर प्रिय के सम्भोग चिह्न को देखकर उसकी भर्त्सना की - अरी दूती ! तू यहाँ से कुंज की ओर चली गई, उस पापीनायक के घर नहीं। अन्यथा तेरे शरीर पर पलाश के लाल-लाल फूलों का आभरण कैसे दिखाई देता ? अर्थात् नायक द्वारा किए गए नखक्षतों से तेरे शरीर पर पलाश के फूलों के समान जो नखपद दिखाई पड़ रहे हैं, उससे निश्चित है कि तूने उस पापी के साथ सम्भोग किया होगा।

२. वक्रोक्तिगर्विता : यह दो प्रकार की होती है – प्रेमगर्विता और सौंदर्य-गर्विता। जो नायिका अपने प्रति प्रिय के अतिशय प्रेम का गर्व करे, उसे प्रेमगर्विता और जो अपने सौन्दर्य का गर्व वक्रोक्ति द्वारा प्रकट करे, उसे सौन्दर्यगर्विता कहते हैं।[५८]

---

५३. शृं० ति०, १/१२८
५४. र० मं०, पृ० ७७
५५. वही, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० ७८
५६. वही, श्लो० ३३, पृ० ७८
– मिलाइए – 'निश्शेषश्च्युतचन्दनं स्तनतटम्.....', का० प्र०, १/२ (उदा०)।
५७. र० मं०, पृ० ८०
५८. वही, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० ७८

३. मानवती : यह नायिका अपने प्रिय को अन्य स्त्री की ओर आकर्षित जानकर मान (कोप) करती है।[५९]

नायिका के उपर्युक्त १. अन्य संभोग दुःखिता, २. वक्रोक्तिगर्विता और ३. मानवती भेदों में से प्रथम तथा तृतीय भेद का आधार नायक-कृत अपराध है। इन नायिकाओं के सम्बन्ध से नायक का अप्रत्यक्ष रूप में जो परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट है कि वह शठ है, कामुक है, दुराचारी है। उसका प्रेमभाव से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। नायिकायें दीनता का पात्र बनी हैं। ऐसे प्रसंगों में सहृदय को शृङ्गाराभास की ही अनुभूति होगी।

वक्रोक्तिगर्विता के वर्णन से नायिका अथवा नायक के किसी प्रकार के व्यभिचार का परिचय नहीं मिलता, अतः परकीया एवं सामान्या को छोड़कर स्वकीया का वक्रोक्तिगर्विता भेद रस का ही विषय बन सकता है। लेकिन इसके वर्णन में भी कहीं ऐसा प्रतीत होने लगे कि नायिका अपने सौन्दर्य पर या प्रिय के प्रेम पर अत्यधिक गर्व कर रही है तो ऐसी स्थिति में वह पाठक की उपेक्षा का पात्र बन सकती है। तब वहाँ रस न रह कर, रसाभास की सम्भावना होगी।

वक्रोक्तिगर्विता नायिका यदि परकीया या सामान्या है तो शास्त्रीयदृष्टि से रसाभास का ही विषय होगी।

अवस्थानुसार नायिका के आठ भेद

अवस्था भेद से स्वकीया, परकीया और सामान्या नायिका के पुनः आठ भेद किए गए हैं – १. प्रोषितभर्तृका, २. खण्डिता, ३. कलहान्तरिता, ४. विप्रलब्धा, ५. उत्का, ६. वासकसज्जा, ७. स्वाधीनपतिका और ८. अभिसारिका।[६०]

१. प्रोषितभर्तृका :– देशान्तर में गए प्रिय के विरहजन्य सन्ताप से व्याकुल नायिका 'प्रोषितभर्तृका' कहलाती है –

देशान्तरगते प्रेयसि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका।[६१]

– यहाँ प्रिय से तात्पर्य कान्त से है, विवाहित पति से नहीं। अन्यथा परकीया और सामान्या के रूप में 'प्रोषितभर्तृका' का संग्रह नहीं हो सकेगा।[६२] स्वकीया के रूप में यह नायिका विप्रलम्भ शृङ्गार का आलम्बन बनती है। प्रिय के विरह से सन्तप्त इस नायिका की दयनीय दशा का वर्णन कर कवि इसके प्रति पाठक की

---

५९. र० मं०, पृ० ७८
६०. (क) वही, पृ० ८९
(ख) शृं० ति०, १/१३१-३२
६१. र० मं०, पृ० ९४; अन्य द्रष्टव्य, सा० द०, ३/८४
६२. र० मं०, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० ९४

पूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करा सकता है। कालिदास के 'मेघदूत' की नायिका यक्षिणी 'प्रोषितभर्तृका' है। कुबेर के शापवश अपनी प्रिया से वियुक्त यक्ष सुदूर विन्ध्याचल में विरह के दिन व्यतीत कर रहा है। इधर यक्षिणी उसके वियोग में पुनः मिलन की आशा लिए कथमपि प्राण धारण किए हुए हैं। 'मेघदूत' का पूरा उत्तरभाग यक्षिणी के रूप में विरह पीड़ित नारी की वेदना की कहानी है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्।[६३]

– मुझ सहचर के दूर होने पर चकवी के समान अकेली (अतएव) बहुत कम बोलने वाली उसे तुम मेरा दूसरा जीवित – मेरी प्राण-प्रियतमा समझना। मैं अनुमान करता हूँ कि अत्यधिक मानसिक विरह-व्यथा वाली लड़की बीतते हुए (विरह के कारण) भारी (हुए) इन दिनों में पाले से मारी हुई कमलिनी के समान कुछ की कुछ हो गई होगी।

विरह-व्यथित नारी का कितना सजीव चित्र है। यहाँ विरहिणी की जो दशा चित्रित हुई है, उससे नायिका का प्रिय के प्रति एकनिष्ठ गम्भीर प्रेम लक्षित होता है। रुद्रट द्वारा प्रस्तुत विरह संतप्त प्रोषित भर्तृका की अवस्था देखिए :-

उत्क्षिप्यालकमालिकां विलुलितामापाण्डुगण्डस्थला-
द्विश्लिष्यद्वलयप्रपातभयतः प्रोद्यम्य किंचित्करौ।
द्वारस्तम्भनिषण्णगात्रलतिका केनापि पुण्यात्मना
मार्गालोकनदत्तदृष्टिरबला तत्कालमालिङ्ग्यते॥ श्रृं० ति० १/१४८

– पीले गालों (दुर्बलता के कारण) पर गिरी हुई केश-राशि को ऊपर संभाल कर और खिसकते हुए वलय (कंगन) के गिर जाने के भय से हाथों को कुछ ऊपर उठाकर किसी की राह देखने में आखें लगाई हुई, द्वार के खम्भे से लग कर बैठी हुई, लता के समान शरीर वाली (कृशाङ्गी) नयिका का उसी समय आलिङ्गन कोई पुण्यात्मा ही करता है।

परन्तु स्वकीया के अतिरिक्त परकीया एवं सामान्या के रूप में 'प्रोषितभर्तृका' नायिका पाठक की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती है। इनमें से एक अपने पति के रहते किसी अन्य पुरुष के विरह में तड़पती है। अपने पति के रहते किसी अन्य पुरुष के विरह में व्यथित होने वाली नारी भारतीय पाठक की सहानुभूति भला कैसे पा सकती है ? फलतः उसकी विरह-पीड़ा में सहृदय को विशेष रुचि नहीं

---
६३. मेघदूत, उत्तमेघ, श्लो० २३

होती। परन्तु रस या रसाभास की अनुभूति सहृदय को होती है। अतः इस विषय में मतभेद का अवकाश बना रहता है।

सामान्या प्रोषितभर्तृका नायिका का सन्ताप मात्र पुरुष को धोखा देने के लिए होता है, मात्र धन के उद्देश्य से होता है। –

विरहविदितमन्तः प्रेम विज्ञाय कान्तः
पुनरपि वसु तस्मादेत्य मे दास्यतीति।
मरिचनिचयमक्ष्णो र्न्यस्य बाष्पोदविन्दून्
विसृजति पुरयोषिद् द्वारदेशोपविष्टा॥[६४]

– वेश्या अपने द्वार पर बैठ कर देशान्तर से लौटने वाले अपने कामुक की प्रतीक्षा कर रही है। वह अपनी आँखों में मरिच लगाकर आँसू बहा रही है। वह ऐसा यह सोच कर रही है कि जब कामुक अपनी प्रतीक्षा में द्वार पर बैठकर रोते हुए मुझे देखेगा तो अपने वियोग में मुझे विरहिणी जानकर-अपने प्रति मेरा आन्तरिक अनुराग समझ कर पहले की भाँति फिर भी आकर धन देगा।

वेश्या के इस व्यवहार से स्पष्ट है कि उसका पुरुष के प्रति अनुराग-प्रदर्शन एकमात्र धन-प्राप्ति के उद्देश्य से है। यह नायिका घृणा का आलम्बन बन सकती है, प्रेम का नहीं।

२. खण्डिता :– 'परस्त्री के सम्भोग चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाए वह ईर्ष्याकलुषित नायिका 'खण्डिता' कहलाती है।'[६५] उदाहरणार्थ –

वक्षोजचिह्नितमुरो दयितस्य वीक्ष्य
दीर्घं निश्श्वसिति जल्पति नैव किञ्चित्।
प्रातर्जलेन वदनं परिमार्जयन्ती
बाला विलोचनजलानि तिरोदधाति॥[६६]

– प्रिय जब प्रातः काल घर लौटा तो नायिका उसके वक्षस्थल को परस्त्री के स्तन से चिह्नित देखकर दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगी और मुँह से कुछ भी नहीं

---

६४. र० मं०, श्लो० ४३, पृ० १०१

६५. (क) अन्योपभोगचिह्नितः प्रातरागच्छति पति र्यस्याः सा खण्डिता। - वही, पृ० १०२

(ख) पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथितो धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ - सा० द०, ३/७५

६६. र० मं०, श्लो० ४५, पृ० १०४

बोली। प्रिय के इस दु:सह अपराध से उसकी आँखों में जो आँसू भर आए थे, उन्हें जल लेकर मुँह धोने के बहाने तिरोहित करने लगी, जिससे यह प्रकट न हो कि वह रो रही है।

यह पद्य प्रिय द्वारा वंचित नायिका की विवशता, दीनता और वेदना की गंभीरता से ओतप्रोत है। यह नायिका निस्सन्देह सहृदय की सहानुभूति का पात्र बनती है। साथ ही खण्डिता के वर्णन से अपराधी नायक का जो चित्र सामने आता है, उससे स्पष्ट है कि वह कामलोलुप है, वंचक है, शठ है। पाठक के मन में उसके प्रति रोष जागृत होता है। अत: स्वकीया खण्डिता का प्रसंग रसाभास का विषय है। परन्तु स्वकीया के अतिरिक्त परकीया एवं सामान्या खण्डिता की वेदना में उत्तरोत्तर भावगाम्भीर्य की न्यूनता का अनुभव होगा। सामान्या खण्डिता की वेदना से तो उपेक्षा भी हो सकती है। अनुभूति यहाँ भी रसाभास की ही होगी।

३. कलहान्तरिता :– नायक का अपमान करने के पश्चात् जो नायिका स्वयं ही अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करे वह 'कलहान्तरिता' कहलाती है।[६७] उदाहरणार्थ –

नो चाटु श्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नार्पितः।।[६८]

– मैंने प्रिय के प्रार्थना वचन अनसुने कर दिए, उनके दिये हुए पास रखे हार पर नजर भी न डाली। प्रियतम का प्रिय चाहने वाली अपनी सखी की बातों की भी परवाह न की। हन्त ! चरणों पर गिर कर जाते समय मूढ-बुद्धि मैंने उनको रोककर सहसा कण्ठश्लेष क्यों न किया !

कलहान्तरिता के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका नायक भी अपराध करके इसके सम्मुख उपस्थित होता है, तभी वह कोपवश उसका अनादर करती है। अपने प्रियतम से इसका भी सच्चा प्रेम लक्षित होता है। अत: यह नायिका भी सहानुभूति का ही पात्र बनती है। इसके वर्णन से यदि नायक के

---

६७. (क) पतिमवमत्य पश्चात्परितप्ता कलहान्तरिता – र० मं०, पृ० १०८
(ख) चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा।। – सा० द०, ३/८२

६८. सा० द०, ३/८२

व्यवहार पर क्षोभ उत्पन्न हो तो रसाभास की ही अनुभूति होगी। सामान्य कलहान्तरिता का प्रसंग अनिवार्यतः रसाभास का विषय है।

४. विप्रलब्धा :– संकेत स्थल पर प्रिय को न देखकर दुःखी होने वाली नायिका 'विप्रलब्धा' कहलाती है।[६९] विप्रलब्धा के वर्णन से नायक के सङ्केत स्थल पर न पहुँचने का कारण ज्ञात नहीं होता। यह नायिका रसाभास का विषय तभी बनती है, यदि सङ्केत स्थल पर प्रिय के न पहुँचने का कारण उसका अन्य स्त्री के साथ सम्बन्ध हो अथवा किसी अन्य कारण से उसके द्वारा नायिका की सर्वथा उपेक्षा प्रतीत हो। अपने प्रिय के प्रति इसकी पूर्ण निष्ठा है –

सङ्केतकेलिगृहमेत्य निरीक्ष्यशून्य-
मेणीदृशो निभृतनिश्श्वसिताधरायाः।
अर्धाक्षरं वचनमर्धविकासि नेत्रं
ताम्बूलमर्धकवलीकृतमेव तस्थौ॥[७०]

– सङ्केतस्थल को प्रिय शून्य देखकर मृगाक्षी का मन्द-मन्द सांसे भरना, मुँह से पूरा वचन न निकाल पाना, आँखों का अधखुली रह जाना, ताम्बूल को आधा भर चबा पाना, ये सब क्रियाएं प्रिय के बिना उसकी व्याकूलता प्रकट करती हैं।

५. उत्का :– जो नायिका सङ्केत स्थल पर पहुँच कर अपने प्रिय के न आने के कारण के विषय में सोचती है, उसे 'उत्का' कहते हैं।[७१] विश्वनाथ ने इसे 'विरहोत्कण्ठिता' कहा है।[७२] स्वकीया-उत्का का उदाहरण प्रस्तुत है –

किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः
किं वा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः।

---

६९. (क) सङ्केतनिकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया विप्रलब्धा। – र० मं०, पृ० ११५
(ख) प्रियः कृत्वापि सङ्केतं यस्या नायाति सन्निधिम्।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता॥ - सा० द०, ३/८३

७०. र० मं०, श्लोक ५५, पृ० ११७-११८

७१. (क) सङ्केतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति सोत्का। - वही, पृ० १२२
(ख) उत्का भवति सा यस्याः संकेतं नागतः प्रियः।
तस्यानागमने हेतुं चिन्तयत्याकुला यथा॥ - शृं० ति, १/१३५

७२. सा० द०, ३/८६

इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं चिरं च रुदितं क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः॥[७३]

– क्या किसी अन्य प्रियतमा ने उन्हें रोक लिया ? अथवा मेरी सखी ने ही अप्रसन्न कर दिया ? अथवा कोई गम्भीर कारण आ पड़ा, जिससे प्रियतम अब तक नहीं आए। इस प्रकार वितर्क करके मृगनयनी ने हथेली पर वदनारविंद को रखकर एक लम्बीं साँस ली और देर तक रोती रही। फिर फूल-मालायें उतार कर फेंक दीं।

यह नायिका भी सहृदय की सहानुभूति का पात्र बनती है। स्वकीया के रूप में इसका वर्णन शृङ्गार रस का विषय है।

६. वासकसज्जा :– 'आज मेरा प्रियतम आयेगा' यह निश्चय कर जो नायिका अपने अङ्गों एवं रतिगृह आदि को सजा कर तैयार रहती है, उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।[७४] स्वकीया प्रगल्भा वासकसज्जा का उदाहरण प्रस्तुत है :

कृतं वपुषि भूषणं चिकुरधोरणी धूपिता
कृता शयनसन्निधौ क्रमुकवीटिकासम्भृतिः।
अकारि हरिणीदृशा भवनमेत्य देहत्विषा
स्फुरत्कनककेतकीकुसुमकान्तिभि र्दुर्दिनम्॥[७५]

– प्रिय के प्रवास से लौटने के दिन मृगनयना नायिका ने अपने अङ्ग-अङ्ग में गहने पहने, केशपाश को सुरभि धूम से वासित किया, अपनी शैय्या के समीप कसैली और पान के बीड़े लगा कर रख दिये और अपनी देह की फैलती हुई कान्ति से सुवर्ण के केतकी-पुष्प का प्रभाजाल फैलाती हुई दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) का दृश्य उत्पन्न कर दिया। यह नायिका प्रायः 'औत्सुक्य' भाव का आलम्बन बनती है, परन्तु यदि इसकी चेष्टाओं से अत्यधिक कामातुरता प्रकट हो तो इसके प्रति घृणा भी उद्‌बुद्ध हो सकती है। तब वहाँ अनुभूति रस की न होकर रसाभास की होगी। परकीया एवं सामान्य वासकसज्जा रसाभास के ही विषय हैं।

---

७३. शृं० ति, १/१३६; सा० द०, ३/८६ (उदाहरण)।

७४. (क) अद्य मे प्रियावसर इति निश्चित्य या सुरतसामग्रीं सज्जीं करोति सा वासकसज्जा - र० मं०, पृ० १२८

(ख) भवेद् वासकसज्जासौ सज्जिताङ्गरतालया।
निश्चित्यागमनं भर्तुर्द्वारेक्षणपरा यथा॥ - शृं० ति०, १/१३७

(ग) सा० द०, ३/८५

७५. र० मं०, श्लो० ६६, पृ० १३१

७. स्वाधीनपतिका :– "स्वाधीनपतिका वह है जिस का प्रियतम सदा उसके अधीन रहता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है और आसक्तिवश कभी उसका संग नहीं छोड़ता।[७६]

इस नायिका का नायक 'अनुकूल' होता है – एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है।[७७] इस नायिका के वर्णन से एकनिष्ठ प्रेम की अनुभूति होती है। स्वकीया नायिका का यह भेद निर्भ्रान्त रूप से रस का विषय है। परन्तु यदि किसी कवि का उद्देश्य नायक को ज़ोरू का गुलाम दिखाकर उसका उपहास उड़ाना रहा हो तो यह प्रसङ्ग भी रसाभास का उदाहरण बन सकता है। स्वाधीनपतिका का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः।
किं त्वन्येऽपि जनाः वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम्॥[७८]

सखी के प्रति नायिका की उक्ति है – हे सखि ! न तो मेरे वस्त्र ही रमणीय हैं और न गले का भूषण साफ सुथरा है। न अटखेलियों की चाल है और न उद्धत हँसी ही है – (तात्पर्य यह है कि प्रियतम को रिझाने वाली कोई बात मुझ में नहीं है) किन्तु और लोग भी यही कहते हैं (मैं तो जानती ही हूँ) कि "सुन्दर स्वरूप होने पर भी इसका प्रियतम दूसरी स्त्रियों की ओर दृष्टि भी नहीं डालता" बस, मैं तो इसी से संसार भर को (अपने सिवा) दुःख में समझती हूँ। यहाँ स्त्री-पुरुष की एक दूसरे में पूर्ण आस्था प्रकट होती है।

८. अभिसारिका :– जो नायिका काम के वशीभूत होकर किसी संकेत स्थल पर नायक को बुलाये अथवा स्वयं जाये वह "अभिसारिका" कहलाती है।[७९]

---

७६. (क) सदा साऽऽकूताज्ञाकर-प्रियतमा स्वाधीनपतिका।
– निरन्तराज्ञाकरप्रियत्वमित्यर्थः। - र० मं०, पृ० १३४
(ख) कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका॥ - सा० द०: ३/७४

७७. सा० द०, ३/३७

७८. (क) वही, ३/७४; ३/३७ (उदाहरण)।
(ख) शृं० ति०, १/३०

७९. (क) स्वयमभिसरति प्रियमभिसारयति वा या साऽभिसारिका - र० मं०, पृ० १४०
(ख) अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका॥ - सा० द०, ३/७६

यद्यपि दूती आदि के माध्यम से नायक को अपने पास बुलाने वाली नायिका को भी 'अभिसारिका' ही कहा जाता है, परन्तु नाट्यादि में अधिकतर नायिका को ही प्रिय के पास जाती हुई दिखाया जाता है। यह नायिका मार्ग में पड़ने वाली सभी प्रकार की बाधाओं को सहन करती हुई प्रिय के पास पहुँचती है। मध्या अभिसारिका का एक चित्र प्रस्तुत है :

भीताऽसि नैव भुजगात्पथि मद्भुजस्य
सङ्गे पुनः कमपि कम्पमुरीकरोषि।
अम्भोधरध्वनिभिरक्षुभिताऽसि तन्वि
मद्वाचि साचिवदनाऽसि किमाचरामि॥[८०]

वर्षा काल में बीहड़ मार्गों को पार कर पहुँची हुई प्रिया से प्रियतम की उक्ति है – हे कृशाङ्गी ! तुम मार्ग में सर्प से भी नहीं डरीं, किन्तु मेरे भुज के स्पर्श मात्र से कोई विलक्षण कम्प कर रही हो। मेघों की गम्भीर गड़गड़ाहट से भी नहीं डरीं, किन्तु मेरी बाणी से उद्विग्न होकर (या लज्जा से) मुँह घुमा रही हो। तुम्हें प्रसन्न करने के लिए क्या करूँ। यहाँ नायिका में काम और लज्जा के परस्पर द्वन्दों का सुन्दर चित्रण हुआ है। अनेक कष्टों को सहती हुई, प्रिय मिलन के लिए प्रस्थित यह नायिका जहाँ एक ओर पाठक की उत्सुकता का आलम्बन बनती है, वहीं दूसरी ओर नायिका के इस आचरण पर वह उस (नायिका) के चरित्र के विषय में सन्देह भी करने लगता है। परन्तु फिर भी स्वकीया अभिसारिका रसाभास का विषय तभी बनती है, जब कवि का उद्देश्य उसकी अत्यधिक कामुकता दिखाकर उसके प्रति घृणा उत्पन्न करना हो। अन्यथा सामाजिक अड़चनों के कारण प्रियमिलन से वंचित किसी नायिका को यदि प्रेम-वश प्रियमिलन के लिए अभिसरण करती हुई दिखाया जाये, तो उससे रसाभास की अनुभूति नहीं होगी।

वस्तुतः स्वकीया अभिसारिका की मान्यता उस सामाजिक परम्परा की ओर सङ्केत करती है, जिसमें विवाहित पति-पत्नी गुरुजनों के समक्ष प्रेम प्रकट नहीं करते थे। इसके मूल में लज्जा की भावना थी। ऐसी दशा में उन्हें ऐसे एकान्तस्थल की आवश्यकता पड़ती थी, जहाँ पर मिलकर वे एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रकट कर सकें। आज के विवाहित स्त्री-पुरुष को प्रेमालाप के लिए किसी सङ्केत स्थल पर जाने की आवश्यकता नहीं। अतः आज स्वकीया अभिसारिका को यथावत् मान्यता प्रदान करने में आपत्ति उठाई जा सकती है।

परकीया एवं सामान्या अभिसारिका रसाभास के विषय हैं।

---

८०. र० मं०, श्लो० ७६, पृ० १४२-१४३

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ऊढा परकीया के रूप में उपर्युक्त आठों नायिकायें नैतिकदृष्टि से रसाभास के ही विषय हैं।

परन्तु आज की बदलती हुई मूल्यदशाओं में इसे सर्वत्र यथावत् स्वीकार करना कठिन है। आज का पाठक कई बार पुराने आदर्शों का विरोध कर बैठता है। यही कारण है कि आधुनिक उपन्यासों में पति के घोर अत्याचारों के कारण सम्बन्धविच्छेद हो जाने पर द्वितीय पति अथवा प्रेमी विषयक रति का भी रस रूप में ही आस्वाद संभव हो गया है। वेश्या का प्रेम शुद्ध व्यावसायिक होता है, अतः उसका प्रेम-वर्णन रसाभास है। परन्तु यदि उसका भी किसी पुरुष के प्रति सच्चा अनुराग दिखाया जाए तो वेश्या का प्रेम भी रस का विषय बन सकता है। अतः अपवाद की सम्भावना यहाँ भी बनी रहती है। वस्तुतः रस अथवा रसाभास की अनुभूति के लिए कवि विवक्षा एवं सहृदयचित्त उत्तरदायी हैं। अतः किसी प्रसङ्ग की अनुभूति के विषय में एक निश्चित निर्णय लेना दुष्कर है।

गुण के अनुसार नायिका के तीन भेद किए गए हैं – १. उत्तमा, २. मध्यमा और ३. अधमा। जो नायिका प्रिय के अहित करने पर भी उसका हित करती है, वह उत्तमा[८१], २. जो प्रिय के हित के बदले हित और अहित के बदले उसका अहित करती है, वह मध्यमा[८२] और ३. जो प्रिय के हित करने पर भी अहित करती है, वह अधम कहलाती है।[८३] इनमें से उत्तमा एवं अधमा का वर्णन रसाभास के विषय हैं। उत्तमा के वर्णन से परोक्षतः नायक का अपराध एवं नारी की विवशता प्रकट होती है। यह नायिका उत्तमा इसी लिए है कि यह अपराधी नायक पर रोष प्रकट करने के बदले उसका हित करती है –

पतिश्शयनमागतः कुचविचित्रितोरस्थलः
प्रसन्नवचनामृतैरयमतर्पि वामभ्रुवा।
अचर्चि सुभगस्मितद्युतिपटीरपङ्कद्रवै-
रपूजि विलसद्विलोचनचमत्कृतैरम्बुजैः॥[८४]

– किसी दूसरी नारी के गाढ आलिङ्गन द्वारा चित्रित वक्ष वाला प्रिय जब शयन पर आया तो सुन्दर भौहों वाली नायिका ने प्रसन्न होकर अपने प्रिय वचन के अमृत से उसे तृप्त किया। उसने अपने शोभन स्मित की कान्ति के चन्दन पङ्क के द्रव से चर्चित किया तथा अपने विलसित नेत्र-विभ्रमों के कमलों से उसकी अर्चना की।

---

८१. अहितकारिण्यपि प्रियतमे हितकारिण्युत्तमा - र० मं०, पृ० १५८

८२. हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती मध्यमा - वही, पृ० १५९

८३. हितकारिण्यपि प्रियतमेऽहितकारिण्यधमा - वही, पृ० १६०

८४. र० मं०, श्लोक ८९, पृ० १५८

ऐसी नायिका सामन्तवादी परम्परा में भले ही उत्तमा कहलाती रही हो, परन्तु आज का विवेकशील पाठक स्त्री की इस विवशता को गुण का नाम देकर सन्तुष्ट नहीं होता। वह पुरुष एवं समाज के अत्याचार के प्रति विरोध प्रकट करना नारी का कर्तव्य समझता है। ऐसी नायिका के वर्णन से उसे एक ओर नायक पर क्षोभ होता है, दूसरी ओर नारी की विवशता, परतंत्रता, भीरुता पर उसके चित्त में दया भी जागृत होती है।

अधमा के वर्णन से नारी के दुस्स्वभाव एवं अभद्र व्यवहार व्यक्त होते हैं। अतः यह भी रसाभास का विषय है।

मध्यमा के वर्णन में पाठक की सहानुभूति नायिका से होती है। यह प्रसङ्ग रसाभास तभी बन सकता है, यदि इसके वर्णन से नायक के लघु अपराध के बदले नायिका की अत्यधिक अहित-चेष्टा प्रकट हो।

नायक भेद :

भानुदत्त ने नायिका के स्वकीया, परकीया, सामान्या भेद के समान नायक के भी तीन मुख्य भेद किये हैं – १. पति, २. उपपति और ३. वैशिक।[८५]

१. पति : स्त्री के साथ विधिवत् विवाहित नायक पति कहलाता है – **विधिवत्-पाणिग्राहकः पतिः।**[८६] पति-पत्नी का प्रेम शास्त्र एवं लोक सम्मत है। अतः पति का वर्णन रस का विषय है। परन्तु पति-पत्नी के प्रेम के नाम पर सम्भोग का अति नग्न चित्रण - कोरा यौन चित्रण - रसाभास का ही जनक होगा। **स्वभाव के अनुसार पति के चार भेद किये गये हैं** – (क) अनुकूल, (ख) दक्षिण, (ग) धृष्ट और (घ) शठ।[८७]

क. अनुकूल :– जो नायक सदा अपनी एक ही पत्नी से प्रेम करे, अन्य स्त्रियों से विमुख रहे, वह 'अनुकूल' कहलाता है।[८८] दशरूपककार ने इसे

---

८५. 'स च त्रिविधः - पतिरुपपतिर्वैशिकश्चेति' - र० मं०, पृ० १७१

८६. वही, पृ० १७१

८७. 'अनुकूल - दक्षिण - धृष्ट - शठभेदात्पतिश्चतुर्धा' - वही, पृ० १७३

८८. (क) अनुकूलतया नार्यां सदा त्यक्तपराङ्गनः।
सीतायां राघवत्सोऽयमनुकूलः स्मृतो यथा।। - शृं० ति०, १/२९

(ख) अनुकूल एकनिरतः' - सा० द०, ३/३७

(ग) 'सार्वकालिकपराङ्गनापराङ्मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्तोऽनुकूलः' – र० मं०, पृ० १७३

एकनायिक-एक नायिका में अनुराग रखने वाला कहा है।[८९] अनुकूल नायक के वर्णन में प्रेम के गाम्भीर्य का अनुभव होता है। ऐसे प्रसङ्गों में अनौचित्यानुभूति का प्रश्न ही नहीं होता। भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित' के रामचन्द्र 'अनुकूल' नायक हैं :

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥[९०]

– "सीता का प्रेम सुख तथा दुःख दोनों ही अवस्थाओं में एक-सा है, उसमें कोई भी फर्क नहीं आया; वह हर दशा में एक-सा रहा है। सीता का वह प्रेम हृदय को शान्ति देने वाला है, तथा प्रौढावस्था (वृद्धावस्था) के आने पर भी उसकी सरसता में कमी नहीं पड़ने वाली है। अच्छे व्यक्ति का ऐसा अच्छा कल्याणकारी प्रेम, जो समय के व्यतीत होने पर, परिपक्व स्नेह में स्थित है, क्योंकि समय ने बीच के पर्दे को हटा दिया है, किसी तरह ही प्राप्त किया जा सकता है।"[९१]

रसिक या कामुक प्रवृत्ति के पाठक भले ही ऐसे प्रेम की महत्ता को न समझें परन्तु सच्चे अनुभूतिशील पाठक को इसमें प्रगाढ दाम्पत्य-प्रेम की अनुभूति होती है।

ख. दक्षिण :– विश्वनाथ एवं भानुदत्त के अनुसार दक्षिण नायक वह है जो अनेक नायिकाओं से बराबर और अकृत्रिम अनुराग करता है।[९२] उदाहरणार्थ –

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिका॥[९३]

---

८९. '....... अनुकूलस्त्वेकनायिकः' – दशरूपक, २/७

९०. वही, २/७ वृत्तिभाग; उत्तररामचरित, १/३९

९१. द० रू०, २/७ वृत्तिभग, 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या, पृ० ८८

९२. (क) 'एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः' – सा० द०, ३/३५
(ख) सकलनायिकाविषयकसमसहजानुरागो दक्षिणः - र० मं०, पृ० १७४

९३. दशरूपक, २/७; सा० द०, ३/३५ के अन्तर्गत।

प्रतिहारी की किसी से उक्ति है – मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार जानकर जब महाराज से यह निवेदन किया कि आज कुन्तलेश्वर की पुत्री ऋतु-स्नान करके निवृत्त हुई है और दिन आज अङ्गराज की बहिन के यहाँ जाने का नियत है। एवं कमला ने आपसे आज की रात्रि जूए में जीत ली है और रूठी हुई महारानी को आज मनाना भी है तो इन बातों को सुनकर वे किंकर्तव्य-विमूढ होकर दो-तीन घड़ी तक चुप बैठे रहे। इस पद्य से राजा का सब रानियों में समान अनुराग प्रतीत होता है। यदि किसी में विशेष अनुराग होता तो इतने सोच-विचार की आवश्यकता नहीं थी। कारण ऐसे हैं कि सभी के यहाँ जाना चाहिये, परन्तु अकेले राजा कहाँ-कहाँ जायें, इसी की चिन्ता है।"[९४]

इस प्रकार यद्यपि महाकवियों ने दक्षिण नायक का अनेक नायिकाओं से समान अनुराग दिखाया है, परन्तु यह पूर्णतः अस्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम स्वभावतः एकनिष्ठ होता है।

वस्तुतः दक्षिण-नायक की मान्यता पुरुषसत्तात्मक समाज की देन है। अपनी प्रभुता के बल पर पुरुष नारी को भोग-सामग्री समझता रहा है। नारी के प्रति पुरुष की भावना अभिनवभारती में इस प्रकार व्यक्त हुई है – "पुरुष स्वयं भोक्ता होने के कारण प्रधान है। नारी उसकी भोग्या है। भोक्ता होने के कारण पुरुष को भोग्य के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता है, जबकि भोग्या होने के कारण नारी सर्वथा परतन्त्र है। भोक्ता को अधिकार है कि वह जिस या जितने भोग्य को चाहे, अपना ले। इसीलिए भोक्ता के नायिकान्तर संयोग में भी शृङ्गार-हानि नहीं होती, परन्तु परतन्त्र होने के कारण भोग्या (नारी) का अन्य पुरुष के साथ सम्मिलन होने पर शृङ्गारभंग अवश्य हो जाता है।"[९५]

---

९४. सा० द०, ३/३५ (उदाहरण) 'विमला' हिन्दी व्याख्या, पृ० ६९ अल्लराज के अनुसार यहाँ नायक का जूए में विजित रात्रि में कमला के प्रति दृढ अनुराग लक्षित होता है, अन्यों में व्यवहारमात्र की प्रतीति होती है, अतः यहाँ रस है - 'अत्रान्यासु व्यवहारमात्रप्रतीतेः द्यूतविजितरात्रौ कमलायामनुरागो व्यज्यते इति रसः - (रसरत्न प्रदीपिका, ६/४८, वृत्ति भाग, पृ० ४१) – इस सम्बन्ध में उनका मत है कि एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ प्रेम करना अनुचित है, अतः वह रसाभास है, परन्तु पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ सम्बंध होने पर भी यदि नायक का दृढ़ अनुराग किसी एक नायिका के साथ लक्षित हो तो वहाँ रस ही होगा। (र० र० प्र०, ६/४७, वृत्तिभाग, पृ० ४१)

९५. तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमादायास्तु भोग्यात्वम्। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृंगारहानिः। भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मिलने शृंगारभङ्गः। - ना० शा० 'अभिनवभारती', ६/४६

यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने पुरुष की अनेक कामिनी विषयक कामना का औचित्य सिद्ध करते हुए उसे रस की सीमा में बनाए रखने का प्रयास किया है। शिङ्गभूपाल दक्षिणनायक के प्रसङ्ग में उक्त प्रश्न को उठाकर कहते हैं कि 'दक्षिणनायक वृत्तिमात्र से अनेक नायिकाओं के साथ साधारण भाव रखता है, राग के कारण नहीं। उसका अनुराग तो किसी एक ही नायिका में प्रौढ (दृढ़) होता है; शेष नायिकाओं में उसका अनुराग किसी में मध्यम और किसी में मन्द होता है। इस प्रकार उसके प्रेम में तारतम्य तो रहता ही है। केवल व्यवहार वह सब के साथ बराबर का करता है। अत: उसका प्रेम रसाभास नहीं होता। लेकिन उनके अनुसार जहाँ नायक के अनुराग-व्यवहार में वैषम्य होगा, वहाँ रसाभास होगा, रस नहीं।[९६] तात्पर्य यह है कि दक्षिणनायक के प्रेम में तो वैषम्य रहता है, पर व्यवहार वह सभी नायिकाओं के साथ समानता का करता है। लेकिन इसके विपरीत यदि कहीं नायिकाओं के प्रति उसके व्यवहार की विषमता अथवा प्रेम की समता प्रकट हो तो वहाँ रसाभास ही होगा। अल्लराज का भी मत है कि पुरुष द्वारा अनेक स्त्रियों का उपभोग दिखाने पर भी उसका प्रेम यदि एक ही नायिका में लक्षित होता हो तो वहाँ रस ही होगा, रसाभास नहीं।[९७]

अवधारणीय है कि दक्षिण नायक के विषय में शिङ्गभूपाल का विचार उपर्युक्त विश्वनाथ एवं भानुदत्त के मत से थोड़ा भिन्न है। विश्वनाथ एवं भानुदत्त की मान्यता के अनुसार दक्षिण नायक अनेक महिलाओं में समान अनुराग रखता है, जब कि शिङ्गभूपाल के अनुसार दक्षिण नायक का दृढ़ अनुराग किसी एक ही नायिका में रहता है। दिखावे के लिए व्यवहार वह अवश्य सब में सहृदयता (समानता) का रखता है। दक्षिणनायक के विषय में उनका यह विचार रुद्रट से प्रभावित है। रुद्रट के अनुसार जो नायक अन्य स्त्री में अनुरक्त होकर भी पहली स्त्री के प्रति गौरव, भय, प्रेम और दाक्षिण्य के भाव का त्याग नहीं करता, वह 'दक्षिण' कहलाता है।[९८]

---

९६. दक्षिणस्य नायकस्य नायिकास्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं, न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढत्वमितरासु तु मध्यमत्वं मन्दत्वं चेति तदनुरागस्य नाभासता। अत्र तु वैषम्येणानेकत्रप्रवृत्तेराभासत्वमुपपद्यते। - र० अ० सु०, पृ० २०५

९७. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते तदा रस एव स्यात्। - र० र० प्र०, ६/४७, वृत्ति भाग, पृ० ४१

९८. ये गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति।
न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ दक्षिणो यथा।। – शृं० ति०, १/३१

हमारा विचार है कि न तो एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ समान अनुराग बनाए रख सकना स्वाभाविक है और न ही एक स्त्री से दृढ़ अनुराग हो जाने पर अन्यों से समान व्यवहार रख पाना सम्भव है।

परन्तु जहाँ तक काव्य की बात है योग्य कवि इन दोनों स्थितियों का कुशलतापूर्वक वर्णन कर रसिक पाठक को रसानुभूति कराने में समर्थ हो सकता है। महाकवियों की रचनाओं में दक्षिणनायक के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें रसिक प्रकृति का पाठक बड़ी रुचि के साथ ग्रहण करता है।

ग. धृष्ट – जो नायक अपराध करके भी निडर रहे, झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित न हो और दोष दीख जाने पर भी झूठ बोलता जाय, वह 'धृष्ट' कहलाता है।[९९] भानुदत्त के अनुसार 'धृष्ट' नायक वह है जो बार-बार अपराध करके भी निश्शङ्क रहे और बार-बार रोके जाने पर भी बार-बार अनुनय-विनय में लगा रहे।[१००] विश्वनाथ ने धृष्ट नायक का निम्नोक्त उदाहरण दिया है –

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं, ततः
पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि।
किंचित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे,
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः।।[१०१]

कोई धृष्ट नायक अपना रहस्य किसी मित्र को सुना रहा है – क्रोध में भरी उस कामिनी का लाल मुख देख कर मैं चुम्बन करने के लिए उसके पास गया। तब उसने लात मारी। मैं झट से उसे (लात को) पकड़कर हँसने लगा। हे मित्र ! उस समय कुछ न कर सकने के कारण आँसू बहाती हुई उस कुटिल भृकुटि वाली सुन्दरी का क्रोध भी याद आने पर बड़ा कौतूहल पैदा करता है।

धृष्ट के इन लक्षणों एवं उदाहरण से स्पष्ट है कि वह कामुक है, स्त्री को वह केवल भोग--सामग्री समझता है। नैतिक दृष्टि से यह नायक रसाभास का विषय है।

---

९९. (क) निःशङ्कः कृतदोषोऽपि निर्लज्जस्ताडितोऽपि सन्।
मिथ्यावाग्दृष्टदोषोऽपि धृष्टोऽयं कथितो यथा।। - शृं० ति०, १/३६

(ख) कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः।। - सा० द०, ३/३६

१००. भूयो निश्शङ्ककृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भूयः प्रश्रयपरायणो धृष्टः – र० मं०, पृ० १७५

१०१. सा० द०, ३/३६ (उदाहरण)

घ. शठ – 'जो नायक अनुरक्त तो और किसी में हो, परन्तु प्रकृत नायिका में भी बहारी अनुराग दिखलाये और प्रच्छन्न रूप से उसका अप्रिय करे, ऐसा नायक 'शठ' कहलाता है।[१०२]

भानुदत्त के अनुसार शठ नायक अपराधी होकर भी कामिनी को ठग लेने में चतुर होता है।[१०३]

दशरूपककार एवं विश्वनाथ ने इस का निम्नलिखित उदाहरण दिया है –

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत्क्वाचक्षे धृतमधुमयत्वद्बहुवचो –
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति॥[१०४]

नायिका की चतुर सखी नायक से कहती है – हे शठ ! दूसरी नायिका की करधनी की आवाज सुनकर, इस नायिका (मेरी सखी) के आलिङ्गन के समय ही जो तूने बाहुपाश को ढीला कर लिया था – यह बात किससे कहूँ। घी और शहद के मिश्रण के समान चिकनी-चुपड़ी, मिठी-मिठी किन्तु विषमय तेरी बातों से विमोहित यह मेरी सखी कुछ भी नहीं समझती – (घी और शहद बराबर मिलाने से विष हो जाता है। वह यद्यपि खाने में मीठा और स्निग्ध होता है, परन्तु परिणाम में मादक या मारक होता है)।

इस प्रकार का कपटी, वंचक नायक सहृदय सामाजिक की घृणा अथवा क्षोभ का पात्र बनता है। अतः शठनायक का प्रसङ्ग अनिवार्यतः रसाभास की परिधि में आता है।

२. उपपति :– जो पुरुष स्त्री के आचार अर्थात् धर्मानुष्ठान के विनाश का कारण होता है, उसे उपपति कहते हैं – **आचारहानिहेतुः पतिरुपपतिः।**[१०५]

---

१०२. शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।। – सा० द०, ३/३७

१०३. कामिनीविषयककपटपटुः शठः। – र० मं०, पृ० १७६

१०४. (क) द० रू०, २/७ के अन्तर्गत।
(ख) सा० द०, ३/३७ के अन्तर्गत।

१०५. र० मं०, पृ० १७७

उपपति को ही जार भी कहा जाता है।[१०६] जार ही दुराचारिणी स्त्रियों के काम आता है। जैसा कि शिङ्गभूपाल का कथन है :–

लङ्घिताचारया यस्तु विनाऽपि विधिना स्त्रिया।
सङ्केतं नीयते प्रोक्तो बुधैरुपपतिस्तु सः।।[१०७]

नैतिकता एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उपपति की मान्यता नितान्त आपत्तिजनक है। शास्त्रों में भी सदाचार से भ्रष्ट स्त्री-पुरुष के लिए कठोर दण्डों का निर्देश किया गया है।[१०८] जिस समाज में पति-सेवा को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया हो,[१०९] उसकी नारी यदि पर पुरुष के साथ व्यभिचार में संलग्न हो तो उससे पाठक को अनौचित्य की अनुभूति होगी ही। अतः परकीया नायिका की भाँति, नायक का उपपति भेद भी रसाभास का ही विषय है।

भानुदत्त ने पति की भाँति उपपति के भी १. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ, ४. धृष्ट – ये चार भेद माने हैं। परन्तु उनका विचार है कि उपपति में शठत्व धर्म तो नियत रहता है, अन्य तीन धर्म उसमें नियत नहीं है।[११०]

उपपति के ये चारों भेद ही रसाभास हैं।

वैशिक : वेश्या के उपभोग में अत्यन्त रसिक नायक 'वैशिक' कहलाता है – **'बहुलवेश्योपभोगरसिको वैशिकः।'**[१११] वैशिक नायक अनेक वेश्याओं का

---

१०६. आचारो धर्मानुष्ठानं तद्विनाशहेतुः पति र्नायक उपपतिर्जार इत्यर्थः – र० मं०, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० १७७

१०७. वही, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० १७७ से उद्धृत।

१०८. (क) भर्तारं लङ्घयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते।। – मनुस्मृति, ३/३७१
(चौ० संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, सन् १९६५)।

(ख) अन्य द्रष्टव्य, वही, ५/१६१

(ग) परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
उद्वेजनकरै र्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्।। – वही, ८/३५२

(घ) द्रष्टव्य, वही, ८/३७२

१०९. नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।। – वही, ५/१५५; अन्य द्रष्टव्य, वही, ५/१५४; ५/१५६

११०. उपपतिरपि चतुर्धा। परन्तु षठत्वं तत्र नियतम्, अनियताः परे। – र० मं०, पृ० १७९

१११. वही, पृ० १७९

भी उपभोग करता है अथवा एक वेश्या के साथ अत्यन्त उपभोग करता है।[११२] नायक का यह भेद सामान्या (वेश्या) नायिका के समानान्तर है। अतः इसमें रसाभास की स्थिति उसी के अनुसार समझनी चाहिए। भानुदत्त ने वैशिक नायक का यह उदाहरण दिया है :

काञ्चीकलक्वणितकोमलनाभिकान्तिं
पारावतध्वनितचित्रितकण्ठपालिम्।
उद्भ्रान्तलोचनचकोरमनङ्गरङ्ग-
माशास्महे कमपि वारविलासवत्या॥[११३]

कोई वैशिक नायक वेश्या के साथ होने वाले मदनोत्सव की आशा प्रकट करते हुए कहता है – वेश्या के किसी अपूर्व मदन-महोत्सव की हम लोग आशा करते हैं, जिसमें उसकी काञ्ची की अव्यक्त मधुर ध्वनि के श्रवण के साथ उसकी कोमल नाभि की कान्ति अभिलक्षित होती रहती है, जिस में मणित की आवाज़ कपोत के कण्ठ की आवाज का चित्रमय अनुकरण लिए होती है और उसकी आँखें चकोर की भाँति उद्भ्रान्त रहती हैं।

ऐसे प्रसङ्गों से मानसिक व्यभिचार या यौनाचार की प्रवृत्ति ही भड़केगी। नैतिकता की दृष्टि से ऐसे काव्यों को रसाभास के अन्तर्गत मानना ही अधिक सङ्गत है। वैशिक के वर्णन में शृङ्गार रस के मूल आधार प्रेम का कहीं दर्शन नहीं होता। वेश्या के साथ उसके सम्बन्ध का आधार मात्र काम है। अत एव भानुदत्त ने वैशिक की रति को स्पष्ट शब्दों में रसाभास माना है।[११४] अन्य आचार्यों ने भी प्रकारान्तर से इसी मत को स्वीकार किया है।[११५]

स्वभाव के अनुसार भानुदत्त ने वैशिक नायक के तीन भेद किये हैं – उत्तम, मध्यम और अधम।[११६]

(क) वेश्या के बार-बार कोप करने में भी उसकी सेवा में संलग्न वैशिक नायक **'उत्तम'** कहलाता है, (ख) वेश्या के प्रकोप या अनुराग को प्रकट रूप

---

११२. रसमंजरी, 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या, पृ० १७९

११३. वही, श्लो० १०६, पृ० १७९

११४. अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्। – र० त०, ८/२० के अन्तर्गत, पृ० १७२

११५. सा० द०, ३/१८४

११६. वैशिकस्तूत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिधा। – र० मं०, पृ० १८०

में प्रकाशित होने न देकर, चेष्टा से उसके मनोभाव को ग्रहण करने वाला **मध्यम** कहा जाता है और (ग) भय, लज्जा, दया आदि शून्य और कामक्रीड़ा में कर्तव्याकर्तव्य का विचार न करने वाला **'अधम'** होता है।[११७]

वैशिक के ये तीनों भेद व्यभिचार को और पुष्ट करते हैं। रसाभास की स्थिति यहाँ भी पूर्ववत् है।

उपर्युक्त पति, उपपति और वैशिक नायक प्रोषित अवस्था में तीन प्रकार के हो जाते हैं – १. प्रोषित पति, २. प्रोषित उपपति और ३. प्रोषित वैशिक।[११८] इनमें से प्रोषित पति विप्रलम्भशृङ्गार का आलम्बन बनता है। यह नायक रस का विषय है। प्रोषित उपपति शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास का विषय है। प्रोषित वैशिक स्पष्टतः रसाभास है।

नायकाभास :– भानुदत्त ने नायक के भेदोपभेद का वर्णन करने के पश्चात् नायकाभास की चर्चा की है। उनके अनुसार जो नायक नायिका की साङ्केतिक कामचेष्टाओं को समझ नहीं पाता वह 'नायकाभास' है – **"अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव।"**[११९] भानुदत्त ने नायकाभास का अधोलिखित उदाहरण दिया है –

शून्ये सद्मनि योजिता बहुविधा भङ्गी वनं निर्जनं
पुष्पव्याजमुपेत्य निर्गतमथ स्फारीकृता दृष्टयः।
ताम्बूलाहरणच्छलेन विहितौ व्यक्तौ च वक्षोरुहा-
वेतेनापि न वेत्ति दूति ? कियता यत्नेन स ज्ञास्यति॥[१२०]

नायिका दूती से कहती है – हे दूती ! सूने घर में एकान्त पाकर मैंने उसके सामने विहार करने की इच्छा से अनेक प्रकार की चेष्टाएँ कीं, फूल का बहाना

---

११७. (क) दयिताया भूयः प्रकोपेऽप्युपचारपरायण उत्तमः – र० मं०, पृ० १८०
(ख) दयितायाः प्रकोपमनुरागं वा न प्रकटयति, चेष्टया मनोभावं गृह्णाति स मध्यमः – वही, पृ० १८१
(ग) भयलज्जाकृपाशून्यः कामक्रीड़ायामकृतकृत्याकृत्यविचारोऽधमः – वही, पृ० १८२

११८. प्रोषितः, पतिरुपपति वैंशिकश्च भवति।....
प्रोषितपतिः, प्रोषितोपपतिः प्रोषितवैशिकश्चेति त्रयः।। – वही, पृ० १८५

११९. वही, पृ० १८७

१२०. वही, श्लोक ११६, पृ० १८८

करके निर्जन वन में गई, फिर अपनी दृष्टि को भी स्फारित कर दिया, ताम्बूल लेने के बहाने अपने दोनों स्तनों को भी व्यक्त करके दिखाया, किन्तु इतना प्रयत्न किए फिर भी वह कुछ भी न समझा तो अब वह कितने यत्न से समझेगा ?

रसिक अथवा कामुक प्रकृति के पाठक को ऐसे नायक से क्षोभ हो सकता है। परन्तु इससे नायक के चरित्र की निर्मलता पर भी प्रकाश पड़ता है। अतः नायकाभास के वर्णन से जो पाठक नायक के मृदु स्वभाव और शालीनता से प्रभावित होंगे, उनका तादात्म्य नायक से ही होगा। ऐसी स्थिति में पाठक की उपेक्षा का पात्र नायिका बनती है। शास्त्रीय दृष्टि से यह स्थिति भी रसाभास की ही है।

नायक-नायिका के साथ भानुदत्त ने इन के सहायकों का भी वर्णन किया है। **१. पीठमर्द, २. विट, ३. चेटक और ४. विदूषक** – ये चार नायक के सहायक हैं।[१२१] इनमें से कुपित स्त्री को प्रसन्न करने में चतुर पीठमर्द,[१२२] कामशास्त्र एवं गीतादि कलाओं में निपुण विट;[१२३] नायक-नायिका को मिलाने में चतुर चेटक[१२४] एवं अङ्गादि की विकृति द्वारा हंसाने वाला विदूषक[१२५] कहलाता है। इसी प्रकार नायिका की सहायिकाओं के रूप में **सखी** और **दूती** का भी वर्णन किया गया है। इनमें नायिका को विश्वास तथा विश्राम कराने वाली स्त्री सखी कहलाती है।[१२६] और दूत्य (नायक-नायिका को मिलाने आदि) कार्य में चतुर स्त्री दूती कहलाती है।[१२७] इन नायक-नायिकाओं के सहायकों की मान्यता का आधार प्रायः स्त्री-पुरुष के व्यभिचार में सहयोग प्रदान करना है। अतः पीछे नायक-नायिका भेद के प्रसङ्ग में जिन नायकों और नायिकाओं को रसाभास का विषय माना गया है, उनसे सम्बद्ध इन सहायक-वर्गों को भी रसाभास के ही अन्तर्गत मानना चाहिए।

धीरोदात्त आदि चार प्रकार के नायक :– दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि में पहले चार प्रकार के नायकों का निरूपण किया गया है। ये चार नायक हैं –

---

१२१. तेषां नर्मसचिवः पीठमर्द-विट-चेटक-विदूषकभेदाच्चतुर्धा। - र० मं०, पृ० १९१

१२२. कुपितस्त्रीप्रसादकः पीठमर्दः - वही, पृ० १९१

१२३. कामतन्त्रकलाकोविदो विटः - वही, पृ० १९२

१२४. सन्धानचतुरश्चेटकः - वही, पृ० १९३

१२५. अङ्गादिवैकृत्यै र्हास्यकारी विदूषकः - वही, पृ० १९४

१२६. विश्वासविश्रामकारिणी पार्श्वचारिणी सखी। - वही, पृ० १६२

१२७. दूत्यव्यापारपारङ्गमा दूती। - वही, पृ० १६७

१. धीरोदात्त, २. **धीरोद्धत**, ३. **धीरललित** और ४. **धीरप्रशान्त।**[१२८] इनमें 'अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अतिगम्भीर स्वभाव वाला, महासत्त्व (हर्ष, शोक आदि में अपना स्वभाव न बदलने वाला), स्थिर प्रकृति, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखने वाला और दृढ़व्रत नायक 'धीरोदात्त' कहलाता है।[१२९] धीरोद्धत नायक मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, शूर, अपनी तारीफ के पुल बांधने वाला होता है।[१३०]

निश्चिन्त, कोमल-स्वभाव, सदा नृत्य गीतादि में प्रसक्त नायक धीरललित कहलाता है[१३१] और त्यागी, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लोगों का अनुरागपात्र, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर और सुशील - यह जो नायक का सामान्य लक्षण है,[१३२] इनमें से अधिकांश गुणों से युक्त पुरुष धीरप्रशान्त नायक होता है।[१३३]

इन चतुर्विध नायकों में धीरोद्धत नायक के वर्णन से यदि नायक के अत्यधिक घमण्ड, आत्मप्रशंसा, कपट आदि प्रकट हों तो उससे रसाभास की ही अनुभूति होगी। शेष तीन नायकों के लक्षणों से उनकी किसी प्रकार के दुर्गुण पर प्रकाश नहीं पड़ता। अतः ये तीनों नायक रस के विषय हैं।

उपर्युक्त नायक-नायिका भेदों के विवेचन में शास्त्र, सामाजिक मान्यता और विशेषकर सहृदयानुभव को औचित्यानौचित्य विवेक का आधार बनाया गया है। अतः -

१. नायिका भेदों में स्वकीया मध्या एवं स्वकीया प्रगल्भा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा के वर्णन से अप्रत्यक्ष रूप में नायक के व्यभिचार पर प्रकाश पड़ता है, अतः इन्हें रसाभास के अन्तर्गत माना गया है।

---

१२८. (क) भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् - द० रू०, २/३
(ख) सा० द०, ३/३१

१२९. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः।। - सा० द०, ३/३२

१३०. मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरै र्धीरोद्धतः कथितः।। - वही, ३/३३

१३१. निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् - वही, ३/३४

१३२. त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता।। - वही, ३/३०

१३३. सामान्यगुणै भूयान्द्विजादिको धीरशान्तःस्यात् - वही, ३/३४

२. परकीया का वर्णन नीति के विरुद्ध है। अतएव परकीयावर्णन में आनन्दानुभूति को स्वीकार करते हुए भी नैतिक दृष्टि से उसके सभी भेदों को रसाभास का विषय माना गया है।

३. जिस प्रेम में छल, कपट अथवा स्वार्थ निहित हो उसमें पाठक को रसानुभूति नहीं होती। अतः वेश्या का व्यावसायिक प्रेम रसाभास है।

४. खण्डिता, विप्रलब्धा, अन्यसंभोगदुःखिता आदि नायिकाओं के वर्णन से नायक की धूर्तता, वंचना एवं व्यभिचार पर प्रकाश पड़ता है, अतः ये प्रसङ्ग भी रसाभास की परिधि में आते हैं।

५. शठ और धृष्ट नायक अपने कपट, धूर्तता एवं छिछलेपन के कारण घृणा के पात्र बनते हैं, अतः इन्हें भी रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

६. इसके अतिरिक्त नायक-नायिका के जिन भेदों के वर्णन से मानसिक व्यभिचार अथवा यौनाचार की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है, उन्हें भी रसाभास के अन्तर्गत माना गया है। कुलटा नायिका एवं वैशिक आदि नायकों को रसाभास मानने में यही दृष्टि रही है।

रसाभास की अनुभूति में सामयिक सामाजिक मान्यता, सहृदय का चित्त एवं कवि-विवक्षा – ये तीनों उत्तरदायी हैं। अतः यह भी सम्भव है कि एक ही रचना में रस और रसाभास का मतभेद रहे, परन्तु किसी रचना को शास्त्रीय संज्ञा देने में शिष्ट-समाज के निर्णय को ही अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

पञ्चम-अध्याय

रसाभास के भेद एवं उदाहरण

रसाभास का आधार प्रथमतः विभावविषयक और अन्ततः भावविषयक अनौचित्य है।[1] इस सन्दर्भ में अनौचित्य का अर्थ है - लोक एवं शास्त्र का अतिक्रमण।[2] दूसरे शब्दों में रस-सामग्री में किसी प्रकार का अनौचित्य-प्रवर्त्तन ही रसाभास का कारण बनता है। इस प्रकार का अनौचित्य प्रवर्त्तन प्रत्येक रस के भीतर सम्भव है। अतः रस भेद[3] के अनुसार ही रसाभास के भी भेद होते हैं।

१. शृङ्गार रसाभास :

काव्य प्रकाश के व्याख्याकारों एवं विश्वनाथ ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का संग्रह करते हुए निम्नलिखित स्थलों में शृङ्गाराभास स्वीकार किया है :

अ. उपनायकनिष्ठरति,

आ. मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति,

इ. बहुनायक विषयक रति,

ई. अनुभयनिष्ठरति,

उ. प्रतिनायकनिष्ठ रति,

ऊ. अधमपात्रगत रति

एवं

ए. तिर्यग्गतरति।[4]

---

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, अ० २, पृ० ७९-८०

२. द्रष्टव्य, वही, अ० २, पृ० ७९

३. संस्कृत काव्यशास्त्र में रस के मुख्य ११ प्रकार स्वीकृत किये गये हैं –

१. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत, ९. शान्त (का० प्र०, ४/२९; ४/३५), १०. वत्सल (सा० द०, ३/२५१-५३) और भक्ति (भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण-विभाग, ५/२)।

४. (क) का० प्र०, ४/सू० ४९ पर वामनी टीका, पृ० १२१

इनके अतिरिक्त दो अन्य स्थलों में भी शृङ्गार रसाभास माना गया है –

ऐ. निरिन्द्रियगत रति[५] तथा

ओ. बालक एवं वृद्धागत रति।[६]

शृङ्गाराभास के उपर्युक्त भेदों पर दृष्टिपात करें तो अनौचित्य के दो कारण स्पष्टतः लक्षित होते हैं - प्रथम, लोकशास्त्रगत और द्वितीय, मनोवैज्ञानिक। उपनायकनिष्ठ एवं मुनि, गुरुपत्नी आदि गत रति में अनौचित्य का कारण लोक एवं शास्त्र का अतिक्रमण है। अनुभयनिष्ठ, अधमपात्रगत, तिर्यगगत एवं निरिन्द्रियगत रति का अनौचित्य मनोवैज्ञानिक है। तथा बहुनायकनिष्ठ, प्रतिनायकनिष्ठ और बालक एवं वृद्धागतरति को अनुचित मानने में लोकातिक्रमण तथा मनोवैज्ञानिक दोनों कारण हो सकते हैं।

शृङ्गाराभास के इन भेदों का क्रमशः सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है –

अ. उपनायकनिष्ठरति :

आचार्य विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने परपुरुष के प्रति प्रकट होने वाली नारी की रति को रसाभास स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा में स्त्री अपने पति को देवतुल्य मानती आई है।[७] इसी संस्कार में पला भारतीय पाठक यदि किसी विवाहिता स्त्री को पराये मर्द के साथ व्यभिचार में संलग्न पाता है तो उस में उसे

(ख) उपनायक संस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं....... ... ।। – सा० द०, ३/२६३-६४

५. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।। – का० अनु०, २/५४

६. (क) "........ वृद्धास्वपि स वर्तते।" – भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१२
(ख) बालशब्दाद्युपन्यासः .... ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः। - वही, ९/१७-१८
(ग) बालवृद्धयोः स्त्री सेवनम्। – रसगंगाधर (मधुसूदन शास्त्रीकृतहिन्दी अनुवाद सहित), पृ० २१९

७. (क) विशीलः कामवृत्तो वा गुणै र्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः।। – मनुस्मृति, ५/१५४
(ख) नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।। – वही, ५/१५५
(ग) अन्य द्रष्टव्य, वही, ५/१५६; ५/१६१

महान् अनौचित्य की अनुभूति होगी। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भी ऐसी नारी तिरस्कार की पात्रा है।

विश्वनाथ ने उपनायकनिष्ठरति का निम्नोक्त उदाहरण दिया है :

स्वामी मुग्धतरो, वनं घनमिदं, बालाहमेकाकिनी,
क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसन्ततिः।
तन्मे सुन्दर ! मुञ्च कृष्ण, सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः॥[८]

मेरा स्वामी नितान्त मूढ है, यह वन सघन है, मैं बाला हूँ और अकेली हूँ एवम् अबनूस के समान काला अन्धकार पृथ्वी को ढके हुए है। इसलिए हे सुन्दर कृष्ण ! झट से मेरा रास्ता छोड़ो। गोपी की यह बात सुनकर उसका आलिङ्गन कर काम-कला में लीन हरि आपकी रक्षा करें।

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति प्रकट होने वाली गोपिका की रति लोक एवं शास्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि गोपिका किसी अन्य की विवाहिता पत्नी है। उसका यह कृत्य नैतिक दृष्टि से तो अनुचित है ही, इससे शृङ्गार के मूल तत्त्व प्रेम की अनुभूति भी नहीं होती (काम की होती है)। अतः नैतिक अनौचित्य से तथा रसास्वाद की दृष्टि से अनुचित होने के कारण उपनायकनिष्ठरति रसाभास है।

परन्तु नीतिविरुद्ध ऐसे प्रसङ्ग में सभी पाठकों को समान रूप से रसाभास की ही अनुभूति हो, यह आवश्यक नहीं है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि एक ही रचना में सहृदयभेद से रस अथवा रसाभास की दो पृथक्-पृथक् अनुभूति हो सकती है। पश्चिमी सभ्यता में जीवन-यापन का अभ्यस्त पाठक का हृदय काम या प्रेम के विषय में ऐसे नीति-नियमों का विद्रोह कर बैठता है। अतएव शास्त्रीय विचारधारा के पाठक जहाँ उपनायकनिष्ठ रति में महान् अनौचित्य का अनुभव करता है, वहाँ दूसरी ओर वात्स्यायन एवं फ्रायड़ आदि मनोवेत्ताओं के विचारों से प्रभावित पाठक को किसी युवति को अपने पति की अपेक्षा सुन्दर, कुशल नवयुवक से काम-याचना करते देखकर किसी प्रकार का अनौचित्यानुभव नहीं होता।

---

८. सा० द०, ३/२६५ १/२

– गोपिका की उक्ति का व्यङ्ग्य अर्थ इस प्रकार है – हे सुन्दर कृष्ण ! मेरा पति काम-कला में नितान्त मूढ़ है, मैं बालिका इस घने जङ्गल में तुम्हारे समक्ष खड़ी हूँ, अन्धेरा छाया हुआ है, कोई देखने वाला नहीं, अतः तुम मेरे साथ रति-क्रीड़ा का आनन्द लो।

इसी पद्य में कृष्ण भक्त पाठकों की अनुभूति उपर्युक्त दोनों प्रकार के पाठकों से भिन्न होगी। जिन पाठकों के मन में श्रीकृष्ण सोलह कला सम्पूर्ण ईश्वर के रूप में विराजमान हैं, वे कृष्ण-गोपिका के उक्त कृत्य को श्रीकृष्ण की लीला समझकर बड़ी रूचि के साथ ग्रहण करता है। वस्तुत: श्रीकृष्ण के प्रति अत्यधिक श्रद्धा के कारण पाठक को यहाँ उचितानुचित विवेक का अवसर ही नहीं मिलता। इसीलिए कतिपय आचार्यों[९] ने विश्वनाथ के मत के विरुद्ध श्रीकृष्ण गोपिका प्रेम प्रसङ्ग को रसाभास न मानकर रस ही स्वीकार किया है। हमारा विचार है कि कृष्ण और गोपिका के प्रेम के विषय में निर्णय देते समय सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि कृष्ण की स्थिति सामान्य उपनायकों जैसी नहीं है।

जगन्नाथ ने उपनायकनिष्ठ रति के रूप में किसी राजाङ्गना का जार के प्रति प्रेम दिखाया है :

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहहसुकृती राजरमणीम्।।[१०]

– सैकड़ों उपाय करके किसी प्रकार (बड़ी कठिनाई से) प्रासाद की चोटी पर पहुँचकर (उस उपनायक ने) अमृत झाग के समान स्वच्छ फूलों की सेज पर एकान्त में सोई हुई कृशाङ्गी को जगाया और अचानक जगाने पर पहिले तो वह डरी, किन्तु पहिचान लेने पर हँसने वाली राजरमणी को वह पुण्यवान् पुरुष स्वासों को छोड़ता हुआ आलिङ्गन कर रहा है।

इस पद्य में राजांगना रति का आलम्बन है। उपनायक आश्रय विभाव है। एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन विभाव हैं। साहस करके प्रासाद की चोटी में पहुँचना, सांस भरना, आलिङ्गन आदि करना अनुभाव हैं तथा शंका आदि संचारिभाव हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रस-सामग्री का सन्निवेश होने पर भी पाठक को इस रचना में विशुद्ध शृङ्गार रस की अनुभूति न होकर, शृङ्गाराभास की होती है। कारण स्पष्ट है। यहाँ पाठक की वितृष्णा का कारण राजाङ्गना का किसी अन्य

---

९. र० त०, ८/२० के अन्तर्गत
विशेष के लिए देखिए, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५ कृष्णगोपिका प्रेम प्रसङ्ग।

१०. रसगंगाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, मधुसूदन शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद सहित, पृ० ३५०

पुरुष (उपनायक) में रति प्रदर्शन है।[११] राज कुल का समाज में उत्कृष्ट तथा समादरणीय स्थान रहा है। भारतीय मान्यता के अनुसार राजा में दैवी शक्ति का पुंज रहता है।[१२] उसकी शक्ति, उच्च स्तर एवं ऐश्वर्य से भी पाठक सुपरिचित है। अत: काव्यादि में भी सहृदय राजकुल के व्यक्तियों द्वारा ऊँचे आदर्शपालन की आशा रखता है। उसकी इस भावना के विपरीत यदि कहीं राजपरिवार के व्यक्तियों की चरित्रहीनता अथवा निन्द्य कर्मों की ओर प्रवृत्ति आदि का वर्णन होता है, तो वहाँ उसे अनौचित्य की ही अनुभूति होती है। यहाँ पर किसी राजाङ्गना को कामवश अपने चरित्र से भ्रष्ट होते हुए दिखाया गया है। अत: ऐसे प्रसङ्ग में रसाभास मानना सर्वथा युक्तिसंगत एवं शास्त्रीय है। –

उपनायकनिष्ठरति के प्रसङ्ग में उद्धृत उपर्युक्त विश्वनाथ एवं जगन्नाथ के पद्यों में अनौचित्य की मात्रा एवं स्वरूप एक समान नहीं है।

क. विश्वनाथ के उदाहरण में उपनायक कृष्ण नायिका के पति की तुलना में रूप, गुण आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और नायिका भी किसी ऊँची कुलमर्यादा से सम्बन्ध रखने वाली नहीं है। यही कारण है कि काम के पक्षधर पाठक को नायिका के व्यभिचार पर क्षोभ नहीं होता।

ख. इसके विपरीत जगन्नाथ के उदाहरण में उपनायक के किसी भी प्रकार का गुण कथन नहीं हुआ है, बल्कि नायक राजा है, अत: उसके गुण, स्तर आदि का अनुमान पाठक स्वयं कर लेता है। नायिका राजाङ्गना है, जिसके उच्च वंश, सम्पन्नता, प्रभाव आदि से सामान्य पाठक भी परिचित है। अत: इस उदाहरण में राजपत्नी अपने भ्रष्ट चरित्र के कारण पाठक के क्षोभ अथवा घृणा का पात्र बनी है।

वस्तुत: उपनायकनिष्ठरति में अनौचित्य की तीव्र अनुभूति वहीं होती है, जहाँ पाठक किसी ऐसे नायक अथवा नायिका को अपने चरित्र से भ्रष्ट होते देखता है, जिसके चरित्र की महिमा से वह पूर्वपरिचित है। उपनायकनिष्ठरति जहाँ समाज के निम्न अथवा सामान्य वर्ग के स्त्री-पुरुष से सम्बन्धित होती है, वहाँ अनौचित्यानुभूति या तो होती नहीं या बहुत हल्के रूप में होती है। कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने घर ठहरने आए पथिक से कह रही है –

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध ! शय्यायां मम निमंक्ष्यसि।।[१३]

---

११. र० गं०, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५१

१२. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहृत्य शाश्वती:।। – मनुस्मृति, ७/४

१३. का० प्र०, ५/१३६

इसमें यद्यपि नायिका की रति उपनायक (पथिक) के प्रति प्रकट हुई है, तथापि इसमें अनौचित्य की उतनी तीव्र अनुभूति नहीं होती जितनी उपर्युक्त राजाङ्गना की परपुरुष विषयक रति में होती है। कारण कि इस में नायक अथवा नायिका समाज के विशिष्ट या समादरणीय व्यक्ति नहीं हैं – साधारण नवयुवक नवयुवती हैं। पाठक उनसे किसी प्रकार के आदर्श-पालन की अपेक्षा नहीं करता। ऐसे प्रसङ्गों में सहृदय नैतिकता-अनैतिकता के विचार को भूला कर कुछ क्षणों के लिए कामात्मक शृङ्गार में लीन हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह इससे परोक्षतः अपनी दमित काम-वासना को तुष्ट करने का प्रयास करता है। परन्तु जिन प्रसङ्गों से सामाजिक मान्यताओं को ठेस पहुँचे - भले ही उनमें सहृदय को अनौचित्य की अनुभूति न हो – नैतिक दृष्टि से उन्हें रसाभास मानना ही अधिक उपयुक्त है; क्योंकि काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह 'सद्यः परनिर्वृति' के साथ-साथ 'कान्तासम्मित उपदेश' प्रदान करने वाला भी हो (का० प्र०, १/२)।

उपनायकनिष्ठरति की भाँति उपनायिकानिष्ठरति में भी शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास ही होगा।

(आ). मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति :

आचार्य विश्वनाथ,[१४] जगन्नाथ[१५] एवं अच्युतराय[१६] ने मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति को रसाभास स्वीकार किया है। कारण स्पष्ट है कि मुनि, गुरु आदि हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। अतः इनकी पत्नी (एवं कन्या) आदि के प्रति रति प्रकट करना भारतीय सहृदय के संस्कार के प्रतिकूल है।

अच्युतराय ने रसाभास के प्रसङ्ग में इसी प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है –

चिरं भूरितरोपायैरहल्याधरपल्लवम्।
इन्द्रः संपीय सानन्दं कृतकृत्यः सुधापराट्॥[१७]

इस पद्य में इन्द्र की रति का आलम्बन गौतम मुनि की पत्नी अहल्या है। भारतीय पाठक की दृष्टि में इन्द्र का अहल्या का अधर पान करना महान्

---

१४. सा० द०, ३/२६८

१५. र० गं०, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३४७, ३५३

१६. साहित्यसार, ४/१७७

१७. वही, ४/१७७

अनौचित्यपूर्ण है। वह इन्द्र के इस कृत्य के लिए उस की भर्त्सना करने लगता है। इस प्रकार के वर्णन से रसाभास की ही अनुभूति होगी।

आदि कवि वाल्मीकि ने इन्द्र एवं गौतम पत्नी अहल्या के व्यभिचार का वर्णन निम्नोक्त रूप में किया है –

मुनिवेषधरोऽहल्यामिदं वचनमब्रवीत्॥
ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे॥

....

सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम्।
एवं संगम्य तु तया निश्चक्रामोटजात्ततः॥[१८]

– मुनिवेषधारी इन्द्र ने अहल्या से कहा – हे सुन्दरी ! रति के इच्छुक लोक ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं किया करते। अतः हे सुन्दरकटि वाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारे साथ भोग करना चाहता हूँ।[१९] .... हे सुश्रोणि ! तृप्त हो गया और शीघ्र यहाँ से अपने लोक लौट जाऊँगा। इस प्रकार अहल्या के साथ दुराचार करके इन्द्र कुटिया से बाहर निकलने लगे।

यह प्रसङ्ग मुनि पत्नीगत रति के कारण तथा पूज्य विषयक सम्भोग के कारण रसाभास है। इसी प्रकार किसी मुनि, गुरु अथवा पूज्य व्यक्ति को रति प्रदर्शन करते हुए देखकर भी पाठक को अनौचित्य की ही अनुभूति होगी। महाभारत का एक इसी प्रकार का प्रसङ्ग प्रस्तुत है –

विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम्।
गृद्धां वाससि सम्भ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद् विवृतां तदा॥
तस्या रूपगुणान् दृष्टवा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः॥
न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा॥

---

१८. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४८, श्लो० १७-१८, २२

१९. वाल्मीकिरामायण के अनुसार अहल्या ने इन्द्र के इस आग्रह को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया था (वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ४८/१९-२१)। अतः घृणा इन्द्र एवं अहल्या दानों में होगी।

रममाणौ यथा कामं यथैकदिवसं तथा।
जनयामास स मुनि मेंनकायां शकुन्तलाम्।।[२०]

यहाँ तपोमूर्त्ति[२१] तेजस्वी, जितेन्द्रिय ऋषि विश्वामित्र मेनका के नग्न शरीर और रूप को देखकर कामातुर हो सम्भोग करने में प्रवृत्त हो गए हैं। सहृदय की आस्था के विपरीत उनका यह आचरण रसाभास का कारण बनता है।

इसी प्रकार श्रद्धा के पात्र राजपत्नी, भ्रातृ-पत्नी, मुनि-कन्या, धार्मिक व्यक्ति की पत्नी आदि के विषय में वर्णित रति भी रसाभास का विषय बनती है।

जगन्नाथ द्वारा उपनायकनिष्ठरति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत **"शतेनोपायानां कथमपि गतः धौतशिखरम्"**[२२] इत्यादि पद्य राज-पत्नी गत रति के कारण भी रसाभास है।

इ. बहुनायकविषयक रति :

बहुनायक निष्ठ रति सर्वथा अस्वाभाविक है, क्योंकि रति (प्रेम) स्वभावतः एकनिष्ठ होती है। स्त्री-पुरुष की परस्पर सहानुभूति, सद्भावना एवं विश्वास से दृढ़ एकनिष्ठ रति में ही उसकी सिद्धि है। इसी कारण आचार्य मम्मट, जयदेव, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ, अभिनवकालिदास, अल्लराज एवं राजचूडामणि दीक्षित ने बहुनायकविषयक रति को रसाभास स्वीकार किया है। शिङ्गभूपाल, भानुदत्त एवं अल्लराज बहुनायिकाविषयक रति को भी उसी प्रकार रसाभास मानते हैं जैसे कि नायिका की बहुनायकविषयक रति को। आचार्य मम्मट ने रसाभास के प्रसङ्ग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह बहुनायकनिष्ठरति का है;

स्तुमः कं वामक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।

---

२०. महाभारत, आदिपर्व, अ० ७२, श्लो० ५-९

२१. तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद् धरणीं पदा।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद् दिशः।।
तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम्।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत्।। – वही, आदिपर्व, ७१/३६-३७

२२. (क) र० गं०, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५०
(ख) द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, अ० ५, पृ० १५७

सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्री कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम्॥[२३]

हे सुन्दर नेत्रों वाली, जिस के बिना तुमको क्षणभर चैन नहीं पड़ता है, ऐसा कौन (भाग्यशाली) है, जिसकी हम (उसके सौभाग्य के लिए) प्रशंसा करें, किसने युद्ध रूपी यज्ञ में अपने प्राणों (की आहुति दी है, जिसको तुम खोज रही हो। ऐसा कौन भाग्यशाली) शुभ मुहूर्त में उत्पन्न हुआ है जिसका तुम गाढ आलिङ्गन करती हो। हे कामदेव की नगरि ! वह किस की तपः सम्पत्ति है, जिसका तुम ध्यान करती रहती हो।

यह किसी कामुक व्यक्ति की वेश्या अथवा परकीया स्त्री से कही गई उक्ति प्रतीत होती है।[२४] इसमें नायिका के जो रमण, अन्वेषण, आलिङ्गन, चिन्तन आदि व्यापारों का वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट है कि उसकी रति बहुकामुक-विषयक है।[२५]

प्रेम की पवित्रता एवं अनन्यता के आग्रही पाठक को ऐसी व्यभिचारिणी नारी के प्रेम में रसाभास की ही अनुभूति होगी।

शिङ्गभूपाल ने बहुनायकनिष्ठ एवं बहुनायिकानिष्ठरति को अनेकाराग की संज्ञा देकर रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है। इन्होंने बहुनायकनिष्ठ रति का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है –

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थनयो र्विवादः॥[२६]

यहाँ कोई दिव्य सुन्दरी युद्धभूमि में मरने के पश्चात् स्वर्ग पहुँचे हुए दो वीरों में समान रूप से अनुराग प्रकट कर रही है। अतः यह शृङ्गाराभास है।[२७]

---

२३. का० प्र०, ४/४८

२४. द्रष्टव्य, का० प्र०, वामनी टीका, पृ० १२१

२५. (क) अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुमः' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपदानं व्यनक्ति - का० प्र०, ४/४८ वृत्ति भाग।
(ख) का० प्र०, ४/४८ वामनी टीका, पृ० १२१

२६. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०४

२७. अत्र कस्याश्चिद् दिव्यवनिताया वीरद्वये रणानिवृत्तिमरणप्राप्तदेवताभावेऽनुरागस्य निरूपमाणशूरगुणोपादेयतादेरवैषम्येण प्रतिभासनादाभासत्वम्। – वही, पृ० २०४ – शिङ्गभूपाल के अनुसार बहुनिष्ठरति रसाभास वहाँ बनती है, जहाँ प्रेम में समानता हो, परन्तु जहाँ प्रेम में विषमता है, वहाँ रस ही रहता है। इस विषय पर आगे इसी शीर्षक के अन्तर्गत दक्षिणनायक के प्रसंग में विचार किया जाएगा।

भानुदत्त ने बहुनायक विषयक रति का यह उदाहरण दिया है –

संपत्कस्याद्य तारा भवति तरलिता यत्पुरो नेत्रतारा
दृष्टा केनाऽद्य काञ्ची यदभिमुखगता वेपते रत्नकाञ्ची।
उग्रः कस्याऽद्य तुष्टः सखि यदनुगमे कश्चिदुग्रोऽभिलाषः
स्नातं केनाऽद्य वेणीपयसि विलुलिता यत्कृते काऽपि वेणी।।[२८]

किसी वेश्या से उसकी सखी कह रही है – हे सखी ! आज किस की संपत्ति तारा-रूप से प्रकाशित होती है, जिसके सामने (तुम्हारी) नेत्र-तारिका चंचल हो जाती है। किस ने काञ्चीतीर्थ को देखा है, जिसके सामने होते ही (तुम्हारी) रत्नकांची (करधनी) कांपने लगती है। वह कौन है जिस पर शिव प्रसन्न हैं और जिसका अनुगमन करने में (तुम्हारी) उग्र अभिलाषा जागती है। और वह कौन है जिसने आज त्रिवेणी में स्नाने किया है, जिसके लिए तुम्हारी सुन्दर वेणी बिखर रही है।

वेश्या धन प्राप्ति के लिए अनेक पुरुषों से कृत्रिम प्रेम करती है। शास्त्र एवं लोक दोनों की दृष्टि से उसका प्रेम हेय है। कुत्सित मनोवृत्ति के पाठक ही वेश्या के अनुराग में रुचि ले सकते हैं। विश्वनाथ ने बहुनायकनिष्ठ रति का यह उदाहरण दिया है –

कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये,
येषां कृते सुतनुः पाण्डुरयं कपोलः।[२९]

– हे सुन्दरी ! मेरी समझ में तो वे ही पुरुष तीनों लोक में सुन्दर हैं, जिनके लिए ये तुम्हारे कपोल विरह से पाण्डुवर्ण हैं। यहाँ कोई तन्वी अनेक प्रेमियों के विरह में पीतवर्णा हो गई है।

रूपगोस्वामी ने भी बहुनायकनिष्ठरति का उदाहरण प्रस्तुत किया है –

गान्धर्वि ! कुर्वाणमवलोक्य लीला –
मग्रे धरण्यां सखि ! कामपालम्।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं
भिन्नाऽद्य साध्वि ! स्मरतो द्विधाऽसि।।[३०]

---

२८. रसतरंगिणी, ८/२१

२९. सा० द०, ३/२६५

३०. भ० र० सि०; ९/१०२१

– हे सखि गान्धर्वि ! सम्मुख पृथ्वी पर लीला करते हुए बलराम को देखकर और हे साध्वि ! मुकुन्द की वेणु को सुनती हुई तू आज काम से दो तरह भिन्न हो रही है। यहाँ एक नायिका की रति (काम) बलराम तथा श्रीकृष्ण में प्रकट हुई है। अतः रसाभास है।

जगन्नाथ ने बहुनायक निष्ठरति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥[३१]

कवि कहता है कि – गृह में प्रवेश करती हुई बाला ने जब देखा कि मुझसे जाने की किञ्चिन्मात्र आज्ञा-प्राप्तिरूप लाभ के लोभी युवकमण्डल रास्ते पर खड़ा है, तब करुणावती उस बाला ने उन युवकों पर एक साथ नयन-कमलों की माला गिरा दी – स्नेह भरी चितवन से उनकी ओर देख कर जाने की अनुमति दे दी।

भाव यह है कि कोई नवयौवना नायिका कहीं से आ रही थी, रास्ते में उसके रूप-यौवन से आकृष्ट कुछ मनचले युवक उसके पीछे हो लिए। नायिका जब घर में प्रवेश करने लगी तो उसने देखा कि अपने परिश्रम की सफलता के इच्छुक युवक जाने के लिए आज्ञा प्राप्त करना चाहते हैं तो युवकों के अथक परिश्रम को याद कर उसे दया आ गई। अतः उसने उन सबों पर 'मैं आप सबों को जाने की आज्ञा देती हूँ' इस अर्थ के सूचक कमल नयनों की माला डाल दी। यहाँ दृष्टि-निक्षेप रूप अनुभाव के वर्णन से नायिका की अनेक नायकों के प्रति रति अभिव्यक्त होती है, अतः जगन्नाथ के अनुसार यहाँ रसाभास है।[३२]

जगन्नाथ ने अपने समय की सामाजिक मान्यता के आधार पर इस प्रसङ्ग को रसाभास स्वीकार किया है। परन्तु आज का सामाजिक पंडितराज के उक्त निर्णय से पूर्णतया सहमत नहीं होगा। पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित आज का हमारा समाज

---

३१. र० गं०, प्रथम आनन, 'रसाभास प्रकरण' (चौ० विद्याभवन, वाराणसी), पृ० ३७०

३२. अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्यमानायाः कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये, निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय, गमनाज्ञापन-रूपलाभलालसेषु तेषु, परमपरिश्रमस्मरणसञ्जातकरुणाया गमनाज्ञादान-निवेदकस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रतिर्बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः। – र० गं०, १म आनन, 'रसाभास प्रकरण', पृ० ३७०-७१ (चौ० विद्याभवन, वाराणसी)।

किसी युवती को अपने प्रशंसकों पर मधुर-दृष्टि डालते हुए देखकर उसे दुश्चरित्रा मानने को तत्पर नहीं होता। वैसे भी युवावस्था में किसी युवक अथवा युवती का विषमलिङ्गियों पर ऐसा आकर्षण उत्पन्न होना मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक है। भले ही ऐसे दृश्यों से एकनिष्ठ प्रगाढ प्रेम की अनुभूति न होती हो, परन्तु इससे सामाजिक के किसी नैतिक मान्यता पर चोट नहीं पहुँचती। अतः इसे आज के पाठक को रसाभास मानने में आपत्ति हो सकती है।

अल्लराज एवं राजचूड़ामणि दीक्षित ने बहुनायकनिष्ठ रति के उदाहरण के रूप में "स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे" इत्यादि पद्य को ही उद्धृत किया है,[३३] जिसे मम्मट ने रसाभास के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है।

ई. बहुनायिका विषयक रति

शिङ्गभूपाल, भानुदत्त एवं अल्लराज ने बहुनायक विषयक रति की भाँति बहुनायिका विषयक रति को भी रसाभास माना है।[३४] शिङ्गभूपाल ने बहुनायिकाविषयक रति का यह उदाहरण किया है –

रम्यं गायति मेनका कृतरुचि वीणास्वनैरुर्वशी
चित्रं वक्ति तिलोत्तमा परिचयं नानाङ्गहारक्रमे।
आसां रूपमिदं तदुत्तममिति प्रेमानवस्था द्विषा
भेजे श्रीयनपोतशिङ्गनृपते ! त्वत्खड्ग भिन्नात्मना॥[३५]

यहाँ नायक के तलवार की धार से कट कर मरे हुए एवं स्वर्ग पहुँचे किसी वीर प्रतिनायक का मेनका आदि अनेक दिव्य वनिताओं (अप्सराओं) में समान रूप से अनुराग प्रकट हो रहा है। अतः यहाँ शृङ्गाराभास है।[३६]

---

३३. (क) रसरत्न प्रदीपिका, ६/४६
(ख) का० द०, ४/१७८ वृत्तिभाग, पृ० २१०

३४. (क) अनेकत्र पुंसो रागद्यथा – रसार्णव सुधाकर, पृ० २०५
(ख) एवमेकस्याऽप्यनेकविषया रतिराभास एव। – रसतरंगिणी, ८/२०, वृत्तिभाग, पृ० १७२
(ग) एकस्य पुरुषस्य अनेकासु कामिनीषु अनुरागः रसाभास एव। – रसरत्न प्रदीपिका, पृ० ४१

३५. रसार्णव सुधाकर, पृ० २०५

३६. अत्र नायकखड्गधारागलितात्मनः कस्यचित् स्वर्गतप्रतिनायकवीरस्य मेनकादिस्वर्लोकगणिकास्ववैषम्येण रागादाभासत्वम्। – वही, पृ० २०५

भानुदत्त ने बहुनायिकानिष्ठरति का निम्नोक्त उदाहरण दिया है –

पञ्चेषुक्षितिपप्रतापलहरी प्रीतिस्त्वदीया पुनः
कासां वा स्तनकाञ्चनाञ्चलतटे काश्मीरपंकायते।
कासां वा मूर्धनि नैव नीरजदृशां सिन्दूररेखायते
कासां वा न च कर्णयोः प्रियसखे मणिक्यभूषायते॥[३७]

हे प्रियमित्र ! राजा कामदेव की प्रतापलहरी और तुम्हारी प्रीति किन स्त्रियों के उन्नत स्तनों में केसर के समान नहीं आचरण करती ? किन कमलननियों के सिर में सिन्दूर-रेखा के समान नहीं विराजती ? अथवा किन के कानों में मणि के कर्णाभूषण के समान नहीं लगती। यह किसी अनेक स्त्रियों की कामना करने वाले विषयी व्यक्ति की रति है। अतः यह भी रसाभास है।[३८]

अल्लराज ने भी बहुनायिकानिष्ठरति का उदाहरण प्रस्तुत किया है –

श्लिष्यति कामपि चुम्बति काममपि कामपि रमयति रमाम्।
पश्यति सस्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्॥[३९]

(कोई कामुक पुरुष) किसी सुन्दरी का आलिङ्गन करता है, किसी का चुम्बन लेता है, किसी से रमण करता है, किसी अन्या को देखता है और किसी दूसरी का अनुसरण करता है।

इस प्रकार इन तीनों आचार्यों ने आपाततः बहुनायिकानिष्ठ रति को भी सैद्धान्तिक रूप से रसाभास स्वीकार किया है। परन्तु दक्षिणनायक आदि के प्रसङ्ग में बहुनायिकानिष्ठ रति को भी रस ही मानकर प्रकारान्तर से ये आचार्य भी बहुनायिकानिष्ठरति का समर्थन करते हैं। वस्तुतः समाज में प्रचलित पुरुष के प्रति पक्षपात की भावना से ये आचार्य भी सर्वथा मुक्त न हो सके।[४०] फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इन आचार्यों की दृष्टि अन्य आचार्यों की अपेक्षा कम पक्षपात पूर्ण है।

बहुनायकनिष्ठ एवं बहुनायिकानिष्ठरति के प्रकरण में अधोलिखित तीन प्रसङ्ग प्राचीन काल से ही विवाद के विषय रहे हैं, अतः इन पर अलग से विचार

---

३७. रसतरङ्गिणी, ८/२२

३८. अत्रापि वैषयिकता प्राग्वदेव। - रसतंरगिणी, ८/२२ वृत्तिभाग।

३९. रसरत्न प्रदीपिका, ६/४७, पृ० ४१

४०. तत्कालीन समाज में पुरुष को अनेक स्त्रियाँ रखने की छूट थी, अतः बहुनायिकानिष्ठ रति को रस ही माना गया है। परन्तु स्त्री अनेक पुरुषों को नहीं रख सकती थी, अतः बहुनायकविषयक रति को रसाभास स्वीकार किया गया है।

प्रस्तुत किया जा रहा है। ये तीन प्रसङ्ग हैं –

१. कृष्ण गोपिका प्रेमप्रसङ्ग,
२. दक्षिणनायक का प्रसङ्ग एवं
३. पंचपाण्डव द्रौपदी सम्बन्ध।

क्रमशः इन पर विचार प्रस्तुत है –

१. कृष्ण गोपिका प्रेमप्रसङ्ग

१. श्रीकृष्ण का राधा एवं अन्य अनेक गोपियों से प्रेम - सम्बन्ध था, अतः इसे रसाभास का विषय मानना चाहिए। सर्वप्रथम विश्वनाथ ने कृष्ण के प्रति गोपिका के प्रेम को उपनायकनिष्ठरति की संज्ञा देकर रसाभास स्वीकार किया है।[४१] परन्तु इसके विपरीत भानुदत्त कृष्ण-गोपिका प्रेम को रस ही स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में इनका मत है कि जिस नायक के लिए अनेक नायिकायें व्यवस्थित हों, वहाँ रसाभास नहीं होता। यदि व्यवस्थित नायिकाओं में नायक के प्रेम को अनुचित माना जाये, तो सकलनायकोत्तम कृष्ण की अनेकनायिकाविषयिणी रति को भी आभास मानना पड़ेगा। इस कारण रसाभास वहीं मानना चाहिए, जहाँ- (क) – अव्यवस्थित बहुकामिनीविषयिणी प्रीति हो, (ख) वैषयिक नायक का प्रेम प्रदर्शन हो तथा (ग) - बहुनायकविषयक रति हो। इसीलिए वैषयिक (विलासी व्यक्ति) और वेश्या का प्रेम रसाभास है, यही प्राचीनों का भी मत है – **"परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता बह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनीविषयाया रतेराभासतापत्तेः। तस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अतएव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्।**[४२]

इस प्रकार भानुदत्त के विचार को उचित मान लिया जाये तो कृष्ण का अनेक गोपियों के साथ प्रेम-सम्बन्ध को रसाभास न मानने के दो कारण हो सकते हैं –

१. श्रीकृष्ण सकलनायकोत्तम हैं, वे अतुल पराक्रमी एवं सर्वगुण-कला सम्पन्न अवतारपुरुष हैं, अतः वे अनके नायिकाओं से प्रेम करने में भी समर्थ हैं।

२. गोपिकाओं के प्रति उनका प्रेम व्यवस्थित है। उनकी रति व्यवस्थित अनेक गोपिकाओं के प्रति है, न कि अव्यवस्थित नायिकाओं के प्रति। अतः कृष्णगोपिका प्रेम रसाभास न होकर रस है।

वस्तुतः भानुदत्त की इस मान्यता के पीछे कृष्ण के प्रति अपार श्रद्धा एवं भक्ति-भावना कार्य कर रही है।

---

४१. सा० द०, ३/२६५ के अन्तर्गत।

४२. र० त०, ८/२० वृत्तिभाग, पृ० १७२

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं, अवतार पुरुष हैं। अतः उनके द्वारा किए गए किसी भी प्रकार के कार्यों को प्रभुलीला समझ कर श्रद्धापूर्वक उचित मान लिया जाता है। भारतीय पाठक की धर्मवुद्धि कृष्ण के किसी भी काम को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखती। इधर वैष्णव भक्तों ने भी आत्मा-परमात्मा इत्यादि के रूपकों द्वारा कृष्ण-गोपिका प्रेम प्रसङ्ग को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने धर्मविरुद्ध तथा निन्दनीय माने जाने वाले परस्त्री सम्बन्ध को श्रीकृष्ण द्वारा किये जाने का रहस्य जानना चाहा[४३] तो शुकदवे ने ऐसा ही आध्यात्मपरक उत्तर दिया है –

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः स्मृतः तत्परो भवेत्॥
नासयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥[४४]

– जो गोपियों, उनके पतियों और सब देहधारियों के अन्तःकरणों में विराजमान थे, उन सर्वसाक्षी भगवान् ने ही लीला से शरीर धारण कर संसार में अवतार लिया था। भगवान् जीवों पर कृपा करने के लिए ही मनुष्य रूप धारण करके ऐसी-ऐसी लीलाएं करते हैं, जिनका स्मरण करके लोग भगवत्-परायण हो जाते हैं। उधर व्रज में भगवान् की माया से मोहित होकर व्रज-वासियों ने अपनी-अपनी स्त्रियों को अपने पास ही समझा और भगवान् कृष्ण के प्रति अपने मन में कुछ भी मैल नहीं आने दिया।

कृष्ण के प्रति सहृदय की इस प्रकार की भगवद् बुद्धि कृष्ण-गोपिका-प्रेम में अनौचित्य की शंका नहीं करती। यही कारण है कि इसे रस का विषय माना गया है। परन्तु कृष्ण-गोपिका प्रेम वर्णन में भी श्लीलता का ध्यान न रखकर शृंगार का अत्यन्त नग्न चित्रण किया गया हो तो वहाँ रसाभास ही होगा, रस नहीं।

---

४३. स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्।।
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्रायः एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत।। – श्रीमद्भागवत, १०/३३/२८-२९

४४. वही, १०/३३/३६-३८; अधिक के लिए देखिए - वही, १०/३३/१७-४०

२. दक्षिण नायक का प्रसङ्ग :

दक्षिण नायक एक से अधिक नायिकाओं के साथ प्रेम करने वाला होता है,[४५] अतः साहित्यशास्त्र के सामान्य निमय के अनुसार इसकी रति को रसाभास मानना चाहिए। परन्तु दक्षिण नायक के प्रसङ्ग में आचार्यों ने विशेष नियम का निर्देश करके अनेक नायिकाओं के प्रति प्रकट होने वाली उसकी रति को रस ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में शिङ्गभूपाल का कथन है कि दक्षिण नायक व्यवहार मात्र से ही अनेक नायिकाओं के साथ साधारण भाव रखता है, किसी राग के कारण नहीं। उस का प्रगाढ प्रेम तो किसी एक ही नायिका में होता है, अन्यों में तो उसका प्रेम मध्यम अथवा मन्द रहता है। अर्थात् व्यवहार में समानता होते हुए भी उसके प्रेम में तो तारतम्य रहता ही है। अतः दक्षिण नायक का प्रेम आभास नहीं होता। रसाभास वहीं होता है, जहाँ नायक के व्यवहार में विषमता हो अथवा उसके राग में समानता हो। यहाँ (रम्यं गायति मेनका[४६] .... में) तो व्यवहार की विषमता के साथ अनेक नायिकाओं में प्रवृत्ति होने से रसाभास है।[४७]

भानुदत्त का विचार है कि बहुनायकनिष्ठ रति की भाँति बहुनायिकानिष्ठ रति भी रसाभास है। किन्तु जिस नायक के लिए अनेक नायिकाएं व्यवस्थित रहती हैं, वहां रसाभास नहीं होगा।[४८] जहाँ नायक की बहुनायिका विषयिणी रति अव्यवस्थित अनेक नायिकाओं के प्रति हो वहीं रसाभास होता है।[४९] इस सम्बंध में अल्लराज की भी मान्यता है कि एक ही पुरुष द्वारा अनेक नायिकाओं का उपभोग दिखाने पर भी उस नायक का दृढ़ अनुराग किसी एक ही नायिका के प्रति लक्षित होता हो तो वहां रस ही होगा, रसाभास नहीं।[५०] यदि उक्त आचार्यों के विचारों को ठीक

---

४५. शृं० ति०, १/३१; साहित्यदर्पण, ३/३५, रसार्णवसुधाकर, १/८२, पृ० ११

४६. रसार्णवसुधाकर, पृ० २०५

४७. नन्वेवं दक्षिणादीनामपि रागस्याभासत्वमिति चेद्, न।
दक्षिणस्य नायकस्य नायिकास्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं, न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढत्वमितरासु तु मध्यमत्वं मन्दमन्दत्वं चेति तदनुरागस्य नाभासता। अत्र तु वैषम्येणानेकत्र प्रवृत्तेराभासत्वमुपपद्यते। - वही, पृ० २०५

४८. ".. .. . . . परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता वह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासः......" – रसतरंगिणी, ८/२० वृत्तिभाग, पृ० १७२

४९. वही, ८/२० वृत्ति भाग, पृ० १७२

५०. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपाद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते तदा रस एव स्यात्। यथा – "अद्य राज्ञा का उपभोक्तव्या इति केनापि

मान लें तो दक्षिण नायक के अनेक नायिकाओं के प्रति प्रदर्शित प्रेम को रसाभास न मान कर रस ही मानने में निम्नोक्त कारण हो सकते हैं :–

१. दक्षिण नायक भले ही अनेक नायिकाओं से एक समान व्यवहार रखता है, परन्तु उसका दृढ़ एवं सच्चा अनुराग तो किसी एक ही नायिका में होता है।

२. उस की रति व्यवस्थित नायिकाओं के प्रति ही होती है। विलासी पुरुष की भाँति उसका प्रेम अव्यवस्थित स्त्रियों के प्रति प्रकट नहीं होता। जितनी नायिकायें उसके लिए निश्चित की गई हैं, उन्हीं से उसका रति सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार उसका प्रेम सर्वथा अमर्यादित नहीं है।

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि जिस नायिका के साथ दक्षिण नायक का दृढ़ अनुराग प्रकट होता है, वहाँ तो रस माना जा सकता है, परन्तु जिनके प्रति वह दिखावे के लिए प्रेम का या समानता का व्यवहार मात्र करता है, वहाँ रसाभास न मानने की बात समझ में नहीं आती। जहाँ तक उसकी नायिकाओं के व्यवस्थित होने का तर्क है, वह भी निराधार है। क्योंकि प्रेम या रति मूलतः एकनिष्ठ होती है। पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ वासनात्मक सम्बंध तो हो सकता है, विशुद्ध प्रेम का नहीं। वस्तुतः इन आचार्यों द्वारा दक्षिण नायक की बहुनायिका विषयिणी रति को रसाभास न मानकर रस ही स्वीकार करना संस्कृत के उन काव्यनाटकों[५१] के लिए विशेष नियम का निर्देश है, जिनके नायक प्रख्यात वंश राजा या इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ करते थे। संस्कृत साहित्य के अधिकांश भाग में राजाओं के पराक्रम, दिव्यगुण[५२] अथवा उनके अन्तःपुर आदि का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है।

इस सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि किसी राजा अथवा इतिहास प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान् पुरुष की बहुनायिका विषयिणी रति की अपेक्षा विषयी अथवा सामान्य दरिद्र व्यक्ति की बहुनायिका विषयिणी रति अधिक अनौचित्य कारक होगी। प्रथम-राजाआदि की बहुनायिका विषयिणी रति में पुरुष के अत्यधिक प्रभाव, ऐश्वर्य आदि के आधार पर उसका एक से अधिक स्त्रियों से प्रेम करना भी उसके अधिकार के अधीन मान लिया जाता है। यही कारण है कि दक्षिण

पृष्टः कंचुकी तमाह – " स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता......।। अत्रान्यासु व्यवहार-मात्र प्रतीतेः द्यूतविजित-रात्रौ कमलायामनुरागो व्यज्यते इति रसः।। – रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ४२

५१. सा० द०, ६/३१६; ६/९

५२. अभिज्ञानशाकुन्तल, षष्ठ अङ्क; विक्रमोर्वशीय, पञ्चम अङ्क।

नायक की रति में सहृदय का मन जब-जब नैतिक पक्ष से हट जाता है, तभी-तभी भावोद्बोध भी उभर आता है। परन्तु किसी विलासी पुरुष को अनेक स्त्रियों का उपभोग करते देखकर पाठक उसके प्रति रोष प्रकट किये बिना नहीं रहेगा। दक्षिण नायक की रति को 'रसाभास' न मानकर 'रस' ही मानने में आचार्यों की यही दृष्टि रही है।

३. द्रौपदी-पञ्चपाण्डव सम्बन्ध :

द्रौपदी एवं पञ्चपाण्डव का प्रसङ्ग बहुनायकनिष्ठ रति का उदाहरण है। अतः इसे भी रसाभास मान लेना चाहिए। परन्तु यहाँ 'रस' माना जाए अथवा रसाभास इस विषय में आचार्यों में प्राचीन काल से ही मतभेद रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुनायकनिष्ठरति के उदाहरण में इसी प्रसङ्ग को उद्धृत किया है –

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिता परमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः॥[५३]

– पाण्डवों के ऊपर, द्रौपदी की प्रथम दृष्टियां अतिनम्र, चंचल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिरती हैं। जगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में नवीन और प्राचीन आचार्यों के दो भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। नवीन विद्वानों के अनुसार यहाँ द्रौपदी की अनेक नायक विषयक रति प्रकट होती है, अतः 'रसाभास' है। परन्तु प्राचीनों के मत के अनुसार यहाँ 'रस' ही है, रसाभास नहीं। क्योंकि उनके अनुसार विधिवत् पाणिग्रहण न करने वाले अनेक नायक के विषय में होने वाली रति ही रसाभास होती है, यहाँ तो पांचों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् विवाहित पति हैं। अतः द्रौपदी की पाँचों पाण्डवों के प्रति रति 'रस' ही है।[५४] इस विषय में भानुदत्त के तर्क को ठीक मान कर चलें तो द्रौपदी की रति व्यवस्थित नायकों – विधिवत् विवाहित पतियों – के प्रति होने से 'रस' ही है, रसाभास नहीं।

वस्तुतः द्रौपदी पाण्डव प्रसङ्ग को 'रस' मानने का कारण आचार्यों एवं सहृदयों के परम्परागत संस्कार हैं। पाण्डव भारतीयों के मन में सत्पात्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे श्रद्धा के पात्र हैं। अतः महाभारत के पर्यालोचन से द्रौपदी तथा पाँच पाण्डवों के कथानक से आद्योपान्त परिचित भारतीय सहृदय द्रौपदी एवं

---

५३. रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५४ (बनारस हिन्दू वि० वि०)।

५४. "अत्र ......पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यंजनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्रांचस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः" – वही, पृ० ३५४-३५५

पञ्चपाण्डवों के सम्बन्ध को अनुचित नहीं मानता। वह पाण्डवों के इस कृत्य को मां कुन्ती के प्रति भक्ति का प्रतीक मान लेता है।

परन्तु किसी सामान्य नायिका का एक से अधिक नायकों के प्रति प्रेम 'रसाभास' ही होगा; भले ही उसका प्रेम विवाहित पतियों के प्रति क्यों न हो।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्रेम स्वभावतः एक निष्ठ होता हैं। दो सच्चे प्रेमियों का सम्बन्ध परस्पर श्रद्धा, विश्वास, समर्पण और प्रेम का प्रतिरूप होता है, किसी तीसरे व्यक्ति के आने से निश्चित ही इन भावनाओं में कमी आती है। परन्तु कोई कुशल कवि किसी नायक का एक से अधिक स्त्रियों में समान व्यवहार एवं प्रेम दिखा कर पाठक को भी रस अथवा भाव की अनुभूति कराने में समर्थ हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का वर्णन मानव स्वभाव के विरुद्ध होने से पाठक को कवि के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित करने में कठिनाई हो सकती है। नायिका की बहुनायकविषयिणी रति में पाठक के तादात्म्य की सम्भावना और अधिक कम हो जाती है। अतः विशेष प्रसङ्गों को छोड़ कर बहुनिष्ठरति 'रसाभास' ही होती है।

ई. अनुभयनिष्ठ रति :

परस्पर अनुरक्त सुन्दर नवयुवक नवयुवती शृङ्गार रस के आलम्बन एवं आश्रय विभाव बनते हैं। शृङ्गार रस के पूर्ण परिपाक के लिए इन दोनों में प्रेम का प्रादुर्भाव दिखाना अपेक्षित रहता है, परन्तु जहाँ रतिभाव इनमें से केवल एक ही पक्ष में दिखाया जाता है – आश्रय के प्रेम के प्रति आलम्बन की उदासीनता अथवा उपेक्षा वर्णित होती है – वहाँ शृङ्गार रस की निर्विघ्न अनुभूति नहीं हो सकती। अतएव संस्कृत के आचार्यों में रुद्रट्, रुद्रभट्ट, अभिनवगुप्त, मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ, नरेन्द्र प्रभसूरि, अभिनव कालिदास, अल्लराज, राजचूड़ामणि दीक्षित, प्रताप रुद्रकार, गोविन्दठक्कुर, उद्योतकार, भीमसेन दीक्षित एवं वामन झलकीकर ने अनुभय निष्ठ रति को रसाभास स्वीकार कियाा है। क्रमशः इन आचार्यों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :

रुद्रट एवं रुद्रभट्ट ने अननुरक्त के प्रति प्रदर्शित रति को शृङ्गाराभास माना है।[५५]

---

५५. (क) "शृंगाराभास स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः। एकस्मिन्नपरः ......" – काव्यालङ्कार (रुद्रट), १४/३६

(ख) "रक्तापरक्तवृत्तिश्चेच्छृङ्गाराभास एव सः।" –शृंगारतिलक (रुद्रभट्ट), २/३२

इन्होंने इसका कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। अभिनवगुप्त ने **'दूराकर्षण मोहमन्त्र इव में तन्नम्नि याते श्रुतिम्,**[५६] इत्यादि पद्य में अनुराग केवल रावण में ही विद्यमान होने के कारण शृङ्गाराभास माना है।[५७]

अभिनवगुप्त के अनुसार पूर्वराग की दशा में, जब तक रति उभयनिष्ठ नहीं होती, जब तक रसाभास ही मानना चाहिए। परन्तु आगे चल कर रति जब उभयनिष्ठ हो जाती है, तब रस ही होगा। इस आधार पर वे 'रत्नावली' में परस्पर दर्शन के अनन्तर सागरिका का वत्सराज में जो प्रेम होता है, उसे रसाभास मानते हैं।[५८]

मम्मट ने किसी राजा के सैनिकों द्वारा शत्रुओं की स्त्रियों का बलात् अलिङ्गन, चुम्बन आदि को रसाभास कहा है –

बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः[५९]

– हे राजन् ! आपके सैनिक, शत्रुओं की स्त्रियों को बन्दी बनाकर (उनके) पतियों के सामने (उनकी पर्वाह न करके) उनका बलात् आलिङ्गन करते हैं, (उन स्त्रियों के नराज होने पर उन्हें) प्रणाम करते हैं। उनको चारों ओर से पकड़ लेते हैं और उनका चुम्बन करते हैं। इस श्लोकार्द्ध में सैनिकों की रति अननुरक्त शत्रु स्त्रियों के प्रति प्रकट हुई है, अतः रसाभास है। मम्मट के पश्चात् विद्याधर ने अनुभयनिष्ठ रति को स्पष्ट शब्दों में रसाभास स्वीकार किया है।[६०] अनुभयनिष्ठ रति में रसाभास होने का उल्लेख विश्वनाथ ने भी किया है।[६१] उनके अनुसार

---

५६. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१९; द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अध्याय २, अभिनव प्रकरण, पृ० २८

५७. (क) हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१८

(ख) ध्व० आ० लो०, पृ० १८६-१८७ (चौ० वि०, सन् १९७९) विशेष के लिए देखिए, प्रस्तुत पुस्तक, अध्याय २, पृ० २९

५८. 'पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्' इति श्रीमल्लोचनकाराः। तत्रोदाहरणं यथा रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्सराजे रतिः। – सा० द०, ३/२६५ वृत्तिभाग, पृ० १२६

५९. का० प्र०, ५/११९

६०. – यत्र परस्परानुकूल्यकल्लोलितः प्रवर्त्तते स्थायी तत्र रसः। यत्र पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव।। – एकावली, पृ० - १०६

६१. सा० द०, ३/२६३

'मालतीमाधव' में नन्दन का मालती में अनुराग अनुभयनिष्ठ होने के कारण शृङ्गारभास है –

अनुभयनिष्ठत्वे यथा मालतीमाधवे नन्दनस्य मालत्याम्।[६२]

शिङ्गभूपाल ने भी अनुभयनिष्ठ रति को 'अराग' की संज्ञा देकर रसाभास स्वीकार किया है।[६३] अभिनवगुप्त की भाँति इन्होंने भी सीता के प्रति रावण की रति को अनुभयनिष्ठ रति के कारण रसाभास माना है :–

स रामो नः स्थाता न युधि पुरतो लक्ष्मणसखो
भवित्री रम्भोरु ! त्रिदशवदनग्लानिरधुना।
प्रायस्यत्येवोच्चै र्विपदमचिराद् वानरचमू
र्लंघिष्ठेयं षष्ठाक्षरविलेपात् पठ पुनः॥[६४]

सीता के प्रति रावण की उक्ति है – हे रम्भा के समान उरु वाली सुन्दरी ! युद्ध में लक्ष्मण सहित राम मेरे सामने टिक नहीं पायेंगे। अब देवताओं के चेहरे उतर जायेंगे। शीघ्र ही वानर सेना भारी विपदा में फँस जाएगी। अतः तुम मेरा ही ध्यान करो।

सीता अपने पति मर्यादा पुरुषोत्तम राम में मन, वचन, कर्म से समर्पित है। छलपूर्वक अपहरण कर बन्दी बनाने वाले क्रूर राक्षसराज रावण के प्रति वह घृणा, उपेक्षा, रोष आदि का भाव रखती है। ऐसी स्थिति में रावण का कामासक्त हो कर सीता को रम्भोरु कहना, राम की अपेक्षा अपनी शक्ति की प्रशंसा करना आदि बातें सीता (आलम्बन विभाव) के चित्त के सर्वथा प्रतिकूल हैं। अतः यहाँ सीता के प्रति रावण की जो रति है, वह अनुभयनिष्ठ - केवल रावण में ही - होने से शृङ्गाराभास है। शिङ्गभूपाल के अनुसार सीता के मन में रावण के प्रति न कभी राग था; न अब हैं; न भविष्य में होगा-सीता में रावण विषयक राग का अत्यन्ताभाव है, अतः यह आभास है।[६५] ऐसे प्रसङ्गों में सहृदय का रतिभाव न केवल अपुष्ट रहता है, बल्कि आश्रयपात्र के प्रति उसके चित्त में रोष, घृणा आदि भाव जागृत होते हैं।

---

६२. सा० द०, ३/२६५ के अन्तर्गत।

६३. तत्रारागस्त्वेकत्र रागाभावः, तेन रसस्याभासत्वम्। – रसार्णवसुधाकर, पृ० २०३

६४. वही, पृ० - २०३

६५. अत्र सीतायां रावणविषयरागात्यन्ताभावादाभासत्वम्। – रसार्णवसुधाकर, पृ० २०३

पूर्वराग की अवस्था रसाभास नहीं :

शिङ्गभूपाल ने पूर्वराग के विषय में एक प्रश्न उठकर स्वयं उसका उत्तर भी प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में उनका प्रश्न है कि एकत्र रागाभाव (अनुभयनिष्ठरति) को रसाभास मान लेने पर क्या पूर्वानुराग रसाभास है ? अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रश्न को रत्नावली नाटिका में आए पूर्वानुराग के एक प्रसङ्ग के माध्यम से दोहराते हुए शिङ्गभूपाल आगे लिखते हैं कि पहले जब तक राजा वत्सराज में रत्नावली के विषय में अनुराग उत्पन्न नहीं होता, उस समय वत्सराज में अनुराग रखने वाली रत्नावली का – "दुर्लभ व्यक्ति के प्रति प्रेम है। भारी लज्जा है। अपना शरीर दूसरे (वासवदत्ता आदि) के अधीन है। हे प्रिय सखि ! इस प्रकार प्रेम सङ्कटों से भरा पड़ा है। अतः मेरे लिए केवल मृत्यु ही अच्छा अपाय है।"

– इस रूप में जो पूर्वानुराग दिखाया गया है, क्या वह रसाभास है ? इसके उत्तर में उनका कथन है कि अभाव तीन प्रकार का होता हैं। **प्रागभाव** (पूर्वानुराग) २. **प्रध्वंसाभाव**, ३. **अत्यन्ताभाव।** प्रागभाव (पूर्वानुराग) में दर्शनादि के हो जाने पर थोड़े समय बाद दूसरे पक्ष में भी रागोत्पत्ति की सम्भावना है, जिससे रति उभयनिष्ठ हो जाती है। अतः इसे रसाभास नहीं मानना चाहिए। शेष दो अभावों–प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव – में दर्शनादि कारण के विद्यमान रहने पर भी दूसरे पक्ष (आलम्बन) में अनुराग की उत्पत्ति नहीं होती। अतः उनमें रसाभास ही होता है।[६६]

स्मरणीय है कि इनसे पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त ने पूर्वराग के वर्णन में रसाभास स्वीकार किया है। शिङ्गभूपाल ने इस विषय में उनके विरुद्ध मत व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में शिङ्गभूपाल की स्थापना अधिक उपयुक्त है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य रुद्रट, मम्मट एवं विश्वनाथ[६७] आदि ने भी पूर्वराग अथवा अभिलाष को विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत मान् कर इसे रस ही स्वीकार किया है।

---

६६. नन्वेकत्र रागाभावद् रसस्याभासत्वं न युज्यते। प्रथममजातानुरागे वत्सराजे जातानुरागाया रत्नावल्याः –

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम्।।

इत्यत्र– पूर्वानुरागस्याभासत्वप्रसङ्ग इति चेद्, उच्यते। अभावो हि त्रिविधः – प्रागभावोऽत्यन्ताभावः प्रध्वंसाभावश्चेति। तत्र प्रागभावे दर्शनादिकारणेषु रागोत्पत्तिसम्भावनया नाभासत्वम्, इतरयोस्तु कारणसद्भावेऽपि रागानुपत्तेराभासत्वमेव।
– रसार्णवसुधाकर, पृ० २०३

६७. (क) विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः।
पूर्वानुरागो मानाख्यः प्रवासः करुणात्मकः।। – शृं० ति०, २/१

हमारा विचार है कि पूर्वराग में 'रस' अथवा 'रसाभास' का निर्णय रति के आलम्बन एवं आश्रय की दृष्टि से करना चाहिए। आश्रय का पूर्वराग यदि योग्य आलम्बन के प्रति हुआ हो तो वहाँ इसे रस न मानने में कोई कारण नहीं हैं। वस्तुतः पूर्वराग की दशा में चित्रित होने वाली एक पक्षीय रति निकट भविष्य में दूसरे पक्ष के द्वारा स्वीकृत होगी या नहीं, इसका पूर्वाभास सहृदय को पात्रों की परस्पर अवस्था, योग्यता एवं उनकी प्रकृति के आधार पर हो जाता है। आश्रय का पूर्वराग यदि उसकी प्रकृति, अवस्था, योग्यता आदि के अनुरूप आलम्बन के विषय में है तो, वहाँ अनुभूति रस की ही होगी। शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त का एवं वत्सराज के विषय में रत्नावली का पूर्वानुराग इसी वर्ग के उदाहरण हैं। परन्तु पूर्वराग का वर्णन यदि दो विरुद्ध प्रकृति के पात्रों को लेकर किया गया हो तो वहाँ अनुभूति अनिवार्यतः रसाभास की हो होगी। उदाहरणार्थ, क्रूर रावण का सीता के विषय में पूर्वानुराग दिखाया जाए तो वह सहृदयों को काम्य न रहने से रसाभास का कारण होगा। इसी प्रकार पूज्य व्यक्ति के विषय में पूर्वराग, किसी वृद्धा का नवयुवक के विषय में पूर्वराग एवं किसी सत्पात्र के विषय में दुष्टपात्र के पूर्वराग में भी रसाभास ही होगा।

यहाँ यह विचारणीय है कि अनुभयनिष्ठ रति के प्रसङ्ग में अन्य आचार्यों ने केवल स्त्री में ही राग के अभाव को रसाभास कहा है, जबकि शिङ्गभूपाल अन्य आचार्यों के मत के विरुद्ध पुरुष में राग का अभाव होने पर भी रसाभास स्वीकार करते हैं।[६८] इन्हीं के अनुकरण पर भानुदत्त[६९] एवं अल्लराज[७०] ने भी पुरुष में रागाभाव होने पर रसाभास माना है। शिङ्गभूपाल ने अनुराग का प्रध्वंसाभाव दिखाने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसमें पुरुष में अनुराग का अभाव है :

गते प्रेमावेशे प्रणयबहुमानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे प्रयणिनि जने गच्छति पुरः।

(ख) अपरस्तु अभिलाष-विरहेर्ष्याप्रवास-शापहेतुक इति पंचविधः - का० प्र०, ४/२९ – के अन्तर्गत।

(ग) "स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्" – सा० द०, ३/१८७

६८. अन्ये तु स्त्रिया एव रागाभावे रसस्याभासत्वं प्रतिजानते। न तदुपपद्यते। पुरुषेऽपि रागाभावे रसस्यानास्वादनीयत्वात्। – रसार्णवसुधाकर, पृ० २०३

६९. एकस्यैव रतिश्चेद्रसाभास एव। एकस्या एव रतिश्चेद्रसाभास एव। – रसतरंगिणी, ८/१८ पर व्याख्या।

७०. केवलं योषिदनुरागाद् यथा - रसरत्नप्रदीपिका, ६/४५; पृ० ४१

तदुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतु र्दलति शतधा यन्न हृदयम्॥[७१]

यह किसी परित्यक्ता स्त्री का कथन प्रतीत होता है, जिसे उसके पति ने पूर्ण रूप से त्याग दिया है। अपने पति से अब उसका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। एक दूसरे के प्रति रहने वाला उनका प्रेमावेश समाप्त हो चुका है। प्रणयमान भी गलित हो गया है। परस्पर सद्भाव भी विनष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में भी वह अपने पति एवं बीते दिनों के विषय में सोचती हुई दु:खी हो रही है। किन्तु खेद है कि फिर भी उसके हृदय के सौ टुकड़े नहीं हो जाते।

शिङ्गभूपाल के अनुसार यद्यपि यहाँ हृदयदलन के अभाव तथा बीते हुए दिनों के स्मरण आदि से अनुमित निर्वेद, स्मृति आदि के सहारे स्त्री के मन में पति के प्रति दृढ़ अनुराग प्रकट होता है तथापि पुरुष के प्रेमावेश इत्यादि के शिथिल हो जाने के कथन से स्पष्ट है कि स्त्री के प्रति पुरुष में किसी प्रकार का अनुराग नहीं है - उसमें अनुराग का प्रध्वंसाभाव है, जिससे यहाँ स्त्री का अनुराग चारुता को प्राप्त नहीं होता।[७२] अतः यहाँ रसाभास है।

यद्यपि शिङ्गभूपाल ने प्रस्तुत प्रसङ्ग को अनास्वादनीय कह कर रसाभास सिद्ध किया है, परन्तु उनका यह विचार चिन्तनीय है। यहाँ किसी स्त्री में उसकी स्मृति के सहारे जो अनुराग प्रकट हुआ है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले कभी पति का भी उसके प्रति दृढ़ अनुराग था। ऐसी स्थिति में बीते हुए संयोग के मधुर क्षणों को स्मरण कर स्त्री के मन में यदि पति (भले ही वह उसका परित्याग कर चुका है) के प्रति प्रेम जागृत होता है तो उसमें सहृदय को किसी प्रकार की अनौचित्यानुभूति नहीं होती। कारण कि एक तो उसका अनुराग मनोवैज्ञानिक है। उसका यह अनुराग ऐसे व्यक्ति के विषय में है जिसके साथ उसका पहले प्रेम सम्बन्ध रहा है, दूसरे स्मृति के सहारे वह जो अनुराग प्रदर्शित कर रही है, उससे किसी प्रकार की नीति का विरोध भी नहीं होता।

---

७१. (क) रसार्णव सुधाकर, पृ० २०४
(ख) रसरत्न प्रदीपिका, ६/४५, पृ० ४१

७२. अत्र हृदयदलनाभावपूर्वगतदिवसोत्प्रेक्षाद्यनुमितै र्निर्वेदस्मृत्यादिभिरभिव्यक्तोऽपि स्त्रिया अनुरागः प्रेमावेशस्लथनादिकथितेन पुरुषगतरागध्वंसनेन चारुतां नाप्नोति। - रसार्णवसुधाकर, पृ० २०४

अतः इस स्थल पर संयोगशृङ्गार का आस्वाद भले ही प्राप्त न हो, पर इससे वियोग शृङ्गार की अनुभूति तो हो ही सकती है। यह प्रङ्ग रसाभास निम्नोक्त कारणों से बन सकता है –

१. पति ने स्त्री के किसी असह्य दुराचार के कारण उसका त्याग किया हो,
२. अथवा पति के दुष्ट स्वभाव के कारण स्त्री स्वयं उसे छोड़ आई हो,
३. या सैद्धान्तिक मतभेद अथवा आपसी अहं के टकराव के कारण दोनों ने राजी-खुशी अलग-अलग जीवन-यापन का निर्णय लिया हो और उसके लम्बे अन्तराल के बाद पति किसी दूसरी पत्नी के साथ जीवनयापन कर रहा हो।

प्रथम एवं द्वितीय अवस्था में क्रमशः स्त्री एवं पुरुष के दुर्व्यवहार के स्मरण हो जाने से सहृदय का उसके अनुराग के साथ तादात्म्य नहीं होता। तृतीय अवस्था में पति के प्रति उसकी यह प्रेमाभिव्यक्ति पति के वर्तमान पत्नी के अधिकार विरुद्ध होने से सहृदय को काम्य नहीं होता। फिर भी यह निर्णय अन्तिम नहीं है, क्योंकि पति-पत्नी के सम्बन्ध की प्रबलता के कारण, स्मर्यमाण व्यक्ति के पतित्व के आधार पर सहृदय का स्त्री के वियोगावस्था से साधारणीकरण सम्भव है।

शिङ्गभूपाल ने राग के अत्यन्ताभाव से होने वाले रसाभास का यह उदाहरण दिया है –

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुःक्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षसि।
मिथ्या कारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यःपुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बोधौ जिनःपातु वः॥[७३]

– ध्यान के बहाने किस (युवती) का स्मरण कर रहे हो ? क्षण भर आँख खोल कर काम-बाण से व्याकुल इस जन को तो देखो, रक्षक होकर भी रक्षा नहीं कर रहे हो। तुम झूठ-मूठ के दयालू हो, तुम से ज्यादा निर्दयी पुरुष और कहाँ हो सकता है। मारबधुओं द्वारा ईर्ष्यापूर्वक इस प्रकार कहे गए जिन (भगवान् बुद्ध) आपकी रक्षा करें।

---

७३. रसार्णवसुधाकर, पृ० २०४

इस पद्य में समाधि में स्थित भगवान् बुद्ध से मारबधुओं द्वारा किये गये प्रणय-निवेदन का चित्रण किया गया है; किन्तु मारबधुओं के प्रति बुद्ध का न कभी अनुराग था, न है, और न भविष्य में होगा, अतः जिन (बुद्ध) में राग का अत्यन्ताभाव होने से यह पद्यशृङ्गाराभास रूप है।[७४] ध्यानस्थित बुद्ध से मारबधुओं का काम-निवेदन करना एवं बुद्ध द्वारा अपनी कुत्सित कामवासना की पूर्ति के अभाव में उन्हें निर्दय कहना महान् अनौचित्य है। इसी प्रकार किसी आदर्शचरित्र के धनी पुरुष के समक्ष कामासक्त युवति का रति-निवेदन भी रसाभास होगा।

भानुदत्त ने भी रति की उभयनिष्ठता पर बल दिया है। उनके अनुसार दोनों युवक-युवतियों की जहाँ परस्पर रति होगी, वहीं रस होगा। अन्यथा दोनों में से केवल पुरुष में ही रति होगी तो रसाभास होगा। इसी प्रकार केवल स्त्री की रति रहने पर भी रसाभास ही होता है।[७५]

भानुदत्त ने केवल पुरुषगत रति का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है –

सीतासमागमश्लाघाबन्धुरं दशकन्धरम्।
प्रहर्त्तुं क्षमते कामो रामो वा निशितैः शरैः॥[७६]

– सीता-समागम की इच्छा से बन्धुर (चंचल या वक्र) रावण को कामदेव अथवा राम ही तीव्र शरों से प्रहार करने में समर्थ हैं। यहाँ रति केवल रावण में ही है, वही सीता में मोहासक्त है। सीता की उस में कोई रुचि नहीं। वह उसे घृणा, अपेक्षा करती है। अतः अनुभयनिष्ठरति के कारण यहाँ रसाभास है।[७७]

---

७४. अत्र जिनस्य रागात्यन्ताभावेन रसाभासत्वम् - रसार्णवसुधाकर, पृ० २०४

७५. तस्माद् द्वयो र्यूनो र्यत्र मिथो रतिस्तत्रैव रसः। एकस्यैव रतिश्चेद्रसाभास एव। एकस्या एव रतिश्चेद्रसाभ एव। - रसतरङ्गिणी, ८/१८ वृत्तिभाग।

– एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं 'युवक-युवती का परस्पर परिपूर्ण आनन्द अथवा सम्यक् (औचित्य युक्त) सम्पूर्ण रति भाव शृङ्गार है। स्त्री-पुरुष में से किसी एक में आनन्द अथवा रति का आधिक्य, न्यूनता अथवा अभाव में परिपूर्णता का अभाव होने से रसाभास होगा - यूनोःपरस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक् सम्पूर्णरतिभावो वा शृङ्गारः। यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रते र्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति च। – वही, ६/२ वृत्तिभाग पृ० १००

७६. वही, ८/१९

७७. अत्र रावणस्यैव रति र्न सीतायाः। – वही, ८/१९ पर वृत्ति।

इसी प्रकार केवल युवती में रति होने पर भी रसाभास होता है –

निधुवनप्रान्ते यान्तं चलै र्नयनान्चलैः
किमिति वलितग्रीवं मुग्धे मुहुर्मुहुरीक्षसे
विफलमखिलं यूनो र्नो चेदुदेति परस्परं
रतिरथ मनोजन्मा देवःस एव निषेव्यताम्।।[७८]

– कोई युवक केलिवन की ओर जा रहा था। कोई युवती उसके शारीरिक सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो गई। वह बार-बार अपनी गर्दन मोड़ कर टेढ़ी नजरों से उसे देखती जा रही है। इससे स्पष्ट है कि युवती में युवक के प्रति रति का प्रादुर्भाव हो गया है, परन्तु युवक इस रति से अन्जान है। उसके मन में अभी तक युवती के प्रति किसी प्रकार का भाव नहीं है। इस सारी स्थिति से परिचित कोई पथिक युवती से कहता है कि 'तुम्हारा युवक को इस प्रकार बार-बार देखना व्यर्थ है, क्योंकि युवक का तुम्हारे प्रति कोई प्रेम नहीं है। और यदि दोनों में प्रेम है तो भी ये चेष्टायें व्यर्थ हैं, क्योंकि फिर तो समागम में कोई बाधा नहीं है।' भानुदत्त के अनुसार इस पद्य में रति केवल नायिका में ही दिखाई गई है, नायक में नहीं। अतः एक पक्षीय रति के कारण यह रसाभास है।[७९] परन्तु हमारा निवेदन है कि किसी सुन्दर नवयुवक को देखकर युवती का उस ओर आकर्षित हो जाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक है। और इससे किसी प्रकार का नैतिक अनौचित्य भी प्रकट नहीं होता। नायिका जब मुड़-मुड़ कर नायक को देखती है तो सहृदय नायक की प्रतिक्रिया जानने के लिए उत्सुक हो जाता है। उसकी यही इच्छा होती है कि नायक भी उसकी ओर आकर्षित हो। शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रसङ्ग पूर्वराग का है। अतः इसे रसाभास न मानकर 'रस' ही मानना उपयुक्त है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि पूर्वराग रसाभास का कारण तभी बनता है, जब वह अनुचित आलम्बन के प्रति प्रकट किया गया हो।[८०] रूपगोस्वामी ने एकनिष्ठरति को विभाव की विरूपता (अनौचित्य) के कारण शृंगार उपरस माना है[८१] –

मन्दस्मितं प्रकृतिसिद्धमपि व्युदस्तं-
सङ्गोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः।

---

७८. रसतरंगिणी, – ८/२०

७९. अत्र नायिकाया एव रति र्न तु नायकस्य। – रसतरंगिणी, ८/२० वृत्तिभाग।

८०. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५

८१. द्वयोरेकतरस्यैव रति र्या खलु दृश्यते।
याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता।। – भ० र० सिं०, ९/८

धूमायिते द्विजवधूमदनात्तिवन्हा –
वन्हाय काऽपि गतिरङ्कुरितामयासीत्॥ – भ० र० सिं०, ९/१०२०

– (श्रीकृष्ण ने) स्वभावसिद्ध भी मन्द मुस्कान हाटा दी एवं सहज भी नेत्रों की चंचलता छुपा ली। इस प्रकार ब्राह्मणों की स्त्रियों में कामाग्नि के धूमायित (प्रारम्भित) होने पर शीर्घ ही कोई दशा अंकुरित हो गई। यह विप्र-स्त्रियों में श्रीकृष्ण के प्रति काम उत्पन्न होने पर कृष्ण की अवस्था का वर्णन है। श्रीकृष्ण के दर्शन से ब्राह्मण-वधुओं में तो कामाग्नि आरम्भ हो गई परन्तु श्रीकृष्ण ने यह सोचकर कि ये ब्राह्मणी हैं, अतः पूज्या है उनमें रति नहीं की। कृष्ण ने अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट एवं आँखों की चंचलता को भी यह सोच कर छुपा लिया कि कहीं इससे विप्र-स्त्रियां मुझे अपने में अनुरक्त न समझ लें। इस प्रकार केवल विप्र-स्त्रियों में रति होने से यह शृंगार उपरस है। एक पक्ष किसी के प्रति पूज्यभाव के कारण रति-विमुख हो और दूसरा पक्ष तब भी उसके प्रति आकृष्ट हो तो वह स्थिति पाठक को उद्वेजक ही होगी।

अनुभयनिष्ठरति के सम्बन्ध में उनका विचार है कि किसी एक पक्ष में रति का अत्यन्ताभाव हीशृंगार उपरस होता है, रति का प्रागभाव नहीं –

अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः।
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत्॥ – भ० र० सिं०, ९/१०

इस प्रकार शिङ्गभूपाल आदि की भाँति रूपगोस्वामी भी पूर्वराग की अवस्था को प्रकारान्तर से रस ही मानते हैं, रसाभास नहीं।

अप्पय दीक्षित ने शत्रु राजाओं की स्त्रियों के प्रति प्रकट होने वाली किरातों की रति को शृंगाराभास स्वीकर किया है।[८२] यहाँ भी अनौचित्य का कारण पति की अनुभयनिष्ठता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अनुभयनिष्ठ रति का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है–

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥[८३]

---

८२. कुवलयानन्द, १७१ ऊर्जस्वि अलङ्कार का उदाहरण –
"त्वत्प्रत्यर्थिवसुन्धरेशतरुणीः सन्त्रासतः सत्वरम्, इत्यादि।
– इस पद्य का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। (द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० – ३, 'रसाभास और ऊर्जस्वि अलङ्कार प्रकरण, पृ० ८९)

८३. रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५३ (काशी हि० वि० वि०)

– वर ने नई व्याही हुई दुलहिन को भुजरूपी पिंजड़े में जकड़ लिया। अतएव वह बाला उसी समय जाल में पड़ी हुई हरिण की बच्ची की तरह कांपने लगी। जगन्नाथ का कथन है कि यहाँ नववधू में रति का थोड़ा भी स्पर्श नहीं है। अतः रति के अनुभयनिष्ठ होने - केवल नायक में ही रहने - के कारण शृङ्गाराभास है।[८४]

इस पद्य में नायक की भुजा में पड़ी नववधू के कम्पन का जो कथन हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि नव-विवाहिता वधू कोमलांगिनी कन्या है। अभी उस में यौवन का पूर्ण संचार नहीं हुआ है। और उसका पति पूर्णयौवन है। जो कि अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए नववधू की इच्छा के प्रतिकूल आचरण कर रहा है।[८५] विधिवत् विवाहित होने के कारण यद्यपि नववधु में उसका प्रेम शास्त्रानुमोदित है, परन्तु उसका प्रेम कन्या की अवस्था के सर्वथा प्रतिकूल होने से अनुचित है – लोकविरुद्ध है। लोक में ऐसा अमानवीय प्रेम निन्दनीय समझा जाता है। नायक की एक पक्षीय वासनात्मक रति बालत्कार का रूप धारण कर रही है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी भी काम में यदि कर्त्ता की स्वतन्त्रता निहित रहती है तो वह उसके लिए आनन्दप्रद होता है। परन्तु यदि वह किसी काम में परतन्त्रता या विवशता के कारण प्रवृत्त होता है तो उससे उसे दुःख या असन्तोष मिलता है। स्त्री-पुरुष के सुखद-सम्बन्ध के लिए भी दोनों में स्वतन्त्रता की अनुभूति अनिवार्य है। समागम-काल में प्रेमी-प्रेमिका को सुख इसलिए मिलता है कि दोनों स्वतन्त्र हो कर इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं। बलात्कार आदि की स्थिति में एक पक्ष (स्त्री) स्वयं को विवश, परतन्त्र अनुभव करता है। इसीलिए वह अन्य पक्ष का विरोध करता है। तात्पर्य यह है कि सम्भोगश्रृंगार के समुचित परिपाक के लिए ऐसी दशा का चित्रण अपेक्षित रहता है, जिसमें पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका दोनों भोक्तृत्व का अनुभव करते हों। इसके विपरीत जहाँ स्त्री-पुरुष में से एक पक्ष दूसरे पक्ष को अथवा स्वयं को विवशता आदि के कारण भोग्य समझे वहाँ श्रृंगाराभास होगा।

---

८४. अत्र रते र्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्। – वही, पृ० ३५३

८५. शास्त्रीय दृष्टि से यह पद्य अज्ञात यौवना मुग्धा नायिका का उदाहरण है। यह नायिका और उसके पति के बीच स्नेहव्यवहार का वर्णन उभयपक्षीय न होकर लगभग एक पक्षीय होता है। साथ ही इन दोनों के मध्य सम्भोग-वर्णन क्रूरता, प्रकृतिविरुद्धता तथा अनाचार को प्रकट करता है। अतः यह प्रसङ्ग अनिवार्यतः रसाभास का है।

इसी प्रकार सीता के प्रति रावण की विप्रलम्भ रति भी रसाभास होगी। –

व्यतस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते,
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त लङ्केश्वरः॥[८६]

– जनकपुत्री सीता के सौन्दर्य से आकुल हुआ लंकेश्वर रावण क्षण में अंट-संट बोलने लगता है। क्षण में मौन हो जाता है। कभी सभी वस्तुओं को निरुद्देश्य देखने लगता है। उसके अंगों में थोड़ा भी धैर्य नहीं है। हा हन्त बड़ा कष्ट है। यहाँ सीता के विषय में रावण की विप्रलम्भ रति अनुभयनिष्ठ-केवल रावण में – होने के कारण तथा जगद्गुरु रामचन्द्र की पत्नी (पूज्यव्यक्ति) के विषय में होने के कारण आभास रूप है।[८७]

नरेन्द्र प्रभसूरि ने भी सीता के विषय में रावण की रति को रसाभास माना है –

पुलकं जनयन्ति दशकन्धरस्य राघवशराः शरीरे।
जनकसुतास्पर्शमहार्घकरतलाकृष्टविमुक्ताः॥[८८]

– जनकनंदिनी सीता के स्पर्श के कारण बहुमूल्य हाथों से छोड़े हुए राम के वाण रावण के शरीर को रोमञ्चित कर रहे हैं। अभिनव कालिदास भी एक पक्षीय रति को रसाभास स्वीकार करते हैं।[८९]

विद्याधर एवं अल्लराज का भी विचार है कि रस वहां होता है जहाँ स्त्री-पुरुष में परस्पर अनुराग रहता है। अन्यथा दोनों में से केवल पुरुष में अथवा केवल स्त्री में अनुराग होने पर रसाभास होता है।[९०] सीता विषयक रावण की रति में रति केवल पुरुष - रावण में है, अतः वह रसाभास है –

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तुष्णीं बहिः स्थीयतां
स्वल्पं जल्प वृहस्पते जड़मते ! नैषा सभा वज्रिणः।

---

८६. रसगंगाधर, १म आनन, 'रसाभास प्रकरण', पृ० ३५५ (काशी हि० वि० वि०)।

८७. अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया, जागद्गुरुपत्नी-विषयकतया चाभासतां गता। – वही, पृ० ३५६

८८. अलङ्कारमहोदधि, ३/२१९, पृ० ९६

८९. नञ्जराजयशोभूषण, चतुर्थविलास, पृ० ३८

९०. (क) यत्र परस्परानुकूल्यकल्लोलितः प्रवर्त्तते स्थायी तत्र रसः। यत्र

वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो !
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥[९१]

– हे ब्रह्मन् ! यह वेद-पाठ का समय नहीं है। चुपचाप बाहर बैठो। हे मूर्ख ! बृहस्पते ! थोड़ा बोलो, यह इन्द्र की सभा नहीं है। हे नारद ! वीणा को बजाना बन्द करो। हे तुम्बुरो ! स्तुति कथा एवं बातचीत काफी हो गई, अब बस करो। क्योंकि सीता के माँग में सिन्दूर की रेखा रूपी भाले से हृदय के घायल हो जाने से लंकेश्वर रावण (आज) स्वस्थ नहीं है।

इसी प्रकार केवल स्त्री में अनुराग होने के कारण उपस्थित होने वाले रसाभास को शिङ्गभूपाल द्वारा इसी प्रसङ्ग में उद्धृत – **'गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमानेऽपि गलिते'**[९२] इत्यादि द्वारा दिखाया गया है। विश्वेश्वर पाण्डेय द्वारा प्रस्तुत रसाभास का उदाहरण भी अनुभयनिष्ठ रति का है –

शस्त्रीकृतस्तरुवरो हरिपुङ्गवेन लङ्केन्द्रवक्षसि मृणालमृदुःपपात।
तत्र स्थितैस्तु कुसुमैः कुसुमेषुरेनं सीतावियोगविधुरं दृढमाजघान॥[९३]

इनके अतिरिक्त एकनिष्ठ रति से रसाभास होने का उल्लेख अभिनव कालिदास,[९४] राजचूड़ामणि,[९५] प्रतापरुद्रकार एवं काव्य प्रकाश के टीकाकारों में गोविन्दठक्कुर, उद्योतकार, सुधासागरकार भीमसेन और वामन झलकीकर[९६] ने किया है।

पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव।। – एकावली, पृ० १०६

(ख) एतेन द्वयो र्यूनो र्यत्र रतिस्तत्रैव रसः, अन्यथा रसाभास एव। – रसरत्नप्रदीपिका, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ४१

९१. (क) अत्र न कथमपि मिथिलाधिराजतनयायाः प्रेमभाजनं भवति रामभद्रेतरस्ततः सर्वथा तस्यामनौचित्येन रतिः प्रावर्त्तत रावणस्य रसाभासः समजनि विप्रलम्भशृङ्गारः। – एकावली, पृ० १०५-६

(ख) रसरत्नप्रदीपिका, ६/४४, पृ० ४१

९२. (क) वही, ६/४५

(ख) रसार्णवसुधाकर, पृ० २०४

९३. रसचन्द्रिका, पृ० ५० (चौ० सं० सीरीज़ आफिस, वाराणसी, वि० सम्० १९८३)।

९४. नंजराजयशोभूषण, पृ० ३८

९५. काव्यदर्पण, ४/१७८, वृत्ति भाग, पृ० २१०

९६. द्रष्टव्य – काव्य प्रकाश, वामनी टीका, पृ० १२१

इस प्रकार संस्कृत के सभी प्रमुख आचार्यों ने अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास स्वीकार किया है। परन्तु रति की अनुभयनिष्ठता प्रत्येक स्थिति में रसाभास का कारण नहीं बनती। उदाहरणार्थ, प्रतिदान की भावना से मुक्त निःस्वार्थ प्रेम अनुभयनिष्ठ होने पर भी रसाभास का कारण नहीं बनता। उदाहरणार्थ एक कल्पित प्रसङ्ग लें – "कोई रूपवती युवति अपने समान स्तर-गुण के किसी युवक को मन ही मन चाहती है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, युवक के प्रति उसका प्रेम और तीव्र होता जाता है। परन्तु युवक उसके प्रेम से अनभिज्ञ है। युवती लज्जा एवं पिता आदि के भय से उसके समक्ष प्रणय-विवेदन नहीं कर पा रही है। इसी मध्य युवक किसी अन्य युवती के साथ विवाह सूत्र में बंध जाता है। प्रथम युवती अब भी युवक को पूर्ववत् चाहती है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि उसका प्रेमी अब उसका जीवन साथी नहीं बन सकता। उसे तो उससे निःस्वार्थ प्रेम है - प्रतिदान की भावना से मुक्त प्रेम है।" कोई कुशल कवि इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर सहृदय के मन में पूर्ण तादात्म्यानुभूति उत्पन्न कर सकता है। हमारे प्राचीन आचार्य भी इस प्रकार की अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास नहीं मानते थे। इस का सङ्केत उनके द्वारा अनुभयनिष्ठरति के प्रसङ्ग में उद्धृत उदाहरणों से मिल जाता है। इन्होंने अनुभयनिष्ठ रति के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उसके विवेचन के आधार पर अनुभयनिष्ठरति तभी बनती है –

१. जब एक पक्षीय रति का आश्रय खलनायक हो और उसका आलम्बन नायिका हो। अर्थात् क्रूर, अत्याचारी पुरुष की पतिव्रता, कुलीन नारी के प्रति होने वाली रति रसाभास बनती है। यथा - रावण की सीता के प्रति रति।

२. जब स्त्री की वासनात्मक रति जितेन्द्रिय पुरुष जैसे समाधिस्थ योगी, सन्यासी आदि के प्रति प्रकट हुई हो अथवा किसी उच्च चरित्र पुरुष के प्रति हो। जैसे समाधिस्य बुद्ध के विषय में मारबधुओं का काम-निवेदन और कृष्ण के प्रति विप्रस्त्रियों का प्रेम।

३. जब आश्रय (युवक) की सम्भोग रति किसी अल्पवयस्का कन्या के विषय में हो। जैसे जगन्नाथ के उदाहरण में कामुक नायक की सम्भोग रति कन्या के प्रति प्रकट हुई है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आश्रय एवं आलम्बन में परस्पर अनुराग के अभाव में रतिभाव अपुष्ट रहता है, जिससे रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता। अतः अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास माना गया है। परन्तु अनुभयनिष्ठ रति रसाभास का ऐकान्तिक कारण नहीं है। संभोग शृंगार में अनुभयनिष्ठ रति को रसाभास मानना उचित है। परन्तु विप्रलम्भ शृंगार में, जहाँ

आश्रय आलम्बन से किसी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता वहां, 'रस' मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

उ. प्रतिनायकनिष्ठरति :

आचार्य भोजराज[९७] एवं विश्वनाथ[९८] ने प्रतिनायक (नायक के शत्रु) में होने वाली रति को रसाभास स्वीकार किया हैं। संस्कृत साहित्य में प्रतिनायक को धर्म के प्रतिकूल आचरण करने वाला (पापी), और काम, क्रोधादि व्यसनों में लिप्त रहने वाला कहा गया है।[९९] उसका स्मरण होते ही सहृदय के सामने क्रूर, अनाचारी व्यक्ति की तस्वीर सामने आ जाती है। उसके अनुत्कर्ष एवं विनाश में ही पाठक सन्तोष का अनुभव करता है। उसके प्रति किसी का प्रेम या आकर्षण उसे अवांछनीय है। भोजराज ने इस का कोई उदाहरण नहीं दिया। विश्वनाथ ने 'हयग्रीव वध' में हयग्रीव के जलक्रीड़ा-वर्णन को प्रतिनायकनिष्ठरति के कारण रसाभास माना है –

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीड़ावर्णने[१००]

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि प्रतिनायक के प्रति उसकी पत्नी अथवा उसी के पक्ष की किसी युवती की रति की अपेक्षा उसके विषय में नायिका अथवा नायक के पक्ष की युवती की रति अधिक उद्वेजक होगी। इसी प्रकार प्रतिनायक का स्वपत्नी-विषयक प्रेम की अपेक्षा नायिका-विषयक प्रेम अधिक उद्वेजक होगा।

ऊ. अधम पात्रगत रति :

भरत मुनि ने शृंगार रस को शुचि, उज्ज्वल और दर्शनीय माना है।[१०१] उत्तम प्रकृति के स्त्री-पुरुष शृंगार के आलम्बन विभाव बनते हैं।[१०२] अतः अधमपात्रगत

---

९७. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/३०

९८. सा० द०, ३/२६४

९९. "धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः" – वही, ३/१३१

१००. वही, ३/२६४ के अन्तर्गत।

१०१. तत्रशृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः।
यत्किंचिल्लोके शुचिर्मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। – ना० शा०, ६/४५ वृत्तिभाग।

१०२. (क) स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः। – वही, ६/४५ वृत्तिभाग।

रति को भोजराज, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी, नरेन्द्रप्रभसूरि, अभिनव कालिदास, प्रतापरुद्रकार एवं काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर ने रसाभास स्वीकार किया है। भोजराज ने इसका उदाहरण नहीं दिया। विश्वनाथ ने अधमपात्रगत रति का अधोलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्ली कुसुमानि कापि भिल्ली।
अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा॥[१०३]

– अपने जघनस्थल पर लताओं से पत्तों को बाँधे हुए कोई भील की स्त्री कुटज-पुष्पों का चयन करके पहाड़ में पति के आगे बैठी हुई उससे अपने केशों को अलंकृत करा रही है। यहाँ समाज में अधम माने जाने वाले भील दम्पती का अनुराग दिखाया गया है, अतः रसाभास है।

शिङ्गभूपाल के अनुसार अधमपात्रनिष्ठ रति को रसाभास मानने का कारण उसकी अयोग्यता है।[१०४] इन्होंने इसका यह उदाहरण दिया है –

आर्यां मोहनसुप्तां मृतेति मत्वा धाविते हालिके।
दरस्फुटितफलोदराभि र्हसितमिव कर्पासलताभिः॥[१०५]

– कोई किसान किसी के द्वारा सम्मोहित कर दिये जाने के कारण सोई हुई अपनी पत्नी को मरी हुई समझ कर दौड़ पड़ता है, जिससे उसे देखकर कुछ-कुछ खिले हुए फलों वाली कपास की लतायें मानो हंस रही हैं। किसान सम्मोहन द्वारा की गई सुप्ति-दशा का और मरण दशा का विवेक नहीं कर पा रहा है। इसी अविवेक के कारण उसका म्लेच्छत्व (अधमत्व) सिद्ध होता है।[१०६] ऐसे विवेकशून्य अधम व्यक्ति के अनुराग वर्णन में रसाभास होता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी हीन जाति के मनुष्यों के प्रेमवर्णन को रसाभास माना है–[१०७]

(ख) उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते। - सा० द०, ३/१८३

(ग) 'शृङ्गारो हि समुज्ज्वलस्य शुचिनो दर्शनीयस्यैव वस्तुनो मुनिना विभावत्वेनाम्नानात्' – रसार्णवसुधाकर, पृ० २०६-२०७

१०३. सा० द०, ३/२६४ के अन्तर्गत।

१०४. 'अयोग्यकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्' - रसार्णवसुधाकर, २/९९

१०५. वही, पृ० २०५-२०६

१०६. 'अत्र सुरतमोहनसुप्तिमरणदशयो र्विवेकाभावेन हालिकस्य म्लेच्छत्वं गम्यते' – वही, पृ० २०५

१०७. अलङ्कारमहोदधि, ३/५३ के अन्तर्गत, पृ० ०६

विक्रीणाति माघमासे पामरो बदरं बलिवर्देन।
निर्धूम-मुर्मुरौ श्यामायाः स्तनौ पश्यन्॥[१०८]

– श्यामा स्त्री के निर्धूम-मुर्मुर (कामोद्दीपक) स्तनों को देखकर, कोई नीच पुरुष बैल के बदले में बेर को खरीद रहा है। रूपगोस्वामी ने भी म्लेच्छ स्त्री (पुलिन्दी)[१०९] की रति को रसाभास माना है। उनके अनुसार म्लेच्छ स्त्रियों में चतुरता एवं उज्ज्वलता आदि का अभाव रहता है।[११०] अतः उसकी रति रसाभास बनती है –

कालिन्दीपुलिने पश्य पुलिन्दी पुलकांचिता।
हरे र्दृक्चापलं प्रेक्ष्य सहजं या विघूर्णते॥[१११]

– यमुना किनारे रोमांचित पुलिन्दी को देखो जो कि हरि के नेत्रों की स्वाभाविक चंचलता को देखकर विघूर्णन कर रही है। यहाँ निम्न वर्ण की पुलिन्दी की रति श्रीकृष्ण के प्रति प्रकट हुई है, अतः शृङ्गाराभास है। म्लेच्छगत रति में रसाभास होने का उल्लेख अभिनव कालिदास[१११-ए], प्रतापरुद्रकार एवं काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य ने भी किया है।[११२]

इस प्रसङ्ग में यह बात उल्लेखनीय है कि अधमपात्रगत रति से अभिप्राय समाज में निम्न मानी जाने वाली जातियों - धोबी, चमार, भिल आदि - के तथा समाज में प्रतिष्ठाहीन असभ्य लोगों के अनुराग वर्णन से है। हमारे काव्याचार्यों ने उत्तम आदि प्रकृतियों का मापदण्ड सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उच्च जाति को माना है। नाटकादि में नायक आदि बनने का अधिकार भी उत्तम प्रकृति के लोगों को ही दिया गया है।[११३] यहाँ पर एक शङ्का उठाई जा सकती है कि उत्तमपात्रों की भाँति अधमपात्र भी रति के विभाव बन सकते हैं तो उनकी रति को 'रस' न मानकर 'रसाभास' मानने का क्या अर्थ है ? यह ठीक है कि कुलीनता, ऐश्वर्य,

---

१०८. अलङ्कारमहोदधि, ३/२२६, पृ० ९६

१०९. 'किरातशवरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' – अमरकोश, २ य काण्ड, १० वर्ग, २० श्लो०।

११०. वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता।
लतापशुपुलिन्दीषु बृद्धास्वपि स वर्तते।। – भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१२

१११. नंजराज यशोभूषण, पृ० ९/१०२४

१११-ए, वही, पृ० ३८

११२. काव्य प्रकाश, वामनाचार्य टीका, पृ० १२१

११३. त्यागी कुलीनः कुशलो रतेषु कल्पः कलावित्तरुणो धनाढ्यः।
भव्यः क्षमावान्सुभगोऽभिमानी स्त्रीणां मतज्ञः किल नायक; स्यात्।। – शृंगारतिलक, १/२७

सभ्यता, कलाप्रवीणता आदि सब में सुलभ नहीं है, परन्तु काम-भावना तो सभी जातियों के व्यक्तियों में समान रूप में पाई जाती है और वह सभी को आनन्द देने वाली है।[११४] ऐसी स्थिति में अधम लोगों के प्रेम को अनौचित्यपूर्ण कैसे माना जा सकता है। इस का उत्तर यह है कि प्रेम करना एक कला है। सभ्य स्त्री-पुरुष के अनेकविध हावभाव पूर्ण अनुराग वर्णन के समान प्रेम की कला से शून्य अधम-पात्रों की रति सहृदय को रुचिकर नहीं होती। काव्य के आस्वादयिता अधिकतर सुसम्पन्न एवं सुशिक्षित व्यक्ति होते हैं। अतः सुदर्शन, सम्पन्न, कुलीन युवक-युवती के प्रेम वर्णन में उन्हें जो आनन्दानुभूति होती है, वह असभ्य अधम प्रकृति के लोगों की रति में नहीं होती।

अधमपात्रगत रति को रसाभास मानने का विचार मनोविज्ञान के भी अनुकूल है। मनोविज्ञान के अनुसार शील, शक्ति तथा सौन्दर्य के प्रतिष्ठान ही आकर्षण के स्थान होते हैं। उच्चकुलोत्पन्न, सम्पन्न व्यक्तियों में ये विशेषताएँ सुलभ होती हैं। अतः सहृदय उनके प्रेम-वर्णन को बड़ी रुचि के साथ ग्रहण करता है। इसके विपरीत शील, शक्ति तथा सौन्दर्य से हीन अधम-पात्रों के प्रेम-वर्णन में सहृदय की उदासीनता सम्भावित रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अधम पात्रगत रति को रसाभास मानने का कारण उनमें प्रेमाभिव्यक्ति की अकुशलता है। इस प्रसङ्ग में आचार्यों ने जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें पात्रों को अभद्र शैली में प्रेम प्रकट करते हुए दिखाया गया है। अतः जिस स्थल पर अधमपात्रों के प्रेम-प्रदर्शन में अशिष्टता स्पष्टतः लक्षित नहीं होती, वहाँ रसाभास की अनुभूति अनिवार्य नहीं, वहाँ रसास्वाद सम्भव है। तात्पर्य यह है कि प्रेम की कला से अनभिज्ञ असभ्य व्यक्ति के भद्दे प्रेम-प्रदर्शन को ही रसाभास मानना चाहिए।

(ए) तिर्यक्‌गत रतिभाव :

संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने तिर्यग्गत रति को रसाभास माना है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर भामह प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने पशु-पक्षिगत भाव-वर्णन

अन्य द्रष्टव्य, (क) काव्यालंकार (रुद्रट), १२/७-८; (ख) सा० द०, ३/३०

११४. 'तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृदयतेति पूर्वं शृङ्गारः'। – काव्यानुशासन, अ० - २, पृ० ८१

को अनौचित्यपूर्ण माना। इन्होंने पशु-पक्षियों के द्वारा दौत्य-कर्म को अयुक्तिमत्[११५] दोष मानकर प्रकरान्तर से पशु-पक्षियों में मानवीय भावारोपण का स्पष्ट विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह भी कथन है कि – "दूर देश तक विचरण करने वाले, वाणी-विहीन (मेघ, पवन आदि) अथवा अस्पष्ट वाणी वाले ये (हारीत, चक्रवाक्, शुक आदि) दूत का काम कैसे कर सकते हैं ? (अतः) ऐसा वर्णन युक्तियुक्त नहीं है।[११६] आचार्य कुन्तक ने भी पशु आदि गत भाव को केवल उद्दीपन-विभाव के रूप में वर्णन करने का निर्देश देकर प्रकारान्तर से इनके आलम्बन रूप में वर्णन को अनुचित माना है।[११७] कदाचित् भामह एवं कुन्तक के इसी विचार से प्रभावित होकर परवर्ती कतिपय आचार्यों ने पशु-पक्षिगत रतिभाव के वर्णन को शृङ्गार रसाभास माना है।[११८]

परन्तु इसके विपरीत आचार्यों का दूसरा वर्ग पशु-पक्षीगत रति को रसाभास स्वीकार नहीं करता, रस ही मानता है।[११९] वस्तुतः पशु-पक्षीगत भाव वर्णन के विषय में प्रचलित दो विरुद्ध धारणाओं का सङ्केत सर्वप्रथम भामह ने ही दिया है। पशु-पक्षी के दौत्य-कर्म को अयुक्तिमत् दोष मानते हुए भी इनका कथन है कि – 'बुद्धिमान् पुरुष भी इसका प्रचुर प्रयोग करते हैं' –

"यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते।।"[१२०]

---

११५. अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मरुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।। - का० अ०, १/४२
– मेघ, पवन, चन्द्रमा, भ्रमर, हारीत, चक्रवाक, शुक आदि दूत (बनें) यह अयुक्तिमत् दोष है।

११६. अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते।। – वही, १/४३

११७. रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा।। – वक्रोक्तिजीवित, ३/८

११८. प्रस्तुत पुस्तक, पृ० १९४

११९. वही, पृ० १९१

१२०. काव्यालङ्कार, १/४४ – ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के अयुक्तिमत् दोष की कल्पना का आधार मेघदूत जैसे दूतकाव्य हैं। निर्जीव, वाणीविहीन अपि च अस्पष्ट वाणी वाले चक्रवाक, शुक आदि पक्षी दौत्य कर्म करें, यह बात युक्ति संगत नहीं है; परन्तु इतना होने पर साहित्य में प्राचीन कवियों के द्वारा रचित

अर्थात् और यदि उत्कण्ठा के कारण कोई (कवि) उन्मत्त के समान ऐसा (पशु-पक्षी के दौत्यकर्म का) कथन करता है तो वह भी ठीक ही है, बुद्धिमान् भी इसका प्रचुर प्रयोग करते हैं। जहाँ तक भामह की रुचि का प्रश्न है, उनके **'यदि चौत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते'** वाक्य से यही प्रतीत होता है कि वे ऐसे वर्णन को अनुचित ही मानते हैं।

पशु-पक्षी गत रति को रस माना जाए अथवा रसाभास, इस बात का उल्लेख करने से पूर्व यहाँ पक्ष-विपक्ष के आचार्यों के तत्सम्बन्धी विचारों को उपस्थापित किया जा रहा है :

१. पशु-पक्षी गत रति को रसाभास न मानने वाले आचार्य एवं उनके विचार :

विद्याधर - पशु-पक्षी गत रति को रसाभास न मानने के पक्ष में विद्याधर ने अपना मत प्रकट किया है। इन्होंने पशु-पक्षी के प्रेम को भी रस ही स्वीकार किया है। अपने इस विचार की पुष्टि में उनका तर्क है कि पशु-पक्षी आदि में भी विभावादि की योजना हो सकती है। इसके विरुद्ध यह कहना उचित नहीं है कि विभाव आदि के ज्ञान से शून्य पशु-पक्षी आदि रस के पात्र होने में (अर्थात् रसास्वाद के माध्यम होने में) असमर्थ हैं। यह ठीक है कि पशु-पक्षी आदि को विभाव आदि के विषय में ज्ञान नहीं होता; किन्तु रस के लिए विभावादि की विद्यमानता आवश्यक है न कि उनका ज्ञान। फिर मनुष्यों में भी कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनको विभाव आदि का ज्ञान नहीं होता। यदि विभाव आदि के ज्ञान को रसास्वाद का कारण मान लिया जाए तो ऐसे मनुष्यों के भाववर्णन में भी रस का अभाव (रसाभास) मानना पड़ेगा। अतः पशु-पक्षी में भी रस रहता ही है अर्थात् तिर्यगादि के रति-वर्णन में भी सहृदय भावक को रसास्वाद सम्भव है।[१२१] अपने

इसके इतने रमणीय उदाहरण उपलब्ध हैं कि उन्हें सर्वथा त्याज्य नहीं माना जा सकता। कदाचित् इसी अभिप्राय को भामह ने 'तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते' कह कर व्यक्त किया है।

१२१. अपरे तु रसाभासं तिर्यक्षु प्रचक्षते। तन्न परीक्षाक्षमम्। तेष्वपि विभावादि सम्भवात्। विभावादिज्ञानशून्यास्तिर्यञ्चो न भाजनं भवितुमर्हन्ति रसस्येति चेन्न। मनुष्येष्वपि केषुचित् तथाभूतेषु रसविषयभावाभावप्रसङ्गात्। विभावादिसम्भवो हि रसं प्रति प्रयोजको न विभावादिज्ञानम्। ततश्च तिरश्चामप्यस्त्येव रस इति। - (क) एकावली, पृ० १०६; (ख) रसार्णव सुधाकर, पृ० २०६

मन्तव्य की पुष्टि में इन्होंने निम्न पद्य प्रस्तुत किया है :–

ददौ सरः पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गुण्डूषजलं करेणुः
अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा॥[१२२]

– हथिनी ने तालाब के कमल के पराग से सुगन्धित कुल्ली का जल हाथी को दिया, चक्रवाक पक्षी ने आधा खाये हुए विस से पत्नी का सत्कार किया।

विद्याधर का विचार है कि यहाँ गज आलम्बन से उत्पन्न, वसन्त आदि उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त, सुगन्धित गण्डूषजल दान रूप अनुभाव से प्रकाशित (पुष्ट या व्यक्त), हर्ष आदि व्यभिचारिभाव से परिपक्व (उपचित) हथिनी का अनुराग (रति) सम्भोग-शृङ्गार की दशा को प्राप्त हुआ है। एवमेव चक्रवाक की रति के विषय में भी समझना चाहिए।[१२३]

काव्य प्रकाश के टीकाकार भीमसेन :

इसी प्रकार सुधासागरकार भीमसेन दीक्षित का भी मत है कि तिर्यगादिगत रति को रसाभास मानना सम्प्रदायानुसरण मात्र है – लीक पर चलना है। आचार्य भोजराज आदि ने तिर्यगादिगत रति को रसाभास कहा था, अतः अन्य आचार्यों ने भी उन्हीं के अनुसरण पर ऐसा स्वीकार कर लिया। वस्तुतः अनौचित्य ही रसाभास का कारण है। पशु-पक्षी आदि (के भाव-वर्णन) में अनौचित्य के न रहने से रस ही होता है रसाभास नहीं।[१२४] अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए भीमसेन ने काव्यप्रकाश की वृत्ति से प्रमाण ढूँडा है। उनका कथन है कि स्वयं वृत्तिकार (मम्मट) ने भी पशुगत भय-वर्णन में एवं पक्षिगत विप्रलम्भ वर्णन में क्रमशः भयानक रस एवं विप्रलम्भ शृङ्गार रस माना है।[१२५] अधोलिखित पद्य में पशुगत

---

१२२. एकावली, पृ० १०६

१२३. अत्र गजेनालम्बनविभावेन जनिता वसन्तादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपिता सुरभिगण्डूषजलदानानुभाव प्रकाशिता, हर्षादिभि र्व्यभिचारिभिरुपचिता करेणोः सम्भोग-शृङ्गारितां प्रतिपन्नैव रतिः। एवं रथाङ्गविषयापि। – एकावली, पृ० १०६-१०७

१२४. "इदं च परिगणनं सम्प्रदायानुसरणमात्रम्। हीनपात्रेषु तिर्यक्षु नायक-प्रतियोगिषु। गौणेषु च पदार्थेषु तदाभासं विजानते॥"
– इति सरस्वतीकण्ठाभरणादिविसंवादात्। वस्तुतस्त्वनौचित्यमात्रमेवामीषां मनसाभासताप्रयोजकम्। तिर्यगादौ तु अनौचित्याभावाद्रस एव। न तदाभासः। – का० प्र०, (वामनी टीका) पृ० १२१

१२५. अतएव वृत्तिकारो 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादौ तिर्यग् विषयतया भयानकं,' मित्रे क्वापि गते, इत्यादौ तिर्यग् विषयतया विप्रलम्भं चोदजहार। – वही, पृ० १२१

भय-भाव का वर्णन है –

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चादर्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥[१२६]

अर्थात्-देखो, (सामने दिखाई देने वाला यह हरिण) पीछा करते हुए रथ पर गर्दन मोड़ कर बार-बार देखने के कारण सुन्दर दीखने वाला, बाण लगने के भय से अपने शरीर के पिछले अर्द्धभाग से अपने शरीर के अगले भाग में प्रविष्ट होता हुआ, (भागने के) परिश्रम से खुले हुये मुख से नीचे गिरने वाले आधे चबाये हुए दर्भों से व्याप्त मार्ग वाला, अत्यधिक (ऊँचा और लम्बा) कूदने के कारण आकाश में अधिक और पृथ्वी पर थोड़ा जा रहा है।

इसी प्रकार सुधासागरकार का कथन है कि मम्मट ने पक्षी के वियोग को विप्रलम्भशृङ्गार के रूप में उद्धृत किया है –

मित्रे क्वापिगते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम्।
चक्राह्वेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छता॥[१२७]

(मित्र अर्थात् कमलों के आह्लादकारक) सूर्य के कहीं चले जाने (अस्त होने) पर, सन्तप्त होने वाले भ्रमरों के रोने (शब्द करने) और (अपनी) प्रियतमा के पास खड़े हुए सारस को देखकर, वियोगी चक्रवाक ने (खाने के लिये मुख में पकड़ी हुई) विसलता (मृणालदण्ड) न तो खायी और न छोड़ ही दी, किन्तु (वियोग दुःख के कारण, शरीर को छोड़ कर) निकलते हुए प्राण के (रोकने के) लिये कण्ठ (रूप द्वार) में अर्गला के समान लगा दी (जिससे जीवात्मा शरीर छोड़कर बाहर न निकल सके)।

इस प्रकार सुधासागरकार ने प्रथम उदाहरण के द्वारा पशु हरिणगत भयभाव का एवं द्वितीय उदाहरण के द्वारा पक्षी चक्रवाकगत विप्रलम्ब रति का मम्मट सम्मत उदाहरण देकर सप्रमाण यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि

– ऐसा प्रतीत होता है कि सुधासागरकार काव्यप्रकाश के कारिका भाग तथा वृत्तिभाग के लेखक को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इसीलिए उन्होंने वृत्तिभाग के रचयिता के लिए 'वृत्तिकार' शब्द का प्रयोग किया है।

१२६. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, १/७; का० प्र०, ४/४१

१२७. का. प्र०, ८/६७; ८/३४; ८/३४६ (उदाहरण)।

पशु-पक्षी गत भाववर्णन में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है और ऐसे वर्णनों से सहृदयों को रस का ही आस्वाद प्राप्त होता है न कि रसाभास का।

इसी प्रकार कुमारस्वामी तथा राजमूड़ामणि दीक्षित भी पशु-पक्षि गत भाव-वर्णन को रसाभास स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि यदि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादि श्लोक को पशुगत भय का उदाहरण स्वीकार कर सकते हैं तो पशु-पक्षी आदि में रति वर्णन को रति मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।[१२८]

संस्कृत के एक लेखक हरिपाल तिर्यक्गत रति को सम्भोग रस मानते हैं।[१२९]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर तिर्यगगतरति को रस मानने वाले आचार्यों की धारणा के निष्कर्ष के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि विभावादि रस सामग्री की सम्यक् योजना ही रस परिपाक में हेतु है और पशु-पक्षी आदि भी रति आदि भाव के आलम्बन बन सकते हैं। अतः तिर्यगादि के भाव-वर्णन को रस ही मानना उचित है। इस प्रसंग में यह कहना उचित नहीं है कि पशु आदि को विभावादि का ज्ञान नहीं होता, अतः वे रस-सामग्री में आलम्बन आदि नहीं बन सकते क्योंकि विभावादि की विद्यमानता ही रस का प्रयोजक है, उसका ज्ञान नहीं।

तिर्यग्गत रति का रसाभास मानने वाले आचार्य एवं उनके मत :

इसके विपरीत आचार्य भोजराज,[१३०] हेमचन्द्र,[१३१] विश्वनाथ,[१३२] शिङ्गभूपाल[१३३] नरेन्द्र प्रभसूरि,[१३४] नरसिंह[१३५] एवं काव्यप्रकाश के प्रदीप टीका के लेखक गोविन्द ठक्कुर,[१३६] वामनाचार्य झलकीकर[१३७] तथा प्रतापरुद्र[१३८] तिर्यग्गत रति को रसाभास मानते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने तिर्यग्गत विप्रलम्भ रति को निम्नोक्त उदाहरण द्वारा समझाया है –

आपृष्टासि व्यथयति मनो दुर्वला वासरश्री -
रेह्यालिङ्ग क्षपय रजनीमेकिका चक्रवाकि।
नान्यासक्तो न खलु कुपितो नानुरागच्युतो वा
दैवाशक्तस्तदिह भवतीमस्वतन्त्रस्त्यजामि।।[१३९]

– हे चक्रवाकि ! क्षीण होती हुई दिन की शोभा मन को कष्ट दे रही है,

---

१२८. रससिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण, पृ० २४८ पर उद्धृत कुमार स्वामी तथा राज चूड़ामणि दीक्षित का मत।

१२९. सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्ति नित्यता।
अतोऽम्याधायि संभोगो रसः शृंगारकः (तः) प्रथक्।।
नम्बर आफ रसाज़, पृ० १४५ पर उद्धृत हरिपाल का मत।

१३०. (क) सरस्वती कण्ठाभरण, ५/१०२
(ख) वही, ५/३०

१३१. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। – का० अनु०, २/५४

आओ (मेरा) आलिङ्गन करो, रात अकेली ही व्यतीत करो, दैवाधीन मैं परतन्त्र होकर तुम्हें छोड़ रहा हूँ न कि किसी अन्य में आसक्त, तुम से क्रुद्ध या तुम्हारे प्रति प्रेम शून्य होकर।

यद्यपि यहाँ चक्रवाकी आलम्बन विभाव, सन्ध्या का समय उद्दीपन-विभाव, निर्वेद आदि सञ्चारिभाव, इन सब रस-सामग्री की विद्यमानता है फिर भी पाठक को इससे शृङ्गार रस की निर्बाध आनन्द की प्राप्ति नहीं हो रही है। कारण स्पष्ट है कि यहाँ रति के आलम्बन युवक-युवति न होकर चक्रवाक और चक्रवाकी हैं।

दृश्य काव्य में इस प्रकार का वर्णन असम्भव है। साथ ही श्रव्यकाव्य में भी ऐसे काव्य को पढ़कर पाठक को विश्वास नहीं होता है कि एक चक्रवाक चक्रवाकी से इस प्रकार प्रणयवार्ता कर सकता है। यदि किसी सहृदय को इससे रसानुभूति हो भी जाती है तो उसका कारण यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में उसका चित्त किसी काल्पनिक युवा-युवति का आक्षेप कर लेता है।

आचार्य विश्वनाथ ने तिर्यग्गत रति का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है –

मल्ली मतल्लीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती।
चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गी सङ्गीतमङ्गीकुरुतेस्म भृङ्गी।।[१४०]

इसमें गुंजन करती हुई भ्रमरी को देखकर कवि ने कल्पना की है कि वह अपने प्रियतम भ्रमर को आमन्त्रित कर रही है। प्रतीत होता है कि सामान्य पाठकों के लिए ऐसी कवि-कल्पना के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाना कठिन होने के कारण विश्वनाथ ने इसे रसाभास की कोटि में रखा है।

---

१३२. .... तदवदधमपात्रतिर्यगादि गते।
शृङ्गारे अनौचित्यम् ....।। – सा० द०, ३/२६४

१३३. र० सु०, पृ० २०६-२०८

१३४. अलङ्कार महोदधि, ३/५३ के अन्तर्गत, पृ० ९६

१३५. नञ्ज० य० भू०, पृ० ३८

१३६. काव्यप्रदीप, पृ० ९२; का० प्र० वामनी टीका, पृ० १२१

१३७. का० प्र० वामनी टीका, पृ० १२१

१३८. वही, पृ० १२१

१३९. का० अनु०, २/५४ (व्याख्या)।

१४०. सा० द०, ३/२६५

विश्वनाथ द्वारा तिर्यग्गत रति के उदाहरण के रूप में उद्धृत अन्य उदाहरण यह हैं –

मधुः द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः।।[१४१]

– कामातुर भ्रमर अपनी प्रिया का अनुगमन करता हुआ पुष्परूप एक पात्र में मधु का पान करने लगा और स्पर्शसुख से मुँदी आँखों वाली मृगी को उसका प्रेमी कृष्णसार मृग सींग से धीरे-धीरे खुजलाने लगा।

विश्वनाथ के बाद शिङ्गभूपाल ने प्रबल तर्क देकर पशु-पक्षीगत रति को रसाभास सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुतः तिर्यग्योनिगत रति को रसाभास मानने वाले आचार्यों में शिङ्गभूपाल का मत सबसे विस्तृत एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। एकावली के रचयिता विद्याधर के विचार के विरुद्ध इनका मत है कि पशु-पक्षी आदि शृङ्गार के लिये विभाव नहीं बन सकते, क्योंकि भरतमुनि ने शृङ्गार रस में उज्ज्वल, पवित्र और दर्शनीय वस्तु को ही विभाव रूप में परिगणित किया है। पक्षी आदि में स्वच्छता, स्नान आदि का अभाव होने के कारण उनमें उज्ज्वलता, पवित्रता और दर्शनीयता का अभाव प्रसिद्ध ही है। अतः वे शृङ्गाररस के आलम्बन नहीं बन सकते। अपनी जाति के योग्य धर्म के अनुसार हाथी का हाथिनी के प्रति विभावत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह (हाथी) हथिनी के प्रेम का लौकिक कारण तो बन सकता है, परन्तु काव्य में अलौकिक विभावत्व को प्राप्त नहीं हो सकता।

अपि च किसी वस्तु के अपनी जाति के योग्य धर्मों के द्वारा ही विभावत्व सिद्ध नहीं होता। विभावत्व तभी सिद्ध हो सकता है जब वह प्रमाता (भावक) के चित्त में उल्लास उत्पन्न करे। काव्य के आस्वादयिता भावक के चित्त में उल्लास की उत्पत्ति विशेष प्रकार की रति से ही सम्भव है। तथा च औचित्य विवेक ही विभावादि का ज्ञान होता है और उस विभावादि ज्ञान से शून्य पशु-पक्षी विभाव नहीं बन सकते। और यदि कोई यह आशंका प्रकट करे कि कुछ मनुष्य भी विभावादि के ज्ञान के शून्य होते हैं, अतः उनकी रति को भी रसाभास मानना पड़ेगा तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि विवेक रहित मनुष्य के उपलक्षणभूत म्लेच्छगत अनुराग को रसाभास मानना ही अभीष्ट है।[१४२] भाव प्रदर्शन की

---

१४१. अत्र सम्भोग शृङ्गारस्य तिर्यक् विषयत्वाद्रसाभाग एव – सा० द०, १/२ (व्याख्या)।

१४२. न तावत् तिरश्चां विभावत्वमुपपद्यते। शृङ्गारे हि समुज्ज्वलस्य शुचिनो दर्शनीयस्यैव वस्तुनो मुनिना विभावत्वेनाम्नात् तिरश्चामुद्वर्तनमज्जनकल्परचनाद्यभावाद् उज्ज्वलशुचि

अयोग्यता के कारण नीच पशु–पक्षी आदि के भाववर्णन को रसाभास कहा गया है।[१४३]

रूपगोस्वामी ने चतुरता एवं उज्जवलता के अभाव को विभाव की विरूपता मानकर पशु आदि में विभावविरूपता की विद्यमानता स्वीकार की है। शृङ्गार के आलम्बन विभाव में चातुर्य एवं उज्ज्वलता का वर्तमान रहना आवश्यक है, किन्तु इनसे रहित पशु आदि जहाँ शृङ्गार के आलम्बन बनते है, वहाँ शृङ्गार उपरस (रसाभास) होता है।[१४४] उदाहरणार्थ –

पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः तुरङ्गीः
पतङ्गकन्यापुलिनेऽद्य धन्याः।
याः केशवाङ्गे तदपाङ्गपूताः
सानङ्गरङ्गां दृशमर्पयन्ति।।[१४५]

– अर्थात् आज सूर्य कन्या यमुना के किनारे धन्य, अत्यन्त प्रसन्न एवं अद्भुत इन घोड़ियों को तो देखो जो श्रीकृष्ण के कटाक्ष से पवित्र होकर उनके शरीर पर कामयुक्त दृष्टि समर्पित कर रही हैं। इसमें श्रीकृष्ण को देखकर घोड़ियों में शृङ्गारिक भाव दिखाया गया है। घोड़ी पशु है, अतः उसके आलम्बन विभाव होने से यहाँ शृङ्गार उपरस (रसाभास) है।

नरेन्द्र प्रभसूरि भी तिर्यगादि में मानव नायकोचित भाव वर्णन को रसाभास मानते हैं।[१४६] इन्होंने तिर्यग्गत रति के उदाहरण के रूप में **'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे'**

दर्शनीयत्वमसम्भावना प्रसिद्धैव। अथ स्वजातियोग्यै धर्मैः करिणां करिणीं प्रति विभावत्वमिति चेन्न। तस्यां कक्षायां करिणां करिणीरागं प्रति कारणत्वं न पुनर्विभावत्वम्। किञ्च जातियोग्यै धर्मैर्वस्तुनो न विभावत्वम् अपितु भावकचित्तोल्लासहेतुभिरति विशिष्टैरेव। किंच विभावादिज्ञानं नामौचित्यविवेकः, तेन शून्यास्तिर्यञ्चो न विभावतां यान्ति। तर्हि विभावादिज्ञानरहितेषु मनुष्येषु रसाभासप्रसङ्ग इति चेद्, नैष दोषः। विवेकरहितजनोपलक्षणम्लेच्छगतस्य रसस्याभासत्वे स्वेष्टावाप्तेः। – रसार्णव सुधाकर, पृ० २०६–२०७

१४३. अयोग्यकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्। – वही, २/९९

१४४. भक्तिरसामृतसिन्धु, उत्तर विभाग, ९/१२

१४५. वही, ९/१२ (उदाहरण)।

१४६. (क) आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि।।

(ख) तिर्यगादिषु इन्द्रियवर्जितेष्वपि च नायकत्वारोपाद् रसाभासभावाभासाः।। – अलङ्कारमहोदधि, ३/५३

इत्यादि पद्य को ही उद्धृत किया है, जिसे हेमचन्द्र[१४७] विश्वनाथ आदि[१४७-ए] ने इसी प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। साथ ही इन्होंने तिर्यग्गत रति के कारण होने वाले विप्रलम्भ शृङ्गाराभास को **"आदृष्टासि व्यथयति मनो दुर्वला वासरश्री"**[१४८] इत्यादि पद्य द्वारा दिखलाया है। नरसिंह कवि भी तिर्यग्गतरति को रसाभास मानते हैं।[१४९]

काव्यप्रकाश के प्रदीप टीका के लेखक गोविन्द ठक्कुर,[१५०] वामनाचार्य झलकीकर[१५१] एवं प्रतापरुद्रकार[१५२] भी तिर्यग्गत भाव को रसाभास ही मानते हैं।

उपर्युक्त तिर्यक्गत रति भाव को रसाभास मानने वाले आचार्यों के मत का सार यह है कि शृङ्गार रस अन्य रसों की तुलना में श्रेष्ठ है। अतः इस के लिये आलम्बन का विचार सबसे महत्त्वपूर्ण है। शृङ्गार को शुचि, पवित्र, उज्ज्वल तथा दर्शनीय माना गया है। अतः इसका आलम्बन साधारण नहीं हो सकता। यदि यह मान भी लिया जाए कि पशु पक्षी को भी रति आदि के आस्वाद का ज्ञान रहता है तब भी उससे सामाजिक के चित्तसंवाद का प्रश्न नहीं सुलझता। सहृदय को पशु-पक्षी के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाना कठिन है। अतः पशु-पक्षी को रति के विभावादि के रूप में चित्रण कर देने मात्र से विभावत्व सिद्ध नहीं होता। विभावत्व तभी सिद्ध होता है जब वह सहृदय के चित्त में उल्लास उत्पन्न करे। पशु-पक्षी गत रति-वर्णन से सहृदय सामाजिक को मानवीय रतिवर्णन के सदृश आनन्दानुभूति नहीं होती, अतः तिर्यगादि योनिगत रति वर्णन को रसाभास मानना ही उचित है, रस नहीं।

इस प्रकार आचार्यों की तिर्यग्गत रति विषयक पक्ष-विपक्ष की धारणाओं के विश्लेषण के बाद कौन-सा मत अधिक उचित है, यह सहसा कह पाना कठिन है। संस्कृत साहित्य के विशाल क्षेत्र में कई ऐसे स्थल भी है जहाँ पशु-पक्षियों के व्यापारों का प्रभावपूर्ण चित्रण मिलता है। कालिदास के शाकुन्तल में दुष्यन्त

---

१४७. द्रष्टव्य, काव्यानुशासन, २/५४, पृ० २२१

१४७-ए सा० द०, १म परिच्छेद।

१४८. अलङ्कार महोदधि, ३/५३ – हेमचन्द्र ने भी तिर्यग्गत रतिभाव का यही उदाहरण दिया है। देखिए, काव्यानुशासन, २/५४

१४९. नंजराज यशोभूषण, ४, पृ० ३८ (ओ० इं०, बड़ौदा, १९३०)

१५०. का० प्र०, वामनाचार्य टीका, पृ० १२१

१५१. वही, पृ० १२१

१५२. उक्तं च प्रतापरुद्रेऽपि –
एकत्रैवानुरागश्च तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि च।
योषितो बहुसक्तिश्चेद् रसाभासास्त्रिधा मतः।। – वही, पृ० १२१

के बाण से भयभीत होकर दौड़ते हुये हरिण का चित्रण,[१५३] कुमारसम्भव में शिव की काम भावना को जागृत करने के लिये कालिदास द्वारा किया गया मृग-मृगी आदि की चेष्टाओं का वर्णन,[१५४] नैषधीय चरित में राजा नल के द्वारा पकड़ लिये जाने पर हंस के द्वारा अपनी जननी, पत्नी एवं बच्चों के लिये की गई करुण प्रार्थना[१५५] आदि इसी प्रकार के स्थल हैं जो सहृदयों को भाव-विभोर करने में सर्वथा समर्थ हैं। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के दो प्रसिद्ध कथा-काव्य पंचतन्त्र तथा हितोपदेश में भी पशु-पक्षियों के चातुर्य, उत्साह आदि का वर्णन निस्सन्देह सहृदय के चित्त को उद्वेलित करने में सक्षम हैं। परन्तु उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुये भी पशु-पक्षिगत प्रत्येक भाव को, विशेषतः रतिभाव को, मानवीय भाव- वर्णन या रतिवर्णन के समकोटि का मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि पशु-पक्षी विषयक करुणा, भय आदि भावों का चित्रण भले ही प्रभावोत्पादक प्रतीत हों पर उनको प्रेम करते हुये दखकर सहृदय को अस्वाभाविकता की ही अनुभूति होगी। हमारे प्राचीन आचार्य इस बात से सर्वथा अभिज्ञ थे। यही कारण है कि उन्होंने पशु-पक्षि विषयक रति वर्णन एवं अन्य भाव वर्णन में भिन्नता प्रदर्शित की है। इन आचार्यों ने पशु-पक्षियों के विषय में अन्य भावों के वर्णन को अनौचित्यपूर्ण न मानकर केवल इनके रति वर्णन को ही अनुचित माना है। दूसरे शब्दों में पशु-पक्षियों का शृङ्गारेतर रसों का आलम्बन होने का निषेध न करते हुये भी इन्होंने शृङ्गार रस में इनके आलम्बनत्व का स्पष्ट निषेध किया है। यद्यपि इस बात का स्पष्ट उल्लेख परवर्ती विश्वनाथ,[१५६] शिङ्गभूपाल[१५७] एवं रूपगोस्वामी[१५८] के ग्रन्थों में मिलता है, तथापि इस तथ्य का सङ्केत पूर्ववर्ती आचार्य हेमचन्द्र ही दे चुके थे। तिर्यगादि विषयक भाव-वर्णन के अनौचित्य का उल्लेख करके भी इनके द्वारा तिर्यगत रति[१५९] को ही उद्धृत करना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

प्रेम एक सूक्ष्म भाव है, अन्यान्य चेष्टाओं के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति एवं स्वीकृति की कुशलता योग्य मानव जाति में ही सम्भव है। इसके विपरीत

---

१५३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, १. ७.
१५४. कुमार सम्भव, ३/३६
१५५. नैषधीय चरित, १/१३५-१४२
१५६. साहित्यदर्पण, ३/२६४
१५७. रसार्णवसुधाकर, पृ० २०६
१५८. भक्तिरसामृतसिन्धु, उ० वि०, ९/१२
१५९. का० अनु०, २/५४ के अन्तर्गत।

मन:शक्ति एवं विवेक शून्य पशु-पक्षी का प्रेम वर्णन स्वभाव विरुद्ध होने के कारण अनुकूल प्रभाव नहीं डालते। साथ-साथ चलते हुये भ्रर-भ्रमरी को एक ही फूल का रस चूसते हुये देखकर अथवा मृग के शृङ्ग के खुजलाने पर आनन्द के कारण आँखें बन्द करती हुई मृगी को देखकर यह विश्वास करना कठिन है कि इनकी ये चेष्टाएँ आपसी प्रेम के कारण ही हैं अथवा इनकी ये चेष्टाएँ अपनी जाति के योग्य धर्म मात्र है। इसी प्रकार कुटज वन में लताओं के ऊपर गूँजती भ्रमरी को देखकर कवि की यह कल्पना कि भ्रमरी अपने मधुर गीतों से अपने सहचर (भ्रमर) को आमन्त्रित कर रही है, पाठकों के विश्वास से परे की बात है। अत: इस प्रकार के प्रसङ्गों सेशृङ्गार रस के निर्विघ्न आस्वाद की आशा नहीं की जा सकती। इन प्रसङ्गों में पाठक कवि की अलङ्कार योजना से थोड़ा चमत्कृत मात्र होता है।

परन्तु पशु पक्षिगत रति भाव का उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रण रसाभास का जनक नहीं होता। यदि कवि विशेष उद्देश्य को लेकर पशु-पक्षिगत प्रेम को मानवीय भावों के उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णन करता है तो वह रसाभास का जनक नहीं होता। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग का वह प्रसङ्ग जहाँ शिव पर काम का विजय दिखाने के उद्देश्य को लेकर पशु-पक्षी आदि को प्रेममग्न दिखाया गया है – इस स्थापना का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ कवि का उद्देश्य जड़-चेतन सभी में काम का अतिशय प्रभाव दिखा कर, शिव पर उसका विजय दिखलाना है। इस प्रसंग में सहृदय पाठक को पशु-पक्षी आदि में प्रदर्शित रति से उत्पन्न अनौचित्य के प्रति ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता। अत: वह इस अनौचित्य से अप्रभावित रहकर काम के सृष्टि-व्यापी प्रभाव से प्रभावित हो जाता है।

सम्पूर्ण प्रसङ्ग शिव में काम भावना जागृत करने के कार्य में उद्दीपन का काम करता है। अत: शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रसङ्ग उद्दीपन विभाव है। यही कारण है कि यहाँ पशु-पक्षिगत प्रेम वर्णन भी सहृदय के चित्त में विरसता उत्पन्न नहीं करता। परन्तु जहाँ पशु-पक्षियों के प्रेम का स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में चित्रण होगा वहाँ उससे रसाभास की ही सम्भावना होगी। कुमारसम्भव में चित्रित पशु-पक्षिगत प्रेम वर्णन में यदि शिव और कामदेव के प्रसंग को ध्यान में न रखा जाए तो निस्सन्देह वह पाठक के मन के अनुकूल नहीं होगा। ऊपर हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ आदि द्वारा तिर्यग्गतरति के प्रसंग में उद्धृत उदाहरणों की विवेचना में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान रखने की है कि पशु-पक्षिगत प्रेम-वर्णन में अनौचित्य से अभिप्राय किसी प्रकार के शास्त्र विरोध से नहीं है – इससे पाठक की किसी प्रकार के नैतिक भावना को चोट नहीं पहुँचती बल्कि यह वर्णन

अनुचित इस अर्थ में है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पशु-पक्षी शृङ्गार या प्रेम के योग्य पात्र नहीं हैं। सहृदय शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में सुन्दर, स्वस्थ नवयुवक-नवयुवति को ही देखना चाहता है। यही कारण है कि पशु-पक्षियों के प्रेम-चित्रण में उसका हृदय मानवीय रति वर्णन के समान आनन्द मग्न नहीं हो पाता। साधारण पाठक को इस बात का आसानी से विश्वास नहीं हो पाता कि पशु-पक्षी आदि भी प्रेम करते हैं। एक मृगी किसी मृग से सचमुच प्रेम कर सकती है, उसके वियोग में तड़प सकती है, उसके साथ दाम्पत्य सम्बन्ध रख सकती है एवं उसके बिना स्वयं को अपूर्ण मानती भी है, इत्यादि बातों पर हमें पूरा विश्वास नहीं होता। अतः इनकी रति के वर्णन में सहृदय मानवीय रति की पूर्ण चरितार्थता का अनुभव करने में असमर्थ रहता है। हम मृग-मृगी या चकवा-चकवी आदि को साथ चलते या एक साथ बैठते देखकर उनका यह जातीय धर्म मान लेते हैं। साधारणतः हम इतना भँर सोच पाते हैं कि इनके ये व्यापार केवल ऐन्द्रिक आनन्द प्राप्ति के हेतु हैं। अपनी इसी धारणा के प्रभाव स्वरूप इस ओर अपनी अनास्था या उदासीनता का भाव रखते हैं। अतः एव हम इनके प्रेम वर्णन के साथ तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं।

आचार्यों द्वारा पशु-पक्षिगत रति भाव के वर्णन को रसाभास मानने का यही कारण प्रतीत होता है। इस प्रसंग में हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का यह कथन उद्धरणीय है :

"आचार्यों ने तिर्यक् विषयक रतिभाव का जो उल्लेख रसाभास के भीतर किया उससे यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि जिस भाव के प्रति कवि या श्रोता का मन उदासीन है उसको भी वे रसाभास या भावाभास के ही भीतर रखना चाहते थे। मृगी के प्रति मृग जिस रति भाव का अनुभव करता है, वह अनुचित नहीं है। बात यह है कि मृगी रूप आलम्बन में मनुष्य श्रोता या पाठक अपने दाम्पत्य रति की पूर्ण चरितार्थता का अनुभव नहीं कर सकता।............ आलम्बन के प्रति श्रोता की जिस उदासीनता का उल्लेख हुआ है, वह सच पूछिये तो विशेषत्व के कारण होती है। जो आलम्बन मनुष्य जाति की सामान्य-प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखता अपितु आश्रय की विशेष प्रकृति या स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है, उसके प्रति आश्रय के भाव का भागी श्रोता या पाठक पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।"[१६०]

सारांश यह है कि तिर्यक् विषयक रति वर्णन में सहृदय को मानवीय दाम्पत्य प्रेम की अनुभूति नहीं होती, अतः उसका हृदय पशु-पक्षियों के प्रेम के प्रति

---

१६०. रसमीमांसा, पृ० ७२-७३ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत्, २०२३)।

उदासीन रहता है। अतः इस दृष्टि से पशु-पक्षियों के प्रेम वर्णन को रस की कोटि में न रखकर, रसाभास मानना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में डा० प्रशान्त का यह कथन विचारणीय है जिसमें उनका कथन है कि हमारे आचार्यों ने सिद्धान्तरूप में तिर्यक्गत भाव को रसाभास में परिगणित करते हुए भी व्यवहार में इससे भाव अथवा रस की उत्पत्ति स्वीकार की है।[१६१] इसी बात की पुष्टि में उन्होंने साहित्यदर्पणकार के उन्माद अवस्था के निम्न उदाहरण को उद्धृत किया है –

भ्रातर्द्विरेफ भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम्।
(झंकारमनुभूय सानन्दम्)
ब्रूषे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम्॥[१६२]

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि इस पद्य में जिस भाव का वर्णन किया गया है, उसका आलम्बन भ्रमर नहीं है। वह तो मात्र सम्बोधित हुआ है। यहाँ कवि का उद्देश्य प्रिया-वियुक्त किसी व्यक्ति के उन्माद का चित्रण करना है। प्रियतमा उसके भाव का आलम्बन है और उन्माद संचारी का आश्रय वह स्वयं है। डा० प्रशान्त का यह कथन अवश्य ठीक है कि यहाँ नायक द्वारा भ्रमर को ही सम्बोधित किया गया है।

परन्तु, जैसा कि आगे प्रतिपादित किया जाएगा, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पशु-पक्षि विषयक भाव-चित्रण सहृदय के चित्त में किसी रस अथवा भाव को उद्बुद्ध नहीं कर सकता। कुशल कवि ने पशु पक्षियों का जो भी स्वाभाविक चित्र खींचा है, सहृदय को वह ग्राह्य ही रहा है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि हमारे काव्याचार्यों ने तिर्यग्गत केवल रति भाव के वर्णन को ही रसाभास माना है, सभी भावों के वर्णन को नहीं। यह तथ्य उनके द्वारा इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत उदाहरणों एवं विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी आदि के विचारों से स्पष्ट हो जाता है। नरेन्द्रप्रभसूरि का तो स्पष्ट कथन है कि तिर्यगादि का वर्णन रसाभास तभी बनता है, जब वह शृङ्गारविषयक हो; अन्य रसों के विषय में नहीं[१६३] "उनके अनुसार शाकुन्तल में आए 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति......' इत्यादि उदाहरण में

१६१. डा० प्रशान्त का शोध-प्रबन्ध (रसाभास), पृ० ६५

१६२. सा० द०, ३/१६० के अन्तर्गत।

१६३. अलङ्कार महोदधि, पृ० ९७

रसाभास इसीलिए नहीं है कि वहाँ पशु (मृग) में जिस भाव का वर्णन हुआ है, वह शृङ्गारेतर (भय) है।[१६४]

पशु-पक्षी शृङ्गारेतर कुछ अन्य रसों का विभाव बन सकते हैं

रति भाव के अतिरिक्त पशु-पक्षि विषयक शोकादि कुछ भावों का चित्रण करुणादि रस की सृष्टि करने में सफल सिद्ध होते हैं। परन्तु यहाँ पर भी यह तथ्य अवधारणीय है कि शृङ्गारेतर रसों की समुचित पुष्टि के लिये विभाव के दो रूपों – आलम्बन एवं आश्रय – में से केवल एक रूप में दिखाना ही अधिक उचित है। तात्पर्य यह है कि भावों की प्रकृति के अनुसार पशु-पक्षियों को यदि किसी भाव के आलम्बन के रूप में चित्रित करना हो तो उसके आश्रय के रूप में मनुष्य का चित्रण किया जाना चाहिए और यदि कहीं मनुष्य किसी भाव का आलम्बन बना हो तो पशु-पक्षी उसके आश्रय हों। उदाहरणार्थ –

१. सघन वन में दहाड़ते हुए शेर, झपटते हुए रीछ या मुँह फैलाए अजगर आदि के बीच में फँसे मनुष्य के भय का काव्य में वर्णन अथवा नाट्य में प्रदर्शन निस्सन्देह भयानक रस की ही सृष्टि करेगा। यहाँ 'भय' भाव का आलम्बन पशु है और आश्रय मनुष्य है। इसी प्रकार बन्दूकधारी शिकारी के भय से भागते हुए हरिण आदि निरीह प्राणियों के भय-वर्णन में भी भयानक रस की ही अनुभूति होगी। यहाँ भय का आलम्बन क्रूर प्रकृति मानव है और हरिण आदि आश्रय। शेर आदि हिंसक प्राणी के डर से भागते हुए मृग आदि का चित्रण भी भयानक रस का विषय हो सकता है। शाकुन्तल में चित्रित मृग विषयक 'भय' भाव से सहृदय को तादात्म्यानुभूति इसीलिए होती है कि एक तो वहाँ पशुविषयक भय भाव का वर्णन है, रति का नहीं। दूसरे उसमें भय का आलम्बन मनुष्य है। मनुष्य के आलम्बनत्व के कारण ही सहृदय मृग के भय भाव के वर्णन में उदासीन नहीं होता है।

२. इसी प्रकार पशु-पक्षी शोक भाव का आलम्बन तो आसानी से बन सकते हैं परन्तु शोक का आलम्बन और आश्रय दोनों पशु हों तो करुण रस का पूर्ण परिपाक हो पाना कठिन है। उदाहरणार्थ – कुशल कवि हाथी, घोड़ा आदि में काव्य के प्रधान पात्रों – नायकादि – का विशेष स्नेह दिखाकर उसके मृत्यु पर नायकादि में शोक भाव का प्रभावकारी चित्रण कर सकता है। परन्तु इस शोक का आश्रय भी मात्र पशु ही हों

१६४. अलङ्कारमहोदधि, पृ० ९७

तो उसके प्रति सहृदय की उदासीनता अनिवार्य है। किसी घोड़ी की मृत्यु पर घोड़े के विलाप का वर्णन पाठक के मन में अनुकूल प्रभाव नहीं छोड़ता। ऐसे ही नायक या नायिकादि की मृत्यु या वियोग की दशा में पशु-पक्षियों को शोक के आश्रय के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला का कण्वाश्रम से विदा होते समय हरिण आदि की वियोगावस्था का वर्णन इसी प्रकार का उदाहरण है।

३. वीर रस में पशु-पक्षियों को उत्साह भाव का आश्रय एवं आलम्बन दोनों रूपों में दिखाना सम्भव है। रामायण में रावण द्वारा सीता हरण के समय जटायु का रावण पर आक्रमण एवं उसमें उसका शरीरत्याग[१६५] पक्षिविषयक उत्साह भाव का सुन्दर उदाहरण है। एवमेव लङ्का पर जाने के लिए समुद्र में सेतुबन्ध के समय हनुमान एवं अन्य वानर-सेना का उत्साह तथा राक्षसों से युद्ध आदि प्रसङ्ग[१६६] वीर रस के ही विषय हैं। इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे प्रसङ्गों में पाठक को रसानुभूति तभी सम्भव है, जब उसका मन पशु-पक्षियों से सम्बन्धित कथानकों से पूर्व प्रभावित हो।

४. इसी प्रकार सिंहादि को उनके शिशुओं से अलग कर देने पर उनके क्रोध की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

५. लौकिक जीवन में हम गौ आदि के सड़े हुए शव को नोंचते हुए शृगाल आदि को एवं विष्टा भक्षण करते हुए सूअर, कुक्कुर आदि को देखकर जुगुप्सा का अनुभव करते हैं। अतः इस रूप में उन्हें बीभत्स रस का आलम्बन बनाया जा सकता है। पर बीभत्स का आश्रय ये पशु-पक्षी नहीं बन सकते।

६. सर्कस आदि में हाथी, शेर आदि के विभिन्न अद्‌भुत कर्तव्यों को देखकर प्रेक्षक आश्चर्यन्वित हो जाता है। यदि रङ्गमञ्च पर भी इन दृश्यों को दिखाया जाए तो उससे अद्‌भुत रस की अनुभूति सम्भव है। परन्तु विस्मय भाव के आश्रय के रूप में इन्हें नहीं दिखाया जा सकता।

७. अपने नवजात शिशुओं के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, बछड़े को स्तन पान कराती हुई गौ आदि का मनोरम चित्रण करके भावुक कवि सहृदय को भी वत्सल्य भाव का अनुभव करा सकता है।

---

१६५. वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, सर्ग १४, श्लोक २

१६६. वही, अरण्यकाण्ड एवं युद्धकाण्ड।

८. लोक में घोड़ों, कुत्तों आदि की स्वमीभक्ति के अनेक उदाहरण देखने-सुनने को मिलते हैं। यदि कोई कवि इसी उद्देश्य को लेकर कोई काव्य-रचना करता है तो उससे पाठक को भी भावानुभूति हो सकती है।

९. हास और शम ये दो ऐसे भाव हैं, जिन में ये पशु-पक्षी न आलम्बन बन सकते हैं न आश्रय।

परन्तु इतना सब होने पर भी यह बात तो स्वीकारनी पड़ती है कि मानवीय भाव वर्णन में भावों की जो तीव्रता होती है, वह पशु-पक्षिगत भाववर्णन में नहीं हो सकती।

उपर्युक्त तिर्यग्गत रति एवं अन्य भाव विषयक सम्पूर्ण विश्लेषण के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि – "पशु-पक्षियों से सम्बन्धित जिन तथ्यों का आभास हमें इनके रूप, व्यापार, परिस्थिति आदि में मिल जाता है, वे हमारे भावों के विषय बन सकते हैं; और हमें उनके वर्णन में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता अथवा अनौचित्य की प्रतीति नहीं होती। शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, वात्सल्य ये ऐसे भाव हैं जिनका दर्शन इनके रूप, व्यापार, परिस्थिति आदि में मिल जाता है। अतः पशु-पक्षियों का इन भावों के आलम्बन या आश्रय के रूप में चित्रण होने पर हम इनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। इसके विपरीत हास और शम ये दो ऐसे भाव हैं जिनका आभास इनके रूपों या व्यापारों में नहीं मिलता। अतः पशु-पक्षियों में इन भावों का वर्णन अस्वाभाविक है।

पशुपक्षिगत रति का प्रसंग उपर्युक्त दोनों प्रकार के भावों से भिन्न है। यद्यपि रति या दाम्पत्य प्रेम भाव का यत्किंचित् दर्शन हमें इनके व्यापारों, जैसे मृग का अपने शृङ्ग से मृगी को खुजलाना, हाथी का हथिनी पर जलक्षेपण आदि, में मिल जाता है तथापि ये रति भाव के योग्य आलम्बन नहीं बन सकते। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि हम स्वस्थ, तरुण, नवयुवक-नवयुवति को ही रति को आलम्बन के रूप में देखना चाहते हैं। सहृदय के इस मनोवैज्ञानिक मांग के प्रतिकूल जिन-जिन आलम्बनों में रति का प्रदर्शन होगा, वह पाठकों की रुचि के प्रतिकूल होने से रसाभास का ही विषय होगा। चाहे वह वृद्धा या बालगत रति का प्रसंग हो, अधमपात्रगत रति का प्रसंग हो अथवा तिर्यग्गत रति का प्रसंग हो। प्राचीन आचार्य भरत की निम्न पंक्तियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं –

यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते।
स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः॥[१६७]

---

१६७. ना० शा०, पृ० - ३०१

ऐ. निरिन्द्रियगत रति :

अचेतन जड़ पदार्थों में रत्यादि भावों की कल्पना मूलतः असत्य है। अतः निरिन्द्रियगत रति को भोजराज, आचार्य हेमचन्द्र, शिङ्गभूपाल, रूपगोस्वामी एवं नरेन्द्र प्रभसूरि ने रसाभास स्वीकार किया है। सर्वप्रथम भामह ने मेघ, पवन, चन्द्र आदि प्राकृतिक उपादानों द्वारा दौत्यकर्म को 'अयुक्तिमत्' दोष माना है।[१६८] इनके पश्चात् भोजराज ने **'गौणेष्वेव पदार्थेषु तदाभासं विजानते'**[१६९] कहकर अचेतनगत रति को रसाभास में परिगणित किया। हेमचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में निरिन्द्रियगत रति को रसाभास माना है।[१७०] शिङ्गभूपाल ने अचेतन पदार्थों में मानवीय भावों के आरोप को सर्वथा असत्य होने के कारण आभास माना।[१७१] रूपगोस्वामी ने भी लतादि जड़ पदार्थों में कल्पित रति को विभाव की विरूपता के कारण शृंगाराभास कहा है।[१७२] इसी प्रकार नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी जड़ प्रकृतिगत रति वर्णन को रसाभास स्वीकार किया है।[१७३] भोजराज ने निरिन्द्रियगत रति का कोई उदाहरण नहीं दिया। हेमचन्द्र एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने निरिन्द्रियगत सम्भोग रति का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :–

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रबालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि।।[१७४]

– कुमारसम्भव, ३/३९

– पर्याप्त पुष्प-स्तबक रूपी स्तनों वाली, नये-नये पत्र-रूपी होठों वाली सुन्दर लता रूपी वधुओं ने वृक्षों की झुकी हुई शाखारूपी भुज-बन्धनों को प्राप्त किया। यहाँ निरिन्द्रिय वृक्ष एवं लता में सम्भोग का वर्णन किया गया है, अतः यह सम्भोग शृङ्गाराभास है। इसी प्रकार नदी, मेघ आदि जड़ पदार्थों में विप्रलम्भ भाव का आरोप करने पर इन आचार्यों ने विप्रलम्भाभास माना है –

---

१६८. काव्यालङ्कार, १/४२-४३; प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, अ० ५, तिर्यग्गतरति प्रकरण।

१६९. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५/३०

१७०. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। – का० अनु०, २/५४

१७१. असत्यत्वकृतं तत्स्यादचेतनगतं तु यत्। – र० सु०, २/९९

१७२. भ० र० सिं०, ९/१२

१७३. आरोपात् तिर्यगाद्येषु वर्जितेष्विन्द्रियैरपि। – अ० महो०, ३/६३, पृ० ९६
– तिर्यगादिषु इन्द्रियवर्जितेष्वपि च नायकत्वारोपात् रसाभास - भावाभासाः। – वही, ३/५३ वृत्ति भाग, पृ० ९६

१७४. (क) 'निरिन्द्रिययोः सम्भोगारोपणात्संभोगाभासो यथा' – का० अनु०, २/५४, वृत्तिभाग, पृ० १२०

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः शीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥[१७५]

मेघदूत, पूर्व - २९

– उस (निर्विन्ध्या नदी) को पार करके हे भागवान्! तू ऐसा उपाय करना जिससे कि सिन्धु-नदी, जिसका क्षीण जल वेणी (स्त्रियों की चोटी) जेसा बना हुआ है, जो किनारों पर उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले पुराने पत्तों से पीली पड़ गई है और (अपनी) विरहावस्था से तेरी भाग्यशालिता को प्रकट कर रही है, अपनी दुर्बलता को त्याग दे।

निशा और शशी का सम्भोग वर्णन भी आभास है –[१७६]

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥[१७७]

– अंगुलियों के समान किरणों से केश पाश के समान अंधेरे को पकड़ कर मुद्रित कमलनेत्र वाले रजनीमुख को शीश चूम-सा रहा है।

इसी प्रकार दिवस और सन्ध्या में विप्रलम्भ भाव की कल्पना करने पर भी रसाभास उपस्थित होता है –

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

– अलङ्कार महोदधि, ३/२२५; पृ० ९६

(ख) अथेन्द्रियवर्जितेषु सम्भोगाभासो यथा - अ० महो०, ३/२२७, पृ० ९६

१७५. (क) विप्रलम्भारोपणाद् विप्रलम्भाभासो यथा -। का० अनु०, २/५४, वृत्तिभाग, पृ० १२१

(ख) अ० महो०, ३/२२८, पृ० ९६

१७६. (क) आदिशब्दान्निशाचन्द्रमसो र्नायकत्वाध्यारोपात्संभोगाभासो यथा -। – का० अनु०, २/५४, वृत्तिभाग, पृ० १२२

(ख) आदिशब्दान्निशा-शशिनोः सम्भोगाभासो यथा -। अ० महो०, ३/२२४, पृ० ९६

१७७. (क) का० अनु०, २/५४, पृ० १२२;

(ख) अ० महो०, ३/२२४, पृ० ९६

– सन्ध्या अनुराग युक्त है और दिन उसके सामने उपस्थित है। दैवगति विचित्र है, जो इतने पर भी समागम नहीं होता।

रूपगोस्वामी ने लतागत रति का अधोलिखित उदाहरण दिया है –

सखि ! मधु किरती निशम्य वंशी –
मधुमथनेन कटाक्षिताथ मृद्वी।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं
रतिमिह पल्लवितां हृदि व्यनक्ति॥

– भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१०२२

– हे सखि, मधुवर्षण करने वाली वंशी को सुनकर एवं मधुमथन कृष्ण के द्वारा कटाक्षों से अवलोकित, कोमल एवं कलीरूपी रोमांचों से युक्त यह लतावली हृदय में पल्लवित रति को प्रकट कर रही है। यहाँ लतावली में श्रीकृष्ण विषयक रति का आरोप किया गया है। अतःशृंगार उपरस (रसाभास) है।

इस प्रकार कतिपय आचार्यों ने जड़ पदार्थों में मानवीय भावारोपण को रसाभास स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि इन्द्रिय शून्य जड़पदार्थों में रति भाव की कल्पना नितान्त असत्य है। अतः अनुचित है। आचार्यों का यह तर्क आपाततः उचित प्रतीत होता हैं परन्तु क्या इसके आधार पर आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत-कवियों के प्रकृति-चित्रण एवं मानवीकरण, प्रतीक आदि प्रणालियों से किये गये प्रकृति वर्णन आदि को अनुचित मान लिया जाये ? उनसे प्राप्त होने वाली रसानुभूति को अपूर्ण या सविघ्न माना जाए। प्रकृतिवर्णन की कतिपय प्रमुख प्रणालियों का उल्लेख करते हुए इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

प्रकृतिवर्णन की कतिपय प्रणालियाँ :

संस्कृत साहित्य में प्रकृति का वर्णन, १. आलम्बन, २. उद्दीपन, ३. मानवीकरण, ४. प्रतीक आदि रूप में हुआ है।

१. प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण :

जब कोई प्रकृति प्रेमी कवि अपनी सूक्ष्म, स्निग्ध दृष्टि से प्रकृति के अंग, प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का संश्लिष्ट विवरण प्रस्तुत करता है तो सहृदय के चित्त में प्रकृति का स्पष्ट बिम्ब उभर आता है। काव्यगत ऐसे चित्रों में प्रकृति साध्य होती है, वही कवि का लक्ष्य होती है। प्रकृति के विविध रूपों में रमा हुआ कवि ही इस में आश्रय होता है और प्रकृति उसका

आलम्बन। काव्यगत प्रकृति के यथार्थ सुन्दर वर्णन को जब कोई सहृदय पढ़ता है तो उसके नेत्रों के सामने प्रकृति का चित्र झूलने लगता है। इस प्रकार जहाँ कवि प्रकृति का चित्रण संश्लिष्ट, सावयव रूप में करता है, वहाँ सहृदय के भावों का आलम्बन निस्सन्देह प्रकृति ही होती है। आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास एवं भवभूति आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं में प्रकृति का स्वतन्त्र आलम्बन रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। वाल्मीकि द्वारा चित्रित हेमन्त का संश्लिष्ट वर्णन देखिए –

अवश्याय निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमि र्निविष्टतरुणातपा।।
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः मुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्।।
अवश्याय तमोनद्धा नीहार-तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः।।
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रबालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्।।
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकाः।
नालशेषै र्हिमध्वस्तै र्न भान्ति कमलाकराः।।[१७८]

"सन की भूमि, जिसकी हरी-हरी घास ओंस गिरने से कुछ गीली हो गई है, तरुण (प्रातः कालीन) सूर्य-किरणों के पड़ने से सुन्दर लग रही है। अत्यधिक प्यासा जंगली हाथी पानी पीने के लिए सूँड़ बढ़ाता है, पर जल की ठण्डक से घबरा कर फिर सिकोड़ लेता है। पुष्पहीन यह वन-समूह बर्फ तथा कुहरे के अन्धकार से आच्छादित होकर सोया-सा जान पड़ता है। नदियों का जल कुहरे से ढका हुआ है। इसके तट पर रहने वाले हंसों का पता केवल उनके शब्दों से लगता है। इसके तट की बालू भी बर्फ से ठंडी हो गई है। जिनके पत्ते पुराने पड़ जाने के कारण पीले हो गए हैं, केसर और कर्णिक मुरझा गए हैं और हिमपात के कारण जिनमें नाल (डंठल) मात्र अवशिष्ठ रह गया है, उन कमलवनों की शोभा नष्ट हो गई है।" यह प्रकृति का विशुद्ध आलम्बन रूप में चित्रण है। केवल **"प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः"** – फूल रहित वन समूह सोए-से जान पड़ते हैं – में मानवीकरण का आभास है। शेष अंश में प्रकृति का स्वतन्त्र अनलंकृत वर्णन ही कवि ने प्रस्तुत किया है। जिसमें हम प्राकृतिक पदार्थों का

---

१७८. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १६, श्लोक २०-२१, २३-२४, २६

बिम्ब ग्रहण कर हेमन्त के प्रत्यक्षीकरण में सफल होते हैं। निस्सन्देह ऐसे स्थलों में सहृदय व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है।

इसी प्रकार कालिदास ने भी प्रकृति को केवल मानवीय भावों की उद्दीपिका के रूप में ही नहीं देखा, अपितु इन्होंने प्रकृति का आलम्बन रूप में भी वर्णन किया है। 'कुमारसम्भव' का प्रथम सर्ग प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन का सुन्दर उदाहरण है। इस सर्ग में कवि ने हिमालय के प्रति अपने सहज अनुराग को इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है कि पाठक के मन में हिमालय की शोभा का चित्र ही उतर आता है। हिमालय के वर्षाकालीन दृश्य का एक चित्रण यहाँ प्रस्तुत है –

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥

– कुमारसम्भव, १/५

– "हिमालय की चोटियाँ इतनी उठी हैं कि मेघ भी उनके बीच तक पहुँच कर ही रह जाते हैं। उनके ऊपर का आधा भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है। इसलिए निचले भाग में छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होने से घबड़ा उठते हैं, तब वे बादल के ऊपर उठी हुई उन चोटियों पर दौड़ कर चढ़ जाते हैं, जहाँ धूप बनी रहती है।"[१७९] वर्षाकालीन हिमालय का कितना स्वाभाविक चित्रण है। हिमालय की गोद में रहने वाले व्यक्तियों को ऐसे दृश्यावलोकन का अनुभव प्राप्त है। इस वर्णन को पढ़कर पाठक भी ऐसा ही अनुभव कर पाता है।

हिमालय की सन्ध्या का वर्णन देखिए –

शीकरव्यतिकरं मरीचिभि –
र्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचाप-परिवेष-शून्यतां
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

– कुमारसम्भव, ८/३१

---

१७९. भारतीय साहित्य शास्त्र-आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ५१५ (१९६२)

– शिव जी पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन हिमालय की शोभा की ओर आकृष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सूर्य के पश्चिम की ओर ढल जाने के कारण तुम्हारे पिता (हिमालय) के झरनों में अब इन्द्रधनुष का मण्डल नहीं दिखाई पड़ रहा है, जो सूर्य के ऊपर रहने पर दिखलाई पड़ता था। बात यह है कि सूर्य की किरणें जब झरनों से उठने वाले जलकणों पर पड़ती हैं, तब अनेक इन्द्रधनुष उसमें दिखाई पड़ते हैं। लेकिन सन्ध्या के समय जब सूर्य की किरणों का सम्पर्क झरनों से टूट जाता है तो उसमें इन्द्रधनुष का अभाव रहता है।

'मेघदूत' के पूर्वमेघ में तो प्रधानरूप से प्राकृतिक दृश्यों का ही वर्णन है। 'ऋतुसंहार' एवं 'रघुवंश' के भी बीच-बीच में प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है।[१८०] महाकाव्य में प्रकृतिवर्णन का जितना अवकाश रहता है, उतना नाटक में नहीं रहता। आचार्यों ने भी काव्य-लक्षण में तो प्रकृति-वर्णन का समावेश किया है,[१८१] लेकिन नाटक-लक्षण में प्रकृति वर्णन का उल्लेख नहीं किया है;[१८२] परन्तु फिर भी भवभूति के तीनों नाटकों में प्रकृति का यथार्थ वर्णन उपलब्ध होता है। 'उत्तररामचरित' में पहाड़ी झरने का यह दृश्य कितना सजीव है –

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसव-सुरभि-शीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभर-परिणाम-श्याम-जम्बू-निकुंज-
स्खलनमुखरभूरि-स्रोतसो निर्झरिण्यः॥

– उत्तरामचरित, २/२०; महावीरचरित, ५/४०

भावार्थ यह है कि पहाड़ों से झरने झर रहे हैं। उनके किनारे उठी हुई वानीर लता के ऊपर मधुर-कण्ठ पक्षी बैठे हुए हैं। उनके बैठने से लताओं के फूल झरने में गिर रहे हैं, जिससे झरने का स्वभाव से ही शीतल और स्वच्छ पानी सुगन्धित बन गया है। और झरनों की जलधाराएं पके हुए फलों से लदे काले जामुन के वृक्षों की कुंज से टकरा कर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं। यहाँ कवि ने चित्र और वीणा-रूप और शब्द-दोनों का सुखद सन्निवेश किया है। समद शकुन्तों के द्वारा आक्रान्त वानीर लता तथा पके हुए फलों वाले काले जामुन

---

१८०. रघुवंश, १३/१३

१८१. सा० द०, ६/३१५-३२५

१८२. (क) वही, ६/७-१०

(ख) नाटकलक्षणरत्नकोश, ३-४

के वृक्षों के निकुंज से जहाँ रूप की सृष्टि हुई है, वहीं निकुंज से टकराने वाली जल धाराओं से शब्द का निर्माण हुआ है।

'महावीर चरित' में जटायु के माध्यम से किया गया प्रस्रवण पर्वत का वर्णन,[१८३] मलयाचल के उत्तुङ्गश्रृङ्ग का चित्रण[१८४] एवं कावेरी के तट की छटा का वर्णन[१८५] भी प्रकृति के आलम्बनगत चित्रण के उदाहरण हैं।

इस प्रकार हमारे प्राचीन कवियों ने पर्याप्त रूप में प्रकृति के सांग और संश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत किए हैं, जो प्रकृति के प्रति उनके अगाध अनुराग का परिचायक है। इन कवियों द्वारा आलम्बन रूप में वर्णित प्रकृति के विविध रूपों में तल्लीन होकर पाठक भी रसानुभूति अथवा भावानुभूति का आस्वाद लेने में पूर्णतः समर्थ होता है। प्रकृतिवर्णन की भावोद्रेकता से प्रेरित होकर ही हिन्दी के विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा मराठी के विवेचक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, श्री रा० भि० जोशी और श्री विद्याधर वामन भिडे नेश्रृङ्गरादि मान्य रसों के अतिरिक्त प्रकृति[१८५-ए] रस की पृथक् स्थापना की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के प्रत्यक्ष तथा काव्यबद्ध दोनों रूपों के आस्वादन में प्रकृति रस की सत्ता स्वीकार करते हैं –

१. "वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमें जीवन के मल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। .... जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच में घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रस दशा नहीं तो क्या है ?.............

२. जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शङ्का के लिए कोई स्थान नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है ?

---

१८३. महावीरचरित, पृ० २०३; ५/१५ गद्य भाग।

१८४. वही, ७/११

१८५. वही, ७/१३

१८५-ए मराठी के विवेचक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, श्री रा०. भि० जोशी तथा श्री विद्याधर वामन भिडे 'प्रकृति' रस को 'उदात्त' रस की संज्ञा देते हैं। द्रष्टव्य 'आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना' (डा० सुन्दर लाल कथूरिया), पृ० ४४

जो-जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है; क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है।"[१८६]

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिष्ठित इस 'प्रकृति' रस का स्थायिभाव 'रति' है, जिसे आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के चिर साहचर्य के द्वारा प्रतिष्ठित वासना कहा है।[१८७] इस 'प्रकृति' रस का आलम्बन 'प्रकृति' ही है। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों के वर्णन को स्वीकार किया है।[१८८] तथापि वे प्रकृति के स्वतन्त्र अथवा आलम्बन रूप में वर्णन के लिए अधिक बल देते हैं। उनके विचार में जिस स्थल में प्रकृति आलम्बन रूप से चित्रित हुई है, वहाँ 'प्रकृति' रस मानना ही उचित है; क्योंकि प्रकृति का वर्णन जहाँ आलम्बन के रूप में हुआ है, वहाँ हमारे भावों का विषय प्रकृति ही होती है। प्रकृति-वर्णन से पाठकों को जो भावमय आनन्द की उपलब्धि होती है, वह भावमय आनन्द 'रस' है। 'प्रकृति' रस की मान्यता के प्रसङ्ग में आचार्य शुक्ल ने यह भी प्रतिपादित किया है कि 'प्रकृति' रस को पृथक् रस न मानने के लिए यह कारण पर्याप्त नहीं है कि उसमें आश्रय आदि के न रहने से पूर्ण रस-सामग्री नहीं होती। क्योंकि केवल आलम्बन का विशद वर्णन भी सहृदय को रसानुभव या भावानुभव कराने में समर्थ होता है।[१८९]

इस प्रकार आचार्य शुक्लशृङ्गारादि मान्य रसों के अतिरिक्त प्रकृति रस का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। 'प्रकृति' रस की पृथक् मान्यता के विषय में आधुनिक विवेचकों में दो भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। विद्वानों का एक वर्ग 'प्रकृति' रस को स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में है और दूसरा इसके पृथक् अस्तित्व को न स्वीकार कर इसे रतिभाव के व्यापक रूप में समाहित करना चाहता है।

---

१८६. रसमीमांसा, पृ० ११४

१८७. "अनन्तरूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है - कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रुखे, बेडौल या कर्कश रूप में,....... सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख भोग नहीं; बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। – वही, पृ० १०

१८८. 'प्रकृति का वर्णन दोनों रूप में हो सकता है –
आलम्बनरूप में भी, उद्दीपन रूप में भी। – रसमीमांसा, पृ० २४६

१८९. "मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्णतः समर्थ मानता हूँ।" – वही, पृ० ११५

पक्ष–समर्थन में युक्तियां प्रस्तुत करने वाले हिन्दी आलोचकों में प्रमुख हैं – "आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डा० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल। बाबू गुलाब राय तथा मनोहर काले ने प्रत्यक्षतः तो प्रकृति रस का समर्थन नहीं किया किन्तु उनका स्वर आश्वस्तिमूलक अवश्य है।.... मराठी काव्यशास्त्र में भी प्रकृति रस को 'उदात्त रस' के अभिधान से अनेक शास्त्रविदों ने मान्यता प्रदान की है। इनमें प्रमुख हैं – श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, श्री रा० भि० जोशी तथा श्री विद्याधर वामन भिडे।"[१९०]

इस मत के विरुद्ध डा० नगेन्द्र प्रकृति वर्णन की रसनीयता को तो अवश्य स्वीकार करते हैं, परन्तु 'प्रकृति' रस की पृथक् सत्ता को वे अनावश्यक एवं अनुचित मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि – "काव्य में प्रायः प्रकृति के तीन प्रकार के चित्रण मिलते हैं – मधुर, विराट् और भयानक या रौद्र जिसमें प्रकृति के दाँत और पंजे मानवरक्त रंजित रहते हैं। स्वभावतः इन तीनों रूपों के प्रति पाठक की समान प्रकृति नहीं होती, मधुर रूप के प्रति उन्मुखीभाव या रतिभाव होता है, विराट् रूप के प्रति ओज एवं विस्मय के भाव का उदय होता है तथा भयानक के प्रति भय का – और इन तीनों अवस्थाओं में रस का स्वरूप भी स्थायी के अनुसार भिन्न–भिन्न ही होता है, अतः प्रकृति रस का कोई एक विशिष्ट स्वरूप नहीं माना जा सकता और जब उसका स्वरूप एक नहीं है तो स्वतन्त्र रसत्व की कल्पना कैसे सार्थक हो सकती है।"[१९१] प्रकृति के प्रत्यक्ष रूप दर्शन से भी आचार्य शुक्ल ने जो प्रकृति रस की सत्ता मानी है, डा० नगेन्द्र उससे भी सहमत नहीं है – "शास्त्र में साक्षात् अनुभव को, चाहे वह सुखमय हो या दुःखमय या शान्तिमय, लिप्त हो या निर्लिप्त, रस नहीं माना गया।......... रस शब्द का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक ही माना जाएगा।"[१९२]

इस प्रकार 'प्रकृति रस' को पृथक् मानने के विषय में विवेचकों में भले ही विमति हो, परन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि प्रकृति वर्णन भी सहृदय को आस्वाद्य ही होता है। अतः उसका रसत्व भी सिद्ध है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल आदि द्वारा स्वीकृत 'प्रकृति रस' के स्थायी 'रति भाव' तथा शृङ्गार रस के स्थायिभाव दाम्पत्य

---

१९०. "आधुनिक युग में नवीन रसों की परिकल्पना" – डा० सुन्दरलाल कथूरिया, पृ० ३१

१९१. रससिद्धान्त - डा० नगेन्द्र, पृ० २७०

१९२. वही, पृ० २७०

रति – इन दोनों में अन्तर है। 'प्रकृति रस' के स्थायी 'रति' से तात्पर्य है प्रकृति के प्रति सहज अनुराग। इसमें शृङ्गारिकता का स्पर्श भी नहीं होता। अतः जिस स्थल में प्रकृति के प्रति कवि का सहज अनुराग प्रकट हुआ हो, वहाँ रसाभास का प्रश्न ही नहीं उठता। हेमचन्द्रादि काव्याचार्यों ने प्रकृतिवर्णन के उन्हीं प्रसङ्गों में 'रसाभास' माना है, जहाँ कवियों ने प्रकृति - लता - वृक्ष, दिवस-सन्ध्या आदि – पर मानवीय भावों एवं व्यापारों का आरोप कर (मानवीकरण के द्वारा) विभिन्न शृङ्गारिक चेष्टाओं का वर्णन किया है।[१९३]

यह बात अवश्य है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य में सन्ध्या, उपवन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि वर्णन को केवल उद्दीपन विभाव के रूप में स्वीकार कर[१९४] प्रकारान्तर से प्रकृति-वर्णन का आलम्बन विभाव के रूप में स्वतन्त्र चित्रण का समर्थन नहीं किया। आचार्यों ने प्रकृति वर्णन का विधान सर्वत्र अङ्ग रूप में किया है, अंगी रूप में नहीं। परन्तु प्राचीन कवियों ने प्रकृति को आलम्बन विभाव के रूप में काव्य का स्वतन्त्र विषय भी बनाया है। ऊपर वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति के आलम्बनात्मक प्रकृतिवर्णन को हम देख चुके हैं।

२. प्रकृति का उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रण :

मानवीय भावों को उद्दीप्त करने के लिए कविगण प्राकृतिक वस्तुओं को साधन के रूप में चित्रित करते हैं। इस प्रकार के चित्रण में काव्यगत पात्र, घटना या भाव मुख्य होते हैं और प्रकृति गौण होती है। प्रकृति अपने सौम्य तथा उग्र दोनों रूपों में मानव के मनोभावों को तीव्र तथा उद्दीप्त करने में सक्षम होती है। प्रेमी की सुसुप्त प्रेमभावना प्रकृति का रमणीय अवलोकन पाकर जागृत हो उठती है। उदाहरणतया तालाब में पुष्पित नीलकमल, उपवन में विकसित पुष्प, शीतल किरणों को विखेरता हुआ चाँद, वसन्त में भ्रमरायमान भ्रमर, कूकते हुए कोकिल

---

१९३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० ५, हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रस्तुत 'निरिन्द्रियगतरति के उदाहरण'।

१९४. (क) नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः।। – काव्यादर्श, १/१६

(ख) विभावै र्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः.....।
– का० प्र०, ४/२८ वृत्तिभाग।

(ग) चन्द्रचन्द्रनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्। – सा० द०, ३/१८५

(घ) तत्र भरत - "ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।"
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति।। – रसतरङ्गिणी, २/२

आदि का वर्णन संयोग शृङ्गार में उद्दीपन का कार्य करते हैं। और संयोग में सुखोत्पादक ये प्राकृतिक उपादान वियोग शृङ्गार में विरह जनित वेदना को और तीव्र करने का माध्यम बनते हैं। आचार्यों ने इस प्रकार के चित्रणों को उद्दीपन विभाव के भीतर स्वीकार किया है।[१९५] वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कतिपय प्रमुख कवियों को छोड़कर संस्कृत के अन्य कवियों ने आचार्यों की इसी स्थापना को व्यवहार में लाया है।[१९६] उद्दीपन विभाव के रूप में प्राकृतिक वस्तुओं का चित्रण मानवीय भावनाओं में उभार लाने में सक्षम होता है। अतः इस रूप में प्रकृति वर्णन रसाभास का विषय नहीं बनता। इस प्रसङ्ग में आचार्य कुन्तक का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है – "अचेतन जल, वृक्ष, वसन्त आदि के मनोहर स्वरूप का वर्णन रस को उद्दीपत करने में समर्थ होने के कारण कवियों के वर्णन का विषय बनता है" –

जडानामचेतनानां सलिलतरुकुसुमसमयप्रभृतीनामेवं विधं स्वरूपं रसोद्दीपनसामर्थ्यविनिबन्धनबन्धुरं वर्णनीयतामवगाहते॥[१९७]

३. प्रकृति का मानवीकरण :

मानवीकरण की प्रणाली में कवि प्रकृति पर मानवीय भावनाओं एवं व्यापारों का आरोप करता है। इस रूप में प्रकृति जड़ न होकर साक्षात् सजीव मानव के रूप में पाठक के सामने उपस्थित होती है। "प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी-जगत् तो मानवीय सम्बन्धों में व्यवहार करते प्रकट होते हैं; वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक-दूसरे का आलिङ्गन करते जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलन को व्याकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य रूप तो आलम्बन है, परन्तु आकार के आरोप के साथ शृङ्गारिक भावना

---

१९५. (क) काव्यादर्श, १/१६
(ख) काव्यप्रकाश, ४/२८ वृत्तिभाग
(ग) साहित्यदर्पण, ३/१८५
(घ) रसतरङ्गिणी, २/२
(ङ) द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, अ० ५

१९६. द्रष्टव्य, भारतीय साहित्य शास्त्र, (आचार्य बलदेव उपाध्याय), पृ० ५१२-५१३

१९७. वक्रोक्तिजीवित, ३/८, वृत्ति भाग।

अधिक प्रबल होती गई और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृङ्गार का उद्दीपन विभाव समझा जा सकता है।"[१९८]

जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है, आचार्यों ने अचेतन प्रकृति पर मानवीय भावारोपण को रसाभास स्वीकार किया है।[१९९] परन्तु आचार्यों की इस स्थापना के रहते हुए भी संस्कृत कवियों की रचनाओं में जड़ प्रकृति का मानवीकरण के रूप में यथेष्ट वर्णन हुआ है और ये वर्णन सहृदय-पाठक को भाव-विभोर करने में प्रायः समर्थ हुए हैं। अकेले कालिदास की एक-एक कृति में प्रकृति के मानवीकरण के कई सरस स्थल दूढे जा सकते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. (क) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जब शकुन्तला राजदरबार की ओर प्रस्थान करने लगती है तो उसके वियोग में समूचा तपोवन विरह से व्याकुल हो जाता है।[२००]

(ख) केशरवृक्ष हवा से हिलते हुए पत्तों की कोमल-कोमल उङ्गलियों से शकुन्तला को बुलाता है।[२०१]

२. 'कुमारसम्भव' में वृक्ष अपनी शाखा रूपी भुजाओं से पर्याप्त पुष्प-स्तबक रूपी स्तनों वाली, नवीन पत्र रूपी होठों वाली लता-वधुओं को आलिङ्गन बद्ध करता है।[२०२]

३. 'मेघदूत' में शिप्रा तट का शीतल वन रतिखिन्न रमणियों का सुखद स्पर्श कर उनकी थकावट को दूर करता हुआ रति-प्रार्थना में अपनी चाटुकारिता दिखाता है।[२०३]

---

१९८. काव्यशास्त्र - डा० रघुवंश, पृ० २१०-२११ से उद्धृत।

१९९. द्रष्टव्य, हेमचन्द्रादि आचार्यों द्वारा प्रस्तु निरिन्द्रियगत रति के उदाहरण (प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ० २३९-२४२)।

२००. न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव, त्वयोपस्थितवियोगस्य तवोवनस्यापि समवस्था दृश्यते। – अ० शा०, ४/१० गद्यभाग।

२०१. एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। – अ० शा०, १/२० गद्य भाग।

२०२. पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापु र्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि।। – कु० सं०, ३/३९

२०३. दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरत-ग्लानिमङ्गानुकूलः
शीप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।। – मेघदूत, पूर्व - ३१

४. विलासिनी नायिका-सी निर्विन्ध्या नदी अपने प्रियतम मेघ के वियोग में कृशकाया, पीतवर्णा हो गई है।[२०४]

५. वेतस वृक्ष अपनी शाखा रूपी हाथों से नायिका गम्भीरा नदी की नीली सलिल-साडी को पकड़ने के लिए उद्यत हो रहा है उससे बचने के लिए नायिका नदी अपनी नील जलधारा-रूपी साड़ी को तट-रूप कटि प्रदेश तक हटा लेती है, जिससे वह विवृतजघना हो गई है।[२०५]

इस प्रकार कालिदास की प्रकृति मानवीय भावनाओं एवं व्यापारों से सम्पृक्त होकर सामने आई है। "कालिदास के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र प्रेम की शीतल छाया प्रसार पा रही है। सारी चराचर प्रकृति सचेतन एवं भावनाशील है। नदियाँ मानिनी प्रेमिका की भाँति, इठलाकर अपनी लहररूपी भौहें तान लेती हैं। भोर होते ही सूर्य अपनी खण्डिता प्रियतमा नलिनी के ओस रूपी आसुओं को अपने करों से पोंछता है। प्रियतम-सा चाटुकार शिप्रावात कामिनियों के सुखमय गात्र का स्पर्श करता है। प्रकृति के रमणीय दृश्य मानवों को ही नहीं, पशु-पक्षियों और जड़ पदार्थों को भी उत्कण्ठित कर देते हैं। घटाओं में घिरे मेघ को देखते ही उसका सगा पपीहा चहकने लगता है। बगुलियाँ गर्भाधान का समय जान उड़कर मेघ का सम्मान करती हैं। सजलनयन केकी कूकों से उसका स्वागत करते हैं। पर्वत उसको गले लगाकर खिले कदम्बों से पुलकित हो उठता है। प्रकृति में पारस्परिक समवेदना के भाव भी दीख पड़ते हैं। पहाड़ बहुत दिनों से अपने स्नेही मेघ को देख कर गरम आँसू बहाता है; मेघ पहाड़ से सखा की भाँति मिलकर उससे विदा मांगता है।"[२०६]

भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी प्रकृति मानवीय संवेदनाओं से सम्पृक्त होकर सामने आई है। इस नाटक के तृतीय अङ्क में दो नदियाँ – तमसा और मुरला

---

२०४ वेणीभूतप्रतनुसालिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभि र्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः।। – मेघदूत, पूर्व २९

२०५. तस्याः किञ्चित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।। – मेघदूत, पूर्व०, ४३

२०६. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय, पृ० २७७ से उद्धृत (१९५८ ई०)

– तथा वनदेवी वासन्ती साक्षात् मानवीय देह धारण कर रंगमंच पर उपस्थित होती हैं। वनदेवी वासन्ती तो सीता त्याग के अपराध के लिए राम तक को डांटती है।[२०७]

इस प्रकार प्रकृति के मानवीकरण में कवियों ने – (१) कभी प्रकृति को मानव के प्रति और (२) कभी प्रकृति को प्रकृति के ही प्रति रत्यादि भाव प्रकट करते हुए दिखाया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्याचार्यों ने जड़ प्रकृति पर मानवीयशृङ्गारिक चेष्टाओं के वर्णन को रसाभास घोषित कर प्रकारान्तर से इस प्रकार के वर्णन का निषेध किया है तथापि यह काव्य का सर्वथा हेय विषय नहीं है। काव्य-रचयिता इस प्रकार के वर्णन करते रहे हैं और उनके ये वर्णन प्रमाता को तल्लीन कर उसके हृदय में शृङ्गारिक भावों को जागृत करने में भी समर्थ हुए हैं। तो क्या ऐसे वर्णनों को 'रस' न मान कर 'रसाभास मानना उचित है ? यह एक विचारणीय विषय है। प्रकृति के मानवीकरण में भी 'रस' की ही सत्ता मानते हुए डा० नगेन्द्र का कथन है कि "इस प्रकार के चित्रों में कवि की अपनी भावना का आरोप रहता है – प्राकृतिक पदार्थ तो प्रतीक मात्र हैं, मूल भावना तो कवि की है, अतः सहृदय कवि के साथ तादात्म्य कर रस के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।........ इस प्रकार की कविता में रसव्यजना सीधी अभिधा-लक्षणा से नहीं होती, वरन् प्रतीकों से होती है, अतः यह रसव्यंजना सामान्य रसव्यंजना की अपेक्षा अप्रत्यक्ष और उसी मात्रा में गूढ़ एवं सूक्ष्मतर होती है। परन्तु होती यहाँ भी रस की ही व्यंजना है – रसाभास की नहीं – अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर मानव भावना के आरोपण से रसानुभूति बाधित या दूषित नहीं होती, प्रायः गूढ़ और अप्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार के काव्य में रसाभास नहीं वरन् रस का ही संचार रहता है।"[२०८]

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन है कि अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर रति भाव के आरोपण से होने वाले आनन्द और मानव प्रेमी-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी के रति-वर्णन से प्राप्त होने वाले आनन्द को एक ही कोटि का

---

२०७. वासन्ती - अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ ! कथं बत ! मन्यसे।। – उ० रा० च०, ३/२७
अन्य द्रष्टव्य, वही, ३/२६

२०८. रससिद्धांत, पृ० ३११

मानना उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि जड़ प्रकृति पर किए गए शृङ्गारिक-चेष्टाओं के वर्णन से सहृदय कुछ क्षणों के लिए अपनी हल्की मनोवृत्ति अथवा काम-भावना को सन्तुष्ट करने में भले ही सफल हो, परन्तु उससे सच्चे दाम्पत्य-प्रेम की अनुभूति नहीं हो सकती। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण में कवि कल्पना का इतना अतिरेक रहता है कि सामान्य पाठक को उससे तदात्म्य स्थापित कर पाना कठिन प्रतीत होता है। यह ठीक है कि प्रकृति के मानवीकरण में भी पाठक को मानवीय भावों का ही अनुभव होता है, वह लता-वृक्ष, नदी-मेघ आदि में आरोपित रति-वर्णन में लता-वृक्ष आदि को भूल कर काल्पनिक युवा-युवति का स्मरण करके कवि के भावों के साथ तादात्म्य कर भावमग्न रहता है, परन्तु इस मध्य उसे कहीं यह प्रतीत हो कि 'यह शृङ्गार वर्णन' मानव का नहो कर, जड़, लता-वृक्ष आदि पर कल्पित है तो उसके रसास्वाद के मार्ग में विघ्न उपस्थित होगा। वस्तुतः इस प्रकार के वर्णन में कई बार सहृदय भावास्वाद के साथ ही साथ कवि-कल्पना का भी स्मरण करता रहता है; उसका चित्त भावास्वाद की ओर उन्मुख रहता है और बुद्धि कवि की कल्पना से चमत्कृत हो रही होती है। यह स्थिति – एक ही क्षण में मन और बुद्धि की क्रियाशीलता-पाठक के चित्त की तन्मयता में व्याघात पहुँचाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर, हेमचन्द्र आदि ने जड़ प्रकृति पर शृङ्गारिक चेष्टाओं के आरोपण में रसाभास की जो कल्पना की है, वह सर्वथा निराधार नहीं है।

तात्पर्य यह है कि निरिन्द्रियगत रति में अनौचित्य रहता ही है। भले ही यहाँ अनौचित्य का स्वरूप नीति अथवा शास्त्र विरोध से सीधे सम्बन्धित न होकर कवि कल्पना के अतिरेक से सम्बन्धित है।

४. प्रकृति का प्रतीकरूप में वर्णन :

प्रतीक पद्धति में कहीं अभिधा के स्थान पर लक्षणा का प्रयोग किया जाता है और कहीं प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की योजना की जाती है। प्रतीक का महत्त्व काव्य में इस दृष्टि से बहुत है कि कई बार कवि अपने भावावेग को शब्दों के अभिधात्मक रूप में व्यक्त नहीं कर पाता तो वह शब्दों की लाक्षणिकता के आधार पर प्रतीकों की योजना करता है, जिससे उसके आन्तरिक आवेगों की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। क्योंकि शब्दों के लाक्षणिक रूप में अभिधात्मक रूप की अपेक्षा भाव-गाम्भीर्य को वहन करने की अधिक शक्ति रहती है और कई बार कवि अप्रस्तुत वर्णन द्वारा प्रस्तुत पर प्रकाश डालने के लक्ष्य से भी प्रतीक का

प्रयोग करता है। प्रतीक पद्धति को स्पष्ट करते हुए डा० हरिश्चन्द्र वर्मा ने लिखा है – "प्रतीक-पद्धति में अभिधा के स्थान पर लक्षणा का प्रयोग और प्रस्तुत (वस्तु अथवा प्रसङ्ग) के स्थान पर अप्रस्तुत की स्थापना दोनों का समावेश है।"[२०९] जीवन के गूढ़ रहस्यों तथा सत्यों को व्यक्त करने के लिए कविगण प्रकृति को प्रतीक के रूप में चित्रित करते हैं, जो कई बार प्रमाता के झूठे अहङ्कार और स्वार्थपरायणता का परिमार्जन कर मानवता का उपदेश देते हैं। जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

नितरां नीचोऽस्मीति खेदं कूप कदापि मा कृथाः।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषां गुणग्रहीताऽसि॥[२१०]

जगन्नाथ कुएँ को सम्बोधित कर उसे शिक्षा देते हुए कहते हैं कि – हे कूप, "मैं अत्यन्त नीच हूँ" यह सोच कर कथमपि दुःखित मत होना। क्योंकि तुम तो अत्यन्त सरस (जलपूर्ण) हृदय वाले हो और इसीलिए तो तुम दूसरों के गुणों (रस्सी) को धारण करते हो।

यहाँ कुआँ नीच कुलोत्पन्न, परन्तु अत्यन्त कोमल-(सरस) हृदय तथा गुणग्रहीता पुरुषों का प्रतीक है। इससे शिक्षा लेकर हम उच्च मानवीय गुण के महत्त्व को समझ सकते हैं।

एक अन्य उदाहरण देखिए –

नीरं नीरसमस्तु कौपमिति, तत्पाथो वरं मारवं
कासाराम्बु तदस्तु वा परिमितं तद्वास्तु वापीपयः।
पाने मज्जनकर्मणि तथा बाह्यैरलं वारिधे
कल्लोलावलिहारिभिस्तव नभः संचारिभि र्वारिभिः॥[२११]

– मरुस्थल के कुएं का नीरस पानी भी श्रेष्ठ है। पोखरे का तथा बावली का सीमित जल भी ठीक है। परन्तु हे समुद्र ! लहरों से सुन्दर लगने वाले, आकाश तक विचरण करने वाले तुम्हारे जल का क्या लाभ ? जो न पीने के काम आता है और न ही नहाने के काम आता है। यहाँ कवि ने कूपादि के नीरस जल की प्रशंसा कर, समुद्र के अनुपादेयत्व की जो बात कही है, उससे यह तात्पर्य है कि यदि किसी व्यक्ति के पास साधारण

---

२०९. संस्कृत कविता में रोमाण्टिक प्रवृत्ति : डा० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ० ४२ से उद्धृत।

२१०. भामिनीविलास, प्रास्ताविक विलास, श्लो० ८

२११. अन्योक्तिमुक्तालता, श्लो० ५७

सम्पत्ति ही है और वह किसी दूसरे के काम आती है तो वह अच्छी है। परन्तु किसी के ऐसे वैभव से क्या लाभ जिससे दूसरे को लाभ नहीं होता।

मस्ती में झूमते हुए केले के वृक्ष को देखकर कवि उसे उलाहना देते हुए कहता है कि – हे रम्भा वृक्ष ! कुछ ही दिन तक रहने वले इस तुच्छ सम्पत्ति से प्रसन्न होकर क्यों झूमते हो। यह क्षणिक सम्पत्ति तो क्या, तुम्हारा यह सुन्दर शरीर भी एक जन्म से अधिक नहीं टिकने वाला – वह भी नश्वर है। तुम्हारे जैसे यहाँ कितने आए और कितने आएँगे –

रम्भा झूमत हो कहा थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गए अरु होइहिं एहि खेत॥
अरु होइहिं एहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पर गज रहे, दीठि तुम पै प्रतिदीने॥
वरनै 'दीनदयाल' हमें लखि होत अचंभा।
एक जनम कै लागि कहा झुकि झूमत रम्भा॥[२१२]

यहाँ कवि ने फल से झुके और झूमते हुए केले से कितना सुन्दर तथ्य का संकेत लेकर उसे उपदेश का माध्यम बनाया है। फलयुक्त केले का वृक्ष, सम्पत्तिशाली अभिमानी लोगों का प्रतीक है। उनके लिए कवि का उपदेश है कि कतिपय दिन स्थायी सम्पत्ति के लिए मानव को घमण्ड करना व्यर्थ है, क्योंकि उसका शरीर ही एक जन्म से अधिक नहीं रहने वाला है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि काव्य में प्रकृति का वर्णन आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, प्रतीकात्मक आदि रूप में उपलब्ध होता है। प्रकृति के ये सभी रूप सहृदय को भावविभोर करने में समर्थ हैं। अतः जड़ प्रकृति न केवल स्वतन्त्र भाव का आलम्बन बन सकती है, अपितु वह मानवीय भावों का भी आलम्बन बन सकती है। इस सन्दर्भ में आनन्दवर्धन का यह कथन स्मरणीय है –

"संसार की सभी वस्तुएँ विभाव का रूप धारण कर किसी रस या भाव का अङ्ग अवश्य ही बन जाती हैं। रसादि चित्तवृत्तिविशेष ही तो हैं। और (संसार) में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। यदि वह किसी चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं करती है तो वह कवि का विषय ही नहीं हो सकती है।"[२१३]

---

२१२. भारतीय काव्यशास्त्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ५२४ से उद्धृत।
२१३. वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते,

तात्पर्य यह है कि संसार का क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् पदार्थ द्रष्टा के हृदय में किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को अवश्य ही उत्पन्न करता है। और वह किसी सुकवि के वर्णन का विषय बनने पर किसी रस या भाव का अङ्ग अवश्य बन जाता है। प्रकृतिगत पदार्थ भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। ये भी द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति को उत्पन्न करने में नितरां समर्थ होते हैं, अतः प्रकृतिगत पदार्थ भी सुकवि की लेखनी के अङ्ग बनते ही हैं। "और कवि तो अपने काव्यजगत् का प्रजापति है। उसकी रुचि के अनुसार यह काव्यरूपी संसार बदल जाता है। सुकवि काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है –

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।

.. ..

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।।[२१४]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समर्थ कवि अपनी प्रतिभा के बल से प्रकृति का रमणीय वर्णन प्रस्तुत कर सहृदय को रस अथवा भाव में मग्न करने में समर्थ हो सकता है।

परन्तु प्रकृतिगत पदार्थों के वर्णन से प्राप्त होने वाले आनन्द की समानता मानवीय भाववर्णन से नहीं की जा सकती। इस तथ्य की पुष्टि में निम्नोक्त तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं –

१. प्रकृति का जहाँ स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में चित्रण हुआ है, वहाँ वह यथारूप सहृदय के चित्त में विभिन्न भावों को अवश्य उत्पन्न करती है अर्थात् प्रकृति के मधुर, विराट् तथा भयानक रूप के चित्रण से सहृदय के चित्त में क्रमशः सहज अनुराग, विस्मय तथा भय का भाव अवश्य उत्पन्न होता है। परन्तु फिर भी प्रकृति के इन विभिन्न रूपों के वर्णन से होने वाले आनन्द और मानवीय रत्यादि भाव के वर्णन से होने वाले आनन्द एक समान नहीं होते; मानवीय भाववर्णन में अनुभूति की

अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्। – ध्वन्यालोक, ३/४३ वृत्तिभाग, पृ० ३१०-११

२१४. वही, ३/४३ वृत्ति भाग, पृ० ३१२

जो तीव्रता होती है, वह प्रकृति वर्णन में नहीं होती।

२. प्रकृति का उद्दीपनगत चित्रण मानव-सम्बन्धी भावों को ही तीव्र करने के लिए अथवा उसे यथार्थ भूमि प्रदान करने के लिए किया जाता है। ऐसे स्थलों में प्रकृतिगत पदार्थ स्वयं भाव के आलम्बन नहीं बनते, अतः काव्य में उनका स्थान गौण ही होता है।

३. प्राकृतिक पदार्थ का जहाँ मानवीकरण के रूप में वर्णन होता है, वहाँ कवि कल्पना का इतना अतिरेक रहता है कि सामान्य पाठक को तादात्म्य स्थापित करने में कठिनाई हो जाती है।

४. प्रकृति का प्रतीक रूप महत्त्वपूर्ण रहस्यों एवं नैतिक उपदेशों का माध्यम अवश्य बन सकता है, परन्तु पाठक के तादात्म्य में शिथिलता का भय यहाँ भी बना रहता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्रकृतिकाव्य की रसनीयता एवं प्रभावोत्पादकता को स्वीकार करते हुए भी उसे मानवीय भाव-वर्णन के तुल्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि विभिन्न भावों का सर्वोत्कृष्ट आलम्बन तो मानव ही .बन सकता है। प्रकृति में तो भाव केवल आरोपित होते हैं, वह स्वयं किसी भाव को व्यक्त नहीं करती। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक 'हेगल' का यह कथन महत्त्वपूर्ण है – "कविता का उदात्ततम विषय मानव प्राणी है, क्योंकि उसके भीतर मनस्तत्त्व का अधिष्ठान है। वही किसी विषय को अपनी मानसिक शक्ति के बल पर समझता है, बूझता है तथा उसे सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करता है। इतर प्राणी उसकी अपेक्षा निम्न श्रेणी के होते हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क अपरिपक्व रहता है, परन्तु प्रकृति की अपेक्षा वे भी रमणीय अधिक घनिष्ठ तथा सुन्दर होते हैं। प्रकृति इन की अपेक्षा हीन श्रेणी की होती है, क्योंकि उसमें आरोपित सौन्दर्य होता है और काव्य-कला के कारण ही उसमें चित्ताभास की सत्ता रहती है।"[२१५] अतः जड़ प्रकृति में मानवीय शृङ्गारिक चेष्टाओं के आरोप को शृङ्गाराभास मानने की हेमचन्द्र आदि आचार्यों की धारणा की सर्वथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

औ. बालक एवं वृद्धागत रति :

रति युवक-युवति के अनुरूप भाव है।[२१६] अतः रति की पूर्ण चर्वणा तभी सम्भव है जब इसके विभाव युवा स्त्री-पुरुष हों। अतएव रूपगोस्वामी ने वृद्धा में

---

२१५. भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० ५३०-३१ से उद्धृत।

२१६. (क) स्त्री-पुरुषहेतुक उत्तमयुव प्रकृतिः। - ना० शा०, पृ० ३०१

प्रदर्शित रति कोशृङ्गार रसाभास (उपरस) माना है।[२१७] तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने बालक एवं वृद्ध के द्वारा स्त्री-सेवन को अवस्था के विरुद्ध होने से अनौचित्यपूर्ण कहा है।[२१८] कारण स्पष्ट है कि लोक में वृद्धजनों के कामपूर्ण प्रवृत्ति को हेय दृष्टि से देखा जाता है, इसका एक कारण यह भी है कि वृद्धजनों के प्रति हमारे चित्त में सामान्यतया आदर-भाव रहता है, अतः काव्यादि में वृद्धगतरति सहृदय की अरुचि अथवा घृणा का कारण बनती है।

इसी प्रकार बालक द्वारा स्त्री का सेवन भी उसकी अवस्था के सर्वथा विरुद्ध होने से सहृदयों के वैरस्य का ही जनक होगा; क्योंकि बाल्यावस्था की स्वाभाविक सुकोमलता एवं निश्छलता के प्रति साधारणतया सभी के मन में वात्सल्य भाव निहित रहता है। ऐसी स्थिति में काव्य आदि में बालक को स्त्री-सेवन करे हुए पाकर पाठक को उससे वितृष्णा ही होगी।

रूपगोस्वामी ने वृद्धागत रति का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है –

कज्जलेन कृतवेशकालिमा,
बिल्वयुग्मरतिचतोन्नतस्तनी
पश्य गौरि ! किरती दृगञ्चलं-
स्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ॥[२१९]

– काजल के द्वारा केशों को काला करने वाली, दो बेल के फलों के द्वारा कुचों को उन्नत बना लेने वाली एवं कटाक्षपात करने वाली यह वृद्धा अघहर (पापनाशक कृष्ण) को स्मितयुक्त बना रही है।

इस प्रकार के वर्णनों से पाठक कोशृङ्गार के स्थान पर वैरस्य की ही अनुभूति होती है। इसी प्रकार बालक की शृङ्गारिक चेष्टाएँ अथवा किसी बालक के प्रति युवतियों के रति भाव का प्रदर्शन भी प्रत्यक्षतः रसाभास का ही जनक होता है। रूपगोस्वामी ने शृङ्गार के आश्रय अथवा आलम्बन (पात्र) को 'बालक' शब्द से

(ख) यूनोःपरस्परं परिपूर्णः प्रमोदःसम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वाशृङ्गारः। – रसतरङ्गिणी, ६.२ (वृत्ति भाग)।

२१७. वृद्धास्वपि स वर्तते। - भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१२

२१८. बाल वृद्धयोः स्त्रीसेवनम्। – रसगंगाधर (व्याख्या - मधुसूदन शास्त्री) प्रकाशक – काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीयानुसन्धान समिति।), वि० सं० २०२० पृ० २१९

२१९. भक्तिरसामृतसिन्धु, ९.१२

उच्चारण करने को भी ग्राम्यत्व कह कर प्रकारान्तर से अनुचित माना है।[२२०] उनका उदाहरण है –

किं नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्करसदां सदा।
मुरलीध्वनिना नीविं गोपबाल ! विलुम्पसि॥[२२१]

– अर्थात् हे गोपबाल तुम क्यों मुरली के शब्द से सदा जल में रहने वाली हम नागबालाओं की नीवी को शिथिल कर रहे हो। यह कृष्ण के प्रति कालिह्द में रहने वाली नागकिशोरियों की उक्ति है। इस में कृष्ण नागबालाओं में स्थित रति के आलम्बन हैं किन्तु ये नागबालाएँ कृष्ण को 'गोपबाल' पद से सम्बोधित कर रही हैं, जिससे यहाँ तज्जन्य रति के आस्वाद में विघ्न आ गया है।

वास्तव में बाल्यावस्था के बोधक बालक पद से पाठक को ऐसा लगता है कि नागकन्यायें रति के अयोग्य (बालक) कृष्ण के प्रति रति भाव प्रकट कर रही हैं। इसी प्रकार वृद्धगतरति एवं बालिका में रति दिखाने पर भी रसाभास मानना चाहिए।

हास्यादि रसाभास

२. हास्यरसाभास :

हास्यरस में अनौचित्य प्रवर्तन के दो कारण हो सकते हैं – (क) अनुचित विभाव और (ख) अनुपयुक्त वातारण।

(क) अनुचित आलम्बन :

आचार्य विश्वनाथ,[२२२] जगन्नाथ[२२३] एवं वामनाचार्य झलकीकर[२२४] ने गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित 'हास' को हास्य रसाभास माना है। कारण स्पष्ट है कि गुरु आदि आदर के पात्र हैं, अतः यदि कहीं उनके उपहास आदि का वर्णन किया गया हो तो उससे पाठक की नैतिक भावना को आघात पहुँचता है। इस प्रकार के वर्णन में उसका चित्त आश्रय के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित

---

२२०. बालशब्दाद्युपन्यासः........ ग्राम्यत्वं कथितं वुधैः। – भक्तिरसामृतासिन्धु, ९. १७-१८

२२१. वही, ९. १७ १/२

२२२. "........ गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।" – सा० द०, ३/२६५

२२३. "........ गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः।" – र० गं०, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२२४. "तथाहि गुर्वाद्यालम्बनतया हासस्य" – का० प्र०, वामन झलकीकर कृत टीका युक्त, पृ० १२१

कर हास्य का आस्वाद प्राप्त करने में न केवल असमर्थ रहता है, अपितु आश्रय के प्रति क्षोभ आदि भाव का अनुभव करता है। रूपगोस्वामी ने भी कृष्ण के प्रति प्रदर्शित जरासन्ध के हास को रसाभास स्वीकार किया है –

पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम्।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सोल्लुण्ठमहसीन्मुहुः॥[२२५]

– चंचल एवं विशाल नेत्रों वाले कृष्ण को (युद्ध में से) दूर से भागता हुआ देखकर जरासन्ध बार-बार जोर-जोर से हँसा।

श्रीकृष्ण पूज्य हैं, अतः उन्हें हास का आलम्बन बनाना अनुचित है। उन पर हँसते हुए जरासन्ध को देखकर पाठक के चित्त में हास्य का उद्‌बोध नहीं होता। अपितु जरासन्ध का यह दुष्कृत्य उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुरु, माता, पिता, अग्रज आदि पूज्य व्यक्ति हास्य रस के उपयुक्त आलम्बन नहीं हैं। विकृत आकृति, वाणी, वेष तथा चेष्टा वाले हास्य के आलम्बन माने गए हैं।[२२६]

आचार्य अभिनवगुप्त ने हास्य के आलम्बन के उपहास में हास्य रसाभास माना है –

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष,
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यस्त्वत्र हास्यमुखरस्त्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति॥

– "हे महापुरुष (अङ्ग) यदि ये लोग आपके लोकोत्तर कामों को (अर्थात् आप अपनी वीरता की जो अलौकिक बातें इनको सुनाते हैं, उनको) नहीं मानते हैं तो हम (उनको) क्या कहें। (लेकिन आप से इतना अवश्य कह सकते हैं कि आप इधर तो अपनी वीरता की ऐसी डींग मारते हैं, उधर जब अपने शत्रु या अधिकारी के सामने जाते हैं तो खुशामद के रूप में सदा फटकार खाकर भी हँसते हुए जाते हैं। सो) जो आप उनके सामने (खुशामद के रूप में) हंसते हैं, इससे कौन ऐसा है, जिसका हँसते-हँसते पेट ने दुखने लगता हो।"[२२७]

---

२२५. भ० र० सिं०, ९/१०१३
२२६. "विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः।" – सा० द०, ३/२१५
२२७. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५२०

अपनी वीरता की कोरी गप हाँकने वाला व्यक्ति लोगों को हंसा देता है, वह दूसरों के उपहास का विषय बनता है। परन्तु उसी का हास हास्य की उत्पत्ति न कर हास्याभास को ही उत्पन्न करता है।

२. अनुपयुक्त वातावरण :

गम्भीर अथवा दुःखात्मक वातावरण में हास्य की पुष्टि नहीं हो सकती; सुखद वातावरण में ही हास्य की समुचित परिपाक सम्भव है। अतएव शारदातनय ने घृणित वातावरण के उत्पादक पीव, माँस आदि एवं विष्टालेपादि को हास्य के लिए घातक माना है –

पूयशोणितमांसादि विष्ठालेपादयोऽपि च।
हास्यं भिन्दन्ति यत्रैते स हास्याभास ईरितः॥[२२८]

३. करुण रसाभास :

करुण रस के रसाभास होने में मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं –

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति शोक प्रदर्शन;

(ख) अनुचित आश्रय में शोक का वर्णन।

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति शोक-प्रदर्शन :

जगन्नाथ ने कलहशील कुपुत्र के विषय में वर्णित शोक को करुणाभास माना है।[२२९] वस्तुतः यहाँ कलहशील कुपुत्र से ऐसे व्यक्ति का ग्रहण करना चाहिए जो अपने क्रूर एवं दुष्ट स्वभाव के कारण मानव-समाज के लिए महान् हानिकारक सिद्ध हो रहा हो और जिसकी मृत्यु में ही समाज, देश का कल्याण निहित हो। क्रूर, दुराचारी व्यक्तियों के प्रति सहृदय के मन में आक्रोश, घृणा आदि भाव जागृत होते हैं। अतः उनके विनाश में शोक प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति के साथ सहृदय तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। इस दृष्टि से रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी का विलाप करुण रस न होकर करुणाभास होगा –

प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम्।
नय मामपि दुःखार्त्तां न जीविष्ये त्वया विना॥

---

२२८. भाव प्रकाशन, षष्ठ अधिकार, कारिका सं० २२

२२९. "एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया......... वर्ण्यमानः शोकः।" – र० गं०, रसाभास प्रकरण।

कस्मात्त्वं मां विहायेह कृपणां गन्तुमिच्छसि।
दीनां विलापितै र्मन्दां किं वा मां नाभिभाषसे॥[२३०]

– हे राजन् ! आप बहुत दूर जा रहे हैं, आपके बिना मैं नहीं जी सकूँगी। इसलिए आप मुझे भी साथ ले चलो। मुझ दु:खिया को छोड़कर आप किस तरह अकेले जाने का विचार कर रहे हैं ? हे स्वामी विलाप करती हुई मुझसे नहीं बात करेंगे ?

यहाँ क्रूर राक्षसराज रावण के प्रति शोक प्रदर्शन करने वाली मन्दोदरी के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होता, क्योंकि उसे रावण की मृत्यु ही अभीष्ट है।

इसी प्रकार रावण के मरने पर विभीषण आदि का विलाप[२३१] भी करुणाभास ही है।

२. अनुचित आश्रय में शोक-वर्णन :

विरक्त पुरुष या सन्यासी में शोक का अस्तित्व दिखाया जाए तो वहाँ करुणाभास होगा।[२३२] विरक्त पुरुष लौकिक सुख-दु:ख से ऊपर उठा होता है। ऐसी स्थिति में उसे किसी की मृत्यु आदि पर शोक प्रदर्शित करते हुए दिखाया जाए तो पाठक को करुण रस की अनुभूति नहीं हो सकेगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि का उद्देश्य यदि वीतराग व्यक्ति को शोकाकुल दिखा कर किसी सत्पात्र की मृत्यु पर अत्यधिक शोक प्रकट करना रहा हो तो वहाँ करुण रसाभास नहीं होगा।

आचार्य अभिनवगुप्त ने जो जिसका बन्धु (प्रिय) नहीं है, उसके शोक को करुणाभास (हास्य) माना है।[२३३] इसका आशय यह है कि वही शोक करुणरस के रूप में परिणत हो सकता है, जो परस्पर घनिष्ठ स्नेह सम्बन्ध वाले दो व्यक्तियों में से एक की मृत्यु पर द्वितीय को उसके शोक में सन्तप्त दिखाया जाए।

---

२३०. वाल्मीकी रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - ११४, श्लो० ६०-६१

२३१. वही, ११२, श्लो० १-१०

२३२. (क) "...... वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमान:शोक:।" – र० गं०, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

(ख) "वीतरागाद्याश्रयतया करुणस्य।" – का० प्र०, बालबोधिनी, टीका, पृ० १२१

२३३. एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। – हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५२०

४. रौद्ररसाभास :

रौद्र रस के रसाभास होने में मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं –

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति क्रोध प्रदर्शन,

(ख) अनुचित आश्रय में क्रोध का वर्णन।

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति क्रोध प्रदर्शन :

रौद्ररस का 'आलम्बन' शत्रु माना गया है।[२३४] अतः विश्वनाथ ने गुरु आदि के प्रति प्रदर्शित कोप में रौद्राभास स्वीकार किया है।[२३५] जगन्नाथ ने पिता आदि के विषय में होने वाले क्रोध को रौद्र रस का आभास माना है।[२३६] पिता के प्रति प्रदर्शित क्रोध में रसाभास होने का उल्लेख काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर ने भी किया है।[२३७]

पिता गुरु एवं अग्रज आदि हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, इनका सम्मान करना हमारा नैतिक धर्म है। अतः इनके प्रति प्रदर्शित क्रोध में सहृदय को रौद्राभास की ही अनुभूति होगी। इस दृष्टि से युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन का क्रोध रौद्र रसाभास है –

अर्जुनः प्राह गोविन्दं क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्।
अन्यस्मै देहि गाण्डीवमिति मां योऽभिचोदयेत्॥
भिन्द्यामहं तस्य शिर इत्युपांशुव्रतं मम।
तदुक्तं मम चानेन राज्ञामितपराक्रम॥
समक्षं तव गोविन्द न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे।
तस्मादेनं वधिष्यामि राजानं धर्मभीरुकम्॥
प्रतिज्ञां पालयिष्यामि हत्वैनं नरसत्तमम्।
एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन॥[२३८]

---

२३४. रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥ – सा० द०, ३/२२७

२३५. "......... रौद्रे गुर्वादिगतकोपे" – वही, ३/२६४

२३६. "पित्राद्यालम्बनत्वेन च क्रोधोत्साहौ" – रसङ्गाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२३७. पित्राद्यालम्बनतया रौद्रवीरयोः – का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृ० १२१

२३८. महाभारत, कर्णपर्व, अ० ६९, श्लोक ९-१२

महाभारत की कथा के अनुसार अर्जुन ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो कोई मेरे गाण्डीव (धनुष) की निन्दा करेगा उसे मार डालूँगा। एक बार युधिष्ठिर ने युद्ध में कर्ण से परास्त होकर लौटे हुए अर्जुन की और उसके गाण्डीव की निन्दा कर दी।[२३९] उससे अर्जुन क्रोधित हो उठे और अपनी प्रतिज्ञा को याद कर अग्रज युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत हो गए। अपनी क्षुद्र प्रतिज्ञा की तुलना में पितृ-तुल्य बड़े भाई युधिष्ठिर पर अर्जुन का क्रोध करना अनुचित है। यहाँ पर सहृदय न केवल अर्जुन से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है, बल्कि वह अर्जुन के इस निन्द्य कर्म के लिए उसकी भर्त्सना करने लगता है। अतः यहाँ रौद्र रसाभास है। आचार्य विश्वनाथ ने रौद्र रसाभास के प्रसङ्ग में इसी प्रसङ्ग का उल्लेख किया है –

रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-
र्मुक्त्वा कर्णमपेतभी धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।
आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
न्नंसास्फोटपटु युंधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः॥[२४०]

– जिसके उभरे हुए विशाल और चंचल नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गये हैं, जिसका सिर बारम्बार कोप से कम्पित हो उठता है, युधिष्ठिर के कटु-वचनों द्वारा अपनी तथा अपने गाण्डीव (धनुष) की निन्दा सुनकर भड़का हुआ (आध्मात) वह अर्जुन, धनुषवाण लिये हुए अनेक बार किये हुए अपने भुजविक्रमों का कीर्तन करता हुआ, कर्ण को छोड़ कर, श्रीकृष्ण के देखते-देखते ताल ठोंकता हुआ, युधिष्ठिर को मारने को झपटा। इस पद्य में अर्जुन का युधिष्ठिर के प्रति क्रोध उसकी अभद्रता का परिचायक है।

इसी प्रकार यदि कोई क्रूर या क्रोधित व्यक्ति किसी दयनीय एवं निर्बल व्यक्ति पर क्रोध करता है तो वहाँ रौद्राभास ही होगा।

(ख) अनुचित आश्रय में क्रोध का वर्णन :

शक्तिशाली एवं निर्भय व्यक्ति क्रोध के उपयुक्त आश्रय हैं। इसीलिए, पण्डितराज जगन्नाथ ने निन्दनीय एवं कायर व्यक्ति में क्रोध की स्थिति का वर्णन

---

२३९. धिग्गाण्डीवं धिक् च ते बाहुवीर्य -
मसंख्येयान् बाणगणाश्च धिक् ते।
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य
कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते॥ – महाभारत, अ० ६८, श्लोक ३०

होने पर रौद्र रसाभास स्वीकार किया है।[२४१] निन्दनीय एवं कायर के क्रोध को रसाभास मानने का कारण मनोगत है। निन्दनीय व्यक्ति के क्रोध में पाठक का तादात्म्य अथवा सहानुभूति नहीं होती। और कायर पुरुष के क्रोध में भी पाठक या प्रेक्षक को क्रोध की रसात्मक अनुभूति नहीं होती।

इसी प्रकार किसी दुराचारी व्यक्ति को सत्पात्र के प्रति क्रोध करते हुए देख अथवा सुन कर भी सहृदय को रौद्राभास का ही अनुभव होता है। रावण का राम के प्रति क्रोध रौद्राभास का जनक है –

अद्य बाणै र्धनुर्मुक्तै र्युगान्तादित्यसंनिभैः।
राघवं लक्ष्मणं चैव नेष्यामि यमसादनम्॥[२४२]

– आज मैं (रावण) प्रलय काल के समान अपने प्रदीप्त धनुष से तीक्ष्ण बाणों को चलाकर राम और लक्ष्मण को यमलोक भेज दूँगा।

इसी प्रकार किसी सत्पात्र का दीन अथवा निरपराध व्यक्ति के प्रति प्रबल क्रोध-प्रदर्शन सहृदय के चित्त में क्रोध का रसात्मक संचार करने में असमर्थ सिद्ध होता है एवं बालक स्त्री आदि को आलम्बन बनाने पर भी रौद्र रसाभास होगा।

५. वीररसाभास :

वीररस के रसाभास होने में मुख्यतः ये दो कारण हैं –

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति उत्साह प्रदर्शन एवं

(ख) अनुचित आश्रय में उत्साह का वर्णन।

(क) अनुचित आलम्बन के प्रति उत्साह प्रदर्शन :

उत्साह का आलम्बन विजेतव्य माना गया है।[२४३] अतः विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने क्रमशः ब्राह्मणवध आदि कुकर्मों तथा पिता आदि के विषय में होने वाले उत्साह को वीर रसाभास का विषय स्वीकार किया है।[२४४] ब्राह्मण एवं पिता

---

२४०. साहित्यदर्पण, ३/२६६ के अन्तर्गत।

२४१. "कदर्यकातरादिगतत्वेन........ च क्रोधोत्साहौ।" – रसगङ्गाधर, १म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२४२. वाल्मीकीयरामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग – १६, पद्य १०

२४३. सा० द०, ३/२३३

२४४. (क) ब्राह्मणवधाद्युत्साहे...... वही, ३/२६५

आदि हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, अतः उनके प्रति प्रदर्शित उत्साह से सामाजिक की इस भावना को ठेस पहुँचती है।

इसी प्रकार बुरे काम के लिए किया गया उत्साह एवं उत्तम कार्यों के प्रति नाशकारी उत्साह भी वीर रसाभास के विषय हैं –

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम्।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि॥
असेव्यः सर्वतश्चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः।
इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण॥[२४५]

जब रावण सीता का अपहरण कर लङ्का ले गया, तब श्रीरामचन्द्र सीता को ढूँढते हुए प्रस्रवण पर्वत और गोदावारी नदी के पास पहुँचे और उनसे सीता के विषय में पूछा। उनकी ओर से जब कोई उत्तर नहीं मिला तो रामचन्द्र उन्हें नष्ट और शोषित करने को उद्यत हो गए। यहाँ निरपराध पर्वत एवं नदी के विषय में राम का विनाशकारी उत्साह सहृदय के चित्त में उत्साह का रसात्मक संचार करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। यदि सहृदय का रामचन्द्र के प्रति पूज्यभाव न हुआ तो राम के इस उत्साह पर उसे क्षोभ भी हो सकता है।

(ख) अनुचित आश्रय में उत्साह का वर्णन :

उत्साह भाव का उपयुक्त आश्रय उत्तम प्रकृति है।[२४६] अतएव विश्वनाथ ने उत्साह की स्थिति अधमपात्र में दिखाने पर वीर रसाभास स्वीकार किया है।[२४७] जगन्नाथ ने निन्दनीय एवं कायर व्यक्ति के द्वारा उत्साह-प्रदर्शन में वीर रस का आभास माना है।[२४८]

(ख) .... पित्राद्यालम्बनत्वेन च क्रोधोत्साहौ।
– रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२४५. वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग - ६४, श्लोक ३३-३४

२४६. (क) अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। – हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५९३

(ख) उत्तमप्रकृति र्वीर उत्साहस्थायिभावकः – सा० द०, ३/२३२

२४७. "........ अधमपात्रगते तथा वीरे।" – वही, ३/२६५

२४८. कदर्यकातरादिगतत्वेन....... क्रोधोत्साहौ। – रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

६. भयानक रसाभास :

भयानक रस के रसाभास होने में मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं –

(क) भय के अनुचित आलम्बन से भयभीत होना एवं

(ख) अनुचित आश्रय में भय दिखाना।

(क) भय के अनुचित आलम्बन से भयभीत होना :

भय का आलम्बन अत्यन्त भयङ्कर होना जरूरी है। अन्यथा भयानक रस का समुचित परिपाक नहीं हो पायेगा। उदाहरणार्थ, किसी को चूहे अथवा छिपकली आदि तुच्छ प्राणियों से अत्यन्त डरते हुए दिखाया जाए तो वहाँ सहृदय को भयानकाभास की ही अनुभूति होगी। इसके विपरीत नरभक्षी व्याघ्र, रीछ, अजगर, शस्त्र उठाकर मारने को उद्दत दुष्ट व्यक्ति आदि भय के उपयुक्त आलम्बन हैं।

(ख) अनुचित आश्रय में भय दिखाना :

भय का आश्रय स्त्री तथा नीच पुरुष माने गये हैं।[२४९] अतः आचार्य विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने क्रमशः उत्तम पात्रगत एवं महावीरगत भय को रसाभास के अन्तर्गत माना है।[२५०] महावीर अथवा उत्तम प्रकृति में भय दिखाना उसके स्वभाव के विरुद्ध है, अतः सामाजिक को वैसा वर्णन ग्राह्य नहीं होता।

आचार्य विश्वनाथ ने भयानकाभास का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है –

अशक्नुवन्सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः॥[२५१]

– सूर्य के समान प्रदीप्त रावण के दर्शन करने में असमर्थ, अधीरनयन कौशिक (इन्द्र अथवा उल्लू) सुमेरु पर्वत की गुफा के भीतर छिपकर डरते-डरते दिन बिताता था। जैसे उल्लू सूर्य से डर कर गुफाओं में छिपता है, उसी प्रकार इन्द्र, रावण से डर कर सुमेरु पर छिपता था। इस में भयानकाभास है, क्योंकि यहां उत्तम पात्र (इन्द्र) में भय दिखलाया गया है।

---

२४९. भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः॥ – सा० द०, ३/२३५

२५०. (क) "....... अधमपात्रगते तथा वीरे।" – वही, ३/२६५
(ख) महावीरगतत्वेन भयम्। – रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२५१. सा० द०, ३/२६५ के अन्तर्गत।

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि भय का आलम्बन यदि आश्रय की अपेक्षा अधिक पराक्रमी एवं क्रूर हो तो महावीरगत भय में भी भयानक रस की ही अनुभूति सम्भव है। जो पाठक रावण के अत्यधिक पराक्रम से परिचित हैं और यह जानते हैं कि रावण इन्द्र की अपेक्षा अधिक पराक्रमशाली है, उन्हें रावण से भयभीत इन्द्र को देखकर भय का ही रसात्मक अनुभव होता है। यह बात अवश्य है कि भयानक रस की पुष्टि जितनी अधिक स्त्री, नीच, बालक आदि में होती है, उतनी महावीर अथवा उत्तम प्रकृति में नहीं होती।

७. बीभत्स रसाभास :

आचार्य जगन्नाथ ने यज्ञीय पशु की मज्जा, शोणित, मांस आदि के प्रति जुगुप्सा-प्रदर्शन में बीभत्स रसाभास स्वीकार किया है।[२५२] इसे रसाभास मानने का कारण धार्मिक है। मध्यकाल में यज्ञ में पशु आदि के बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। आम जनता को यह विश्वास था कि इससे धर्म की प्राप्ति होती है। इसीलिए तब इसे शुभ कर्म माना जाता था। यही कारण है कि दर्शनों में भी यज्ञसम्बन्धी हिंसा को उचित ठहराया गया है।[२५३] इसीलिए यज्ञीय पशु के मांस आदि को लेकर की गई जुगुप्सा को रसाभास माना गया है।

परन्तु आज जब कि सामाजिक और धार्मिक मान्यताएँ पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी हैं, इस प्रकार के दृश्यों से बीभत्स रसाभास मानना उचित प्रतीत नहीं होता। आज का सहृदय 'कामायनी' के निम्नोक्त दृश्य में 'बीभत्स' का ही अनुभव करता है–

दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे।
अस्थि-खण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी।।[२५४]

आज का पाठक इस प्रकार के कृत्य को घृणित ही समझेगा। कारण कि उसे ऐसे कर्मों से धर्म-प्राप्ति की बात पर विश्वास नहीं होता। कुछ साम्प्रदायिक

---

२५२. "यज्ञीयपशुवसासृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासा:।" – रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६

२५३. याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति। – मीमांसा दर्शन।

२५४. कामायनी (प्रथम संस्करण), 'कर्म' सर्ग, पृ० ११६, (रसमीमांसा, पृ० ३१४ से उद्धृत)।

साधकों को उक्त दृश्य में औचित्य का ही अनुभव हो सकता है, परन्तु उनकी संख्या नगण्य ही समझनी चाहिए।

वस्तुतः ऐसे प्रसङ्गों की अपेक्षा बीभत्स रसाभास की मान्यता वहाँ अधिक संगत है, जहाँ जुगुप्सा का प्रदर्शन रोगी, विकलांग या वृद्ध के प्रति किया गया हो। क्योंकि वे जुगुप्सा के पात्र नहीं, दया के पात्र होते हैं। इसी प्रकार सन्तान की विष्ठा, गन्दे कपड़े आदि को धोती हुई माँ आदि को देख कर की जाने वाली जुगुप्सा में भी बीभत्स रसाभास मानना चाहिए।

८. अद्भुत रसाभास :

आचार्य जगन्नाथ एवं वामनाचार्य झलकीकर ने ऐन्द्रजालिक के विषय में वर्णित 'विस्मय' को अद्भुत रसाभास के अन्तर्गत माना है।[२५५] ऐन्द्रजालिक (बाजीगर) का प्रदर्शन मिथ्या होता है, वह अपने कौशल से ही मिट्टी आदि पदार्थ से झूठ-मूठ की मिठाई आदि बनाता है। इस तथ्य से सभी परिचित हैं। अतः कोई व्यक्ति उस के तमाशे को देखकर अत्यधिक आश्चर्यान्वित होता है तो वहाँ अद्भुत रसाभास होगा। परन्तु यदि कोई पाठक अथवा प्रेक्षक बाजीगर के तमाशे के रहस्य से अपरिचित हो तो उसे उसके प्रदर्शन में भी विस्मय का ही रसात्मक अनुभव होगा।

९. शान्तरसाभास :

शम या निर्वेद की उत्पत्ति उत्तम प्रकृति में मानी गई है।[२५६] अतः आचार्य विश्वनाथ ने हीननिष्ठ[२५७] एवं जगन्नाथ और काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य ने ब्रह्मविद्या के अनाधिकारी चाण्डालादि[२५८] गत निर्वेद को रसाभास

---

२५५. (क) ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन विस्मयः। – रसगंगाधर, १ म आनन, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६
(ख) ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनतयाद्भुतस्य। – का० प्र०, वामनी टीका, पृ० १२१

२५६. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः। - सा० द०, ३/२४५

२५७. "शान्ते च हीननिष्ठे......" – वही, ३/२६५

२५८. (क) ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन न निर्वेदः। – रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण, पृ० ३५६
(ख) चाण्डालादिगतत्वेन शान्तस्य चाभासत्वं बोध्यम्। – का० प्र० (वामनी टीका युक्त), पृ० १२१

स्वीकार किया है। निर्वेद या तत्त्वज्ञान का विषय ज्ञानवान् पुरुष में ही दिखाया जा सकता है। प्राचीन काल में विप्र ही शास्त्राध्ययन का अधिकारी माना जाता था। शूद्र या चाण्डाल आदि वेद या शास्त्र अध्ययन के अधिकार से वञ्चित थे। ब्रह्मविद्याभ्यास के अभाव में शम या निर्वेद की जागृति नहीं हो सकती। अतः एव हीनपात्र आदि में वर्णित शम को रसाभास माना गया है। यहाँ हीनपात्र से नितान्त मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति का अर्थ ग्रहण करना अपेक्षित है। प्राचीनकाल में शूद्र अज्ञानी पुरुष का प्रतीक था, परन्तु आज जब कि शूद्र जाति के लोगों को भी ज्ञान-प्राप्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त है, शम की स्थिति जन्मना शूद्र जाति के व्यक्ति में दिखाने पर भी रसाभास की अनुभूति अनिवार्य नहीं है। कुछ परम्परावादी व्यक्तियों को छोड़ कर ऐसे कितने सहृदय हो सकते हैं, जिन्हें वाल्मीकि के रामायण में तप करते हुए शूद्रक को देखकर अनौचित्य की अनुभूति होती हो –

शूद्रयोन्यां प्रसूतोऽस्मि शम्बूको नाम नामतः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः॥
न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीर्षया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ तप उग्रं समास्थितम्॥[२५९]

– रामराज्य के समय (त्रेतायुग) में शूद्र के तपश्चरण को भले ही महान् अनर्थ माना जाता रहा हो, पर आज का पाठक तपस्या में लगे शूद्र का शिर काटने वाले[२६०] राम के कर्म में हर्ष का अनुभव नहीं कर सकता। राम के प्रति पाठक का श्रद्धाभाव न हुआ तो वह उनके इस कर्म पर क्षुब्ध भी हो सकता है। इसी प्रकार 'निर्वेद' का वर्णन जहाँ मोक्ष के निमित्त न होकर किसी तुच्छ सांसारिक फल-प्राप्ति के लिए हो वहाँ भी शान्तरसाभास मानना चाहिए। इसी बात को अभिनवगुप्त ने इस प्रकार व्यक्त किया है **"अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव"**[२६१] अर्थात् निर्वेद रूप शान्तरस का स्थायिभाव जहाँ मोक्ष का हेतु न होने पर भी (तदाभास) मोक्ष हेतु-सा प्रतीत होता है, वहाँ शान्ताभास होता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार शान्त रसाभास की मान्यता वहाँ अधिक युक्तिसंगत है जहाँ पर शृङ्गारिक उपकरणों के माध्यम से ज्ञान-वैराग्य आदि का प्रतिपादन रहता है।[२६२]

---

२५९. वाल्मीकीयरामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७६, पद्य २-३

२६०. भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ – वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७६, पद्य ४

२६१. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५२०

२६२. रससिद्धान्त, पृ० ३१३

१०. वत्सल रसाभास :

वत्सल रस का स्थायिभाव वात्सल्य या स्नेह है। पुत्रादि सन्तान इस का आलम्बन है और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि इसके अनुभाव होते हैं। अनिष्ट की आशङ्का, हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं।[२६३] इस रस-सामग्री का उपयुक्त वर्णन सहृदय के चित्त में वत्सल रस को जागृत करने में सक्षम सिद्ध होता है परन्तु इस रस-सामग्री में किसी प्रकार का अनौचित्य आ जाने पर रसाभास की सम्भावना रहती है।

उदाहरणतया –

१. सौतेली माँ (विमाता) का अन्य जनों के सम्मुख बच्चे के प्रति झूठा वात्सल्य जताना,
२. आततायी पुत्र आदि के प्रति माता-पिता का अत्यधिक स्नेह करना तथा उसकी बुरी आदतों को अनदेखा कर देना,
३. युवा अथवा प्रौढ सन्तान के प्रति माता-पिता का अत्यधिक वात्सल्य प्रदर्शित करना-उसका आलिङ्गन, चुम्बन आदि करना,
४. माँ का अपने युवा पुत्र का आलिङ्गन, चुम्बन आदि करना तथा
५. पिता का अपनी युवती पुत्री को चूमना, आलिङ्गन आदि करना कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिन में सहृदयों को वत्सल रस की विशुद्ध अनुभूति न होकर उसके स्थान में वत्सलाभास का अनुभव हो सकता है।

इनमें से प्रथम स्थिति में रसाभास का कारण आश्रयगत अनौचित्य है, क्योंकि सौतेली सन्तान के प्रति कृत्रिम स्नेह-प्रदर्शन आश्रय के कपट को प्रकट करता है। द्वितीय अवस्था में वात्सल्य का आलम्बन अनुचित है – आततायी, दुश्शील सन्तान के प्रति प्रदर्शित स्नेह में सहृदय को वात्सल्य का अनुभव नहीं हो सकता। तृतीय अवस्था भी अनुपयुक्त आलम्बन के कारण रसाभास का विषय बनती है, क्योंकि वात्सल्य का उपयुक्त आलम्बन शिशु सन्तान है, न कि युवा अथवा प्रौढ़ सन्तान। अन्तिम दो प्रसंगों में रसाभास का कारण मनोवैज्ञानिक है। कुछ मनोवेत्ताओं के अनुसार पिता का पुत्री के प्रति और माता का पुत्र के प्रति स्नेह अधिक होता है और इसका कारण विषम लिंग के प्रति आकर्षण का भाव है। उनका यह भी मत है कि माता-पिता के उक्त व्यवहार के पीछे चेतना या उपचेतना में छिपी कामवासना ही कारण होती है।

---

२६३. सा० द०, ३/२५१-५३

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि पिता अथवा माता का सुशील शिशु सन्तान के प्रति प्रकट होने वाला वात्सल्य अथवा ममता वत्सल रस का उपयुक्त विषय है। अन्यथा, रस के विरुद्ध वर्णन में रसाभास अथवा रसविघ्न की संभावना रहती है।

११. भक्ति रसाभास :

अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति कहलाती है, अतएव वही इसका स्थायी है, स्वयं प्रभु इसके आलम्बन हैं और तुलसी तथा चन्दन आदि पूजा-सामग्री उद्दीपन विभाव है, हर्ष के आँसू तथा नेत्र-विकार आदि अनुभाव हैं।[२६४] सब कुछ प्रभुमय है। स्वयं रस के रूप में सिद्ध होने वाले परमानन्दरूप प्रभु ही हैं, उन्हीं का प्रतिबिम्ब भक्त के अन्तःकरण पर पड़ता है, अतः भगवदाकारता नामक स्थायी भी प्रभुरूप ही है और आलम्बन तो प्रभु हैं ही।[२६५] एक सच्चे प्रभु-भक्त के लिए भगवद्भक्ति के अतिरिक्त सब कुछ नगण्य है, इसीलिए भक्ताचार्य रूपगोस्वामी ने जहाँ साक्षात् प्रभु (श्रीकृष्ण) विभावादि न हों, वहाँ रसाभास (अनुरस) स्वीकार किया है।[२६६] मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहता, जबकि 'भक्ति' रस नितान्त रूप से सुखमय है। यही कारण है कि पूर्णानन्द इस रस के सम्मुखशृङ्गारादि इतर रस क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इतर रसों का इससे वही अन्तर है, जो कि खद्योत का सूर्य से है।[२६७]

रूपगोस्वामी ने भक्ति के सभी (बारहों)[२६८] भेदों में रसाभास होने का कारण विस्तार से दिखाया है। रसाभास के तीन भेद स्वीकार किए हैं –

(क) उपरस, (ख) अनुरस तथा (ग) अपरस।

---

२६४. भगवद्भक्तिरसायन, पृ० ४

२६५. वही, पृ० १८

२६६. भक्तादिभि र्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः।। – भ० र० सि०, ९/२०

२६७. कान्तादिविषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्।।
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।। – भगवद्भक्तिरसायन, २/७७-७८

२६८. अ. **मुख्य भक्तिरस** - १. शान्त, २. प्रीत, ३. प्रेयान्, ४. वत्सल, ५. मधुर।
आ. **गौण भक्तिरस** – १. हास्य, २. अद्भुत, ३. वीर, ४. करुण, ५. रौद्र, ६ भयानक, ७. बीभत्स।
– भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, ५/९५-९८

(क) उपरस :

विरूपता को प्राप्त स्थायिभाव, विभाव एवं अनुभाव आदि से युक्त बारहों शान्त आदि रस ही उपरस माने गए हैं।[२६९]

१. शान्त उपरस :

परब्रह्म में सामान्य दृष्टि से एवं अद्वैतभाव की अधिकता के योग से तथा बीभत्साधिक्य आदि से शान्त उपरस होता है –

> **ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्य योगतः।**
> **तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत्॥**[२७०]

रूपगोस्वामी ने परब्रह्म में सामान्य दृष्टि के कारण होने वाले शान्त उपरस को निम्नोक्त उदाहरण द्वारा दिखाया है –

> **विज्ञानसुषमाधौते समाधौ यदुदञ्चति।**
> **सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि॥**[२७१]

– विज्ञान की अपूर्व शोभा से स्वच्छ समाधि में जो (सुख) उपलब्ध होता है वह ही सुख पुराण पुरुष तुम्हारे देखने पर आज उपलब्ध हो रहा है। यहाँ शान्त रस है तथा पुराण पुरुष (श्रीकृष्ण) आलम्बन विभाव हैं, सुख प्राप्ति अनुभाव है।

रूप गोस्वामी के विचार में समाधि में ब्रह्म के अनुभव से जो आनन्द होता है वह परब्रह्म (श्रीकृष्ण) के दर्शनजन्य आनन्द से न्यून ही है! किन्तु यहाँ उसको (ब्रह्मानन्द को) इस आनन्द के समान ही प्रतिपादित किया है, अतः विरूपता है। विरूप विभावादि से युक्त होने के कारण रूपगोस्वामी के अनुसार यहाँ शान्त उपरस है।

२. प्रीत उपरस :

रूपगोस्वामी के अनुसार कृष्ण के समक्ष अत्यन्त धृष्टता से, उनके भक्तों के प्रति अवहेलना करने से, अपने अभीष्ट देव से अन्य में परम उत्कर्ष के देखने से एवं मर्यादा का उल्लंघन आदि होने से प्रीत उपरस होता है –

> **कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्ट्र्येन तद्भक्तेष्ववहेलया।**
> **स्वाभीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया॥**
> **मर्यादातिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता।**[२७२]

---

२६९. भक्तिरसामृतसिन्धु, उत्तर - विभाग, ९/३
२७०. वही, ९/३
२७१. वही, ९/४
२७२. वही, ९/५-६

उपर्युक्त चारों बातें भक्त की भावना के प्रतिकूल हैं, अतः रसाभास स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ –

प्रथयन् वपुर्विवशतां सतां कुलैरवधीर्य्यमाणनटनोऽप्यनर्गलः।
विकिर प्रभो ! दृशमिहेत्यकुण्ठवाक् चटुलो वटुर्व्यवृणुतात्मनो रतिम्।।[२७३]

– शरीर की विवशता को बढ़ाते हुए (अर्थात् थोड़ी भी विवशता को अधिक की तरह दिखलाते हुए) तथा सज्जनों के कुलों द्वारा तिरस्कृत नृत्य होने पर भी अनर्गल (उच्छृङ्खल) और "हे प्रभो यहाँ (मेरे ऊपर) दृष्टि दीजिये" – इस प्रकार निरन्तर कहने वाले चंचल वटु ने अपनी रति को दिखलाया। यह श्रीकृष्ण की प्रतिमा के सम्मुखस्थ किसी भक्त का वर्णन है। यहाँ विवशता की अधिकता दिखलाने एवं बारम्बार कथन आदि में धृष्टता प्रतीत होती है एवं सज्जनों के निषेध करने पर भी नृत्य आदि करने से भगवद् भक्तों में तिरस्कार - सा भी प्रतीत होता है। अतः प्रीत उपरस है।

३. प्रेय उपरस :

रूपगोस्वामी के अनुसार एक में ही (एकनिष्ठ) सख्यभाव होने से, हरि के मित्र आदि की अवज्ञा से तथा युद्ध की अधिकता आदि से प्रेय उपरस होता है –

एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया।
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत्।।[२७४]

एक में ही सख्यभाव का उदाहरण, जैसे –

सुहृदित्युदितो भिया चकम्पे
छलितो नर्मगिरा स्तुतिं चकार।
स नृपः परिरिप्सितो भुजाभ्यां
हरिणा दण्डवदग्रतः पपात।।[२७५]

– (श्रीकृष्ण के द्वारा) 'मित्र' इस प्रकार कहा गया वह राजा डर से कांपने लगा तथा नर्मवाणी से (हँसी–दिल्लगी) कथन करने पर स्तुति करने लगा एवं

---

२७३. भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१०१७
२७४. वही, ९/६
२७५. वही, ९/१०१८

श्रीकृष्ण के द्वारा दोनों हाथों से आलिंगन करने पर दण्ड के समान उनके आगे गिर पड़ा।

यह श्रीकृष्ण के सम्बन्धी (पुत्र अथवा पुत्री के श्वसुर) किसी राजा का वर्णन है। श्रीकृष्ण उसमें सख्यभाव के कारण उसे मित्र कह रहे हैं, उससे हँसी कर रहे हैं एवं उसका आलिंगन कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण में सख्यभाव प्रतीत होता है। किन्तु वह राजा श्रीकृष्ण से स्वयं को निम्नकोटि का एवं श्रीकृष्ण को अपने से उच्चकोटि का मानता है। अतः उनके 'मित्र' कहने पर कांपने लगता है, हँसी करने पर स्तुति करने लगता है एवं आलिंगन करने पर पृथ्वी पर प्रणत हो जाता है। इस प्रकार राजा में सख्यभाव का अभाव है। अतएव यह एकनिष्ठ सख्यभाव के कारण प्रेय उपरस का उदाहरण है।

४. वत्सल उपरस :

रूपगोस्वामी के अनुसार बालक आदि के सामर्थ्य की अधिकता के ज्ञान हो जाने से, लालन आदि में प्रयत्न का परित्याग कर देने से एवं करुण रस की वृद्धि होने से वत्सल उपरस होता है –

सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः।
करुणस्यातिरेकादेस्तुर्य्यश्चोपरसो भवेत्॥[२७६]

उदाहरणार्थ–

मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना-
मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम्।
नोद्वेगं तदवधि यामि जामि ! तस्मिन्
द्राधिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने॥[२७७]

– हे बहिन ! जबसे मैंने तेरे पुत्र से पर्वतों के समान बड़े-बड़े मल्लों का (चणूर इत्यादि पहलवानों का) विनाश देखा है, तब से बड़ी भी समिति (युद्ध या सभा) में उसके (तेरे पुत्र के) जाने पर मैं उद्विग्न नहीं होती हूँ।

यह कृष्ण की माता देवकी के प्रति किसी की उक्ति है। यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा बड़े-बड़े मल्लों के विनाश कर देने से वक्ता को श्रीकृष्ण के अतुल पराक्रम का ज्ञान हो चुका है। अतएव उसको कहीं भी युद्धादि में उनके जाने पर किसी प्रकार

---

२७६. भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/७

२७७. वही, ९/१०१९

का उद्वेग नहीं होता है। अतः यह वत्सल उपरस का उदाहरण है।

वस्तुतः मनुष्य को जब तक अपने बालक आदि में अधिक समर्थता का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही वह उसमें अधिक वत्सलता का भाव रखता है, किन्तु जब उसे बालक की अधिक शक्ति का ज्ञान हो जाता है, तब वह उसकी ओर से निश्चिन्त-सा हो जाता है एवं वात्सल्यभाव भी कम हो जाता है।

५. मधुर उपरस (शृङ्गार रसाभास) :

मधुर उपरस के सम्बन्ध में रूपगोस्वामी ने विस्तार से विचार प्रस्तुत किया है,[२७८] इसका उल्लेख इसी शोध-प्रबन्ध के पांचवे अध्याय में शृङ्गाररसाभास के प्रकरण में यथास्थान किया जा चुका है।

ख. अनुरस :

रूपगोस्वामी के अनुसार जहाँ हास्य इत्यादि सातों गौण रसों के एवं शान्त रस के विभावादि भक्त इत्यादि हों तथा विभावादियों का श्रीकृष्ण से सम्बंध न हो अर्थात् जहाँ साक्षात् श्रीकृष्ण विभावादि न हों, किन्तु भक्त आदि ही विभावादि हों तो वहाँ ये रस अनुरस कहे जाते हैं।[२७९] इन्होंने हास्य अनुरस का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

ताण्डवं व्यधित हन्त कक्खटी
मर्कटी भ्रुकुटिभिस्तथोद्धुरम्।
येन बल्लबकदम्बकं बभौ
हासडम्बरकरम्बिताननम्।।[२८०]

– कक्खटी नामक वानरी ने भ्रुकुटियों से ऐसे जोर से ताण्डव किया जिससे कि गोपिका समुदाय हास से युक्त मुख वाला होकर सुशोभित हुआ। यहाँ हास्य के विभावादि श्रीकृष्ण से रहित हैं। अतः रूपगोस्वामी ने यहाँ हास्य अनुरस माना है। इसी प्रकार इन्होंने निम्नोक्त स्थल में अद्भुत अनुरस स्वीकार किया है –

भाण्डीरकक्षे बहुधा वितण्डां-
वेदान्ततन्त्रे शुकमण्डलस्य।

---

२७८. भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/८-१९

२७९. भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः।। – वही, ९/२०

२८०. वही, ९/१०२९

आकर्णयन्निर्निर्मिषाक्षिपक्ष्मा
रोमांचिताङ्गश्च सुरर्षिरासीत्।।[२८१]

– भाण्डीर वन में (लता आदियों पर बैठे हुए) तोतों के समुदाय की वेदान्त शास्त्र में अनेक प्रकार की वितण्डा को सुनते हुए देवर्षि (नारद जी) निर्निमेष लोचन एवं रोमांचयुक्त शरीर वाले हो गये। यहाँ अद्‌भुत के विभाव शुकसमूह एवं नारद जी हैं, अतः रूपगोस्वामी के अनुसार अद्‌भुत अनुरस है। वेदान्त जैसे गहन सिद्धान्त में शुकसमूह का वितण्डावाद में प्रवीण होना आश्चर्यजनक है, क्योंकि लोकातीत वस्तु ही आश्चर्यजनक होती है, अतः यहाँ साधारण सहृदयों को अद्‌भुत रस का ही अनुभव होता है। अद्‌भुताभास का नहीं। परन्तु प्रभुभक्त सहृदय को यहाँ अद्‌भुत रसाभास की अनुभूति इसलिए होती है कि यहाँ अद्‌भुत के विभाव के रूप में उसके अभीष्ट देव (श्रीकृष्ण) का वर्णन नहीं है - उनके प्रति श्रद्धा आदि का कथन नहीं है।

इसी प्रकार उनके अनुसार श्रीकृष्णादि विभाव इत्यादि के द्वारा भी यदि ये आठों रस तटस्थों में प्रकट होते हैं तो अनुरस ही माने जाते हैं।[२८२]

ग. अपरस :

रूपगोस्वामी के विचार में जहाँ हासादि रसों के विषय (आलम्बन विभाव) श्रीकृष्ण और उनके विरोधी (शत्रु) उन रसों के आश्रय हों, वहाँ अपरस होता है अर्थात् जहाँ श्रीकृष्ण को देखकर उनके शत्रुओं द्वारा किए गए हास आदि का वर्णन होता है, वहां वे हासादि अपरस माने जाते हैं[२८३] इन्होंने निम्नोक्त वर्णन को हास्य अपरस कहा है –

पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम्।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सोल्लुण्ठमहसीन्मुहुः।।[२८४]

– चंचल एवं विशाल नेत्रों वाले श्रीकृष्ण को (युद्ध में से) दूर से भागता हुआ देखकर जरासन्ध बार-बार जोर-जोर से हँसा।

---

२८१. भक्तिरसामृतसिन्धु, ९/१०३०

२८२. अष्टावमी तटस्थेषु प्राकाट्यं यदि बिभ्रति।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यै स्तदाप्यनुरसा मताः।। – वही, ९/२१

२८३. कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः।
हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः।। – वही, ९/२२

२८४. वही, ९/१०३१

अपने अभीष्ट देवता के प्रति उनका (अभीष्ट देव का) शत्रु उपहास, क्रोध आदि प्रकट करे, यह भक्त के लिए असह्य है। ऐसे स्थलों में उसके चित्त में आश्रय के प्रति भारी आक्रोश पैदा हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह जात अवधारणीय है कि भक्ति एक विशिष्ट रस है और कुछ विशिष्ट सहृदय ही उसका आस्वाद करने में समर्थ होते हैं। जहाँ एक भक्त अपने इष्ट देव के प्रति श्रद्धा एवं उत्कट विश्वास के कारण उसकी भक्ति में आत्मविभोर हो जाता है, वहीं एक नास्तिक व्यक्ति को भक्तिकाव्य से आनन्दानुभूति नहीं हो सकेगी।

भक्ति रसाभास के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय देते समय भक्त की भावनाओं पर ध्यान देना परमावश्यक है। कोई काव्य 'शुद्ध भक्तिरस का है अथवा भक्ति रसाभास का' इस बात का अन्तिम निर्णय भक्त सहृदय ही दे सकता है।

इस प्रकार–सदाचार, लोकाचार तथा स्वभावगत धर्मों के विरुद्ध आचरण का वर्णन होने पर रसाभास स्वीकार किया गया है। संस्कृत आचार्यों में विश्वनाथ, जगन्नाथ एवं वामनाचार्य झलकीकर का रसाभास का विवेचन यह सिद्ध करता है कि सामयिक मान्यताओं की अवहेलना करने वाला काव्य समाज के लिए घातक है और सहृदय को अग्राह्य। अन्य आचार्यों ने भी सहृदय की रसानुभूति के मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाली स्थितियों को ही अनुचित मानकर रसाभास–भावाभास के अन्तर्गत माना है।

षष्ठ-अध्याय

भावाभास का लक्षण एवं उदाहरण

भावाभासस्तु भावानामनौचित्यप्रवर्त्तने[1]

अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाले भाव ही भावाभास कहलाते हैं। जहाँ भाव के वर्णन में शास्त्र-लोकातिक्रमण अथवा किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक त्रुटि के कारण सहृदय भावक को अनौचित्य की प्रतीति हो वहाँ भावाभास होता है। आस्वादनीय होने के कारण भावाभास को भी 'रस' कहा जाता है।[2] अत: भावाभास भी रसादिध्वनि अथवा उत्तमकाव्य का ही एक प्रकार स्वीकृत किया गया है।[3] भावाभास के कतिपय लक्षण इस प्रकार हैं –

१. अभिनवगुप्त –
'औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो व्यभिचारिण्या भाव:, अनौचित्येन तदाभास:।'[4]

२. मम्मट – 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिता:।'[5]

३. रुय्यक – 'आभासत्वमविषयप्रवृत्यानौचित्यम्।'[6]

---

१. काव्यदर्पण, पृ० २१० (श्री वाणी विलास प्रेस, राजस्थान)।
२. 'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि: शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसा:।। – सा० द०, ३/२५९
३. (क) ध्व० आ०, २/३
(ख) का० प्र०, ४/२६
४. ध्व० आ० लो०, १ म उद्योत, पृ० ७९-८० (चौ० वि०, वाराणसी, सन्-१९७९)
५. का० प्र०, ४/३६
६. अ० स०, सू० ८३, वृत्तिभाग।

४. हेमचन्द्र –

(क) 'निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपात् रसभावाभासौ।'[७]

(ख) 'अनौचित्याच्च'[८]

(ग) 'अन्योन्यानुरागाद्यभावेन अनौचित्यात् रसभावाभासौ।'[९]

५. जयदेव –

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादि स्वरूपया।
अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्त्तिताः।।[१०]

६. विश्वनाथ –

अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभास रसभावयोः।[११]

७. शिङ्गभूपाल –

आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्तितानाम्।
असत्यत्वादयोग्यत्वादनौचित्यं द्विधा भवेत्।।[१२]

८. अप्पय दीक्षित –

अनौचित्येन प्रवृत्तो रसो भावश्च रसाभासो भावाभासाश्चेति-उच्यते।'[१३]

९. जगन्नाथ –

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः[१४]

१०. अच्युताचार्य –

असंमतालम्बित्वादयोग्यविषयत्वतः।
रसाभासास्तथा भावाभासाश्च स्युरनुक्रमात्।।[१५]

---

७. का० अनु०, २/५४, पृ० १२० (निर्णय सागर प्रेस, १९३४ ई०)।

८. वही, २/५५ सू० के अन्तर्गत।

९. वही, २/५५ वृत्तिभाग।

१०. चन्द्रालोक, ६/१९

११. सा० द०, ३/२६२

१२. रसार्णव सुधाकर, २/९८

१३. कुवलयानन्द, १७१

१४. रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ० ३५७ (काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वि० सं०, २०२०)।

१५. साहित्यार, ४/१७६

– उपर्युक्त सभी लक्षणों में भावों की अनुचित प्रवृत्ति को भावाभास कहा गया है। जयदेव द्वारा प्रस्तुत भावाभास के लक्षण एवं हेमचन्द्र और शिङ्गभूपाल के विवेचन में विशिष्टता लक्षित होती है। इसका विवेचन भावाभास के उदाहरणों के प्रसङ्ग में किया जाएगा।

भावाभास के वर्ण्यविषय :

संस्कृत काव्यशास्त्र में **भाव** के तीन भेद स्वीकृत किए गए हैं –

१. देवादि विषयक रति,

२. प्रधान रूप से व्यञ्जित सञ्चारी,

३. अपरिपुष्ट स्थायी।[१६]

१. देवादि शब्द से देवता, मुनि, गुरु, राजा, पुत्र आदि का ग्रहण किया गया है। इनमें से देव विषयक रति एवं पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) को परवर्ती आचार्य रूपगोस्वामी, विश्वनाथ आदि द्वारा क्रमशः भक्ति एवं वत्सल रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।[१७]

२. **सञ्चारी भाव** निम्नोक्त ३३ प्रकार के माने गए हैं –

१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शङ्का, ४. असूया, ५. मद, ६. श्रम, ७. आलस्य, ८. दैन्य, ९. चिन्ता, १०, मोह, ११. स्मृति, १२. धृति, १३. व्रीड़ा, १४. चपलता, १५. हर्ष, १६. आवेग, १७. जड़ता, १८. गर्व, १९. विषाद, २०. औत्सुक्य, २१. निद्रा, २२. अपस्मार, २३. सोना, २४. जागना, २५. क्रोध, २६. अवहित्था, २७. उग्रता, २८. मति, २९. व्याधि, ३०. उन्माद, ३१. मरण, ३२. त्रास और ३३. वितर्क।[१८]

३. **स्थायिभावों** में – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम की गणना की गई है।[१९]

इनके अतिरिक्त वत्सलता[२०] एवं भगवद् रति[२१] को भी स्थायिभाव माना गया है।

---

१६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत पुस्तक, अ० १, 'भाव प्रकरण'।

१७. वही, अ० १, 'भाव प्रकरण'।

१८. (क) का० प्र०, ४/३१-३४, पृ० १३६
(ख) सा० द०, ३/१४१

१९. सा० द०, ३/१७५

२०. वही, ३/२५१

२१. विभावैरनुभावैश्च सात्विकै र्व्यभिचारिभिः।

इस प्रकार भावाभास के वर्ण्य विषय हैं –

१. अनौचित्येन प्रवर्त्तित मुनि, गुरु, राजा, मित्र आदि विषयक रति;

२. प्रधान रूप से व्यञ्जित होने वाले ३३ व्यभिचारिभाव एवं

३. अपरिपुष्ट रति आदि स्थायिभावों की अनुचित प्रवृत्ति।

उपर्युक्त में से आचार्यों ने प्रथम एवं द्वितीय का ही विवेचन किया है।

भावाभास के भेद एवं उदाहरण :

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अधोलिखित प्रसङ्गों में भाव का अनौचित्य स्वीकार कर सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है –

(क) देवादि विषयक रति में अनौचित्य होने पर –

१. अनेक देवताओं के प्रति रति प्रकट होने पर,

२. शत्रु द्वारा राज-स्तुति होने पर।

(ख) प्रधान रूप से अभिव्यक्त व्यभिचारिभावों में अनौचित्य होने पर –

१. गुरु, मुनि आदि की कन्या अथवा पत्नी आदि के प्रति स्मृति आदि भाव-प्रदर्शन होने पर,

२. परपत्नीगत-भाववर्णन होने पर,

३. अननुरक्ता के प्रति भाव प्रकट करने पर,

४. स्वभाव के प्रतिकूल भाव-वर्णन होने पर,

५. अधमपात्र में भाव का वर्णन होने पर,

६. पशुपक्षिगत भाव-वर्णन होने पर,

७. निरिन्द्रियगत भाव-वर्णन होने पर

क्रमशः सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत है:–

(क) देवादि विषयक रति में अनौचित्य :

१. अनेक देवताओं के प्रति रति (श्रद्धा) प्रदर्शन :

एक नायिका का अनेक नायकों के प्रति अनुराग वर्णन मेंशृङ्गाराभास माना गया है।[२२] इसी आधार पर चन्द्रालोक के कर्त्ता जयदेव ने एक भक्त की अनेक

स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीताः श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिस्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्।। – भ० र० सि०, दक्षिण-विभाग, विभावलहरी, ५-६

२२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत कृति, अ० ५, 'बहुनिष्ठरति प्रकरण।'

देवताओं के प्रति रति (श्रद्धा) प्रकट होने पर भावाभास स्वीकार किया है।[२३] इसका कारण यह है कि जिस प्रकार प्रेम की पवित्रता एवं दृढ़ता के लिए उसका एक निष्ठ होना आवश्यक माना जाता है, उसी प्रकार भगवान् के प्रति भक्त की दृढ़ श्रद्धा तभी प्रकट होती है जब वह किसी एक देवता को अपना शरण्य मानकर उसके प्रति पूर्णतः समर्पित हो। जयदेव ने भावाभास का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। चन्द्रालोक के टीकाकार गागाभट्ट ने अनेक देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन का यह उदाहरण दिया है :

अन्यैः समोऽसि वरदो देवैरपि जगत्पते।
तथापि त्वामहं वन्दे कालकूटस्य धारणात्॥[२४]

– हे जगदीश्वर महादेव ! आप अन्य देवताओं के समान ही वर देने वाले हैं। फिर भी कालकूट (विष) को धारण करने के कारण, मैं आपकी वन्दना करता हूँ।

यहाँ कोई भक्त शिवजी को अन्य देवताओं के समान वरद कह रहा है। अतः इससे उसकी अनेक देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है। अतः भावाभास है। स्मरणीय है कि भक्ति को स्वतन्त्र रस मानने वाले आचार्यों की दृष्टि में यह उदाहरण भक्तिरसाभास का होगा। इसी प्रकार अनेक गुरु आदि विषयक श्रद्धा प्रदर्शन में भी भावाभास समझना चाहिए।[२५]

२. शत्रु द्वारा राज-स्तुति :

आचार्य मम्मट ने शत्रु द्वारा की गई राज-स्तुति को भावाभास माना है। किसी शत्रु को स्तुति करते हुए देखकर श्रोता को उसके द्वारा पूर्व किए वैर का स्मरण होने लगता है। और उसकी स्तुति में उसे स्तुतिकर्ता का स्वार्थ, कपट एवं विवशता का अनुभव होने लगता है। फलतः वह उसकी स्तुति में पूर्ण भावमग्न नहीं हो पाता।

---

२३. (क) सर्वसाधारण प्रेमप्रश्रयादि स्वरूपया।
अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्त्तिताः॥ – च० आ०, ६/१९
(ख) ...... एवमेकस्यानेकदेवतादिविषयकरत्यादिवर्णनया रतिकथने भावाभास-इत्यर्थः।' – वही, ६/१९ 'राकागम' संस्कृत टीका।

२४. वही, ६/१९

२५. एवं गुर्वादिविषयाण्यूह्यानि - च० आ०, ६/१९ पर 'राकागम' संस्कृत टीका।

उदाहरणार्थ–

अस्माकं सुकृतै र्दृशो र्निपतितोऽस्यौचित्यवारान्निधे।
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे॥[२६]

– (कवि कहता है – हे राजन्) तुम्हारे शत्रु इस प्रकार तुम्हारी स्तुति करते हैं कि 'हे औचित्य के वारिधि (उचित कार्य करने वाले राजन्)! हमारे पुण्यों से हमें आपके दर्शन हुए हैं। इसलिए (अब आपके दर्शन से) हमारी सारी विपत्तियां मिट गई हैं।'

इस श्लोकार्द्ध में शत्रु लोगों को किसी राजा की स्तुति करते हुए बताया गया है। किसी शत्रु के द्वारा की जाने वाली स्तुति को अनुचित होने के कारण 'भावाभास' कहा गया है।

इसी प्रकार कपटपूर्ण की गई किसी भी प्रकार की स्तुति अथवा प्रशंसा में 'भावाभास' स्वीकार करना चाहिए।

(ख) अनुचित रूप से प्रवृत्त व्यभिचारिभावों के उदाहरण :

१. गुरु, मुनि आदि की कन्या अथवा पत्नी के प्रति भाव प्रदर्शन

पण्डितराज जगन्नाथ एवं अच्युतराय ने क्रमशः गुरु कन्या एवं मुनि पत्नी के प्रति भाव प्रदर्शन को अनुचित मानते हुए भावाभास स्वीकार किया है। गुरु, मुनि आदि हमारी श्रद्धा अथवा पूजा के पात्र हैं। उनके प्रति हमारे हृदय में सम्मान का भाव रहता है। श्रद्धा और काम दो परस्पर विरोधी भाव हैं। अतः श्रद्धा के पात्र एवं उनके सम्बन्धियों के प्रति कामना आदि के वर्णन में हमें अनौचित्य की अनुभूति होती है। शास्त्रों में भी पूज्य व्यक्तियों की स्त्रियों के साथ सम्भोग का नितान्त निषेध किया गया है।[२७]

i. गुरुकन्या के प्रति भाव-वर्णन :

जगन्नाथ ने निम्नोक्त पद्य को भावाभास के रूप में उद्धृत किया है –

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रमयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव

२६. का० प्र०, ५/११९

२७. रुद्रट के अनुसार अगम्य स्त्रियों की सूची इस प्रकार है – धर्म, अर्थ और

सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव॥[२८]

– संसार के सभी विषय विस्मृति के मार्ग में चले गए - भूल-से गए। खेद अर्थात् मात्सर्य से प्राप्त हुई विद्या भी विमुख हो गई। वही एक बाल-मृग के समान (चञ्चल) नयनों वाली नायिका अधिष्ठात्री देवी के समान मेरे हृदय से दूर नहीं जाती। गुरु कुल में विद्याभ्यास करते समय गुरुकन्या के लावण्य से मोहित मन वाले किसी पुरुष की अथवा जिसके साथ समागम करना अत्यन्त निषिद्ध समझा जाता है, ऐसी किसी कामिनी का स्मरण करते हुए किसी अन्य व्यक्ति की, उस समय में यह उक्ति है, जब वह देशान्तर में चला गया।[२९]

यहाँ स्मृति भाव अनुचित अर्थात् गुरुकन्या विषयक अथवा अगम्यानायिकाविषयक होने से भावाभास है। और यह स्मृति अनुभयनिष्ठ भी है – केवल नायक ही स्मरण करता है, नायिका नहीं। अतः एकपक्षीय भी है, इसलिए भी भावाभास है।[३०]

यदि यही पद्यरूपा उक्ति नायिका के पति की ही है तब भावाभास न होकर भावध्वनि ही है।[३१]

ii. गुरुपत्नी के प्रति भाव वर्णन :

अच्युतराज ने भावाभास का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है –

रोहिण्यादिषु सर्वासु सतीषु रमणीष्वपि।
चन्द्रस्तारात्वमारोप्य रमन्पुष्टोऽन्यथा क्षयी॥[३२]

काम के जानकारों के सम्बन्धी, मित्र, ब्राह्मण, राजा, तीखे और उत्तम वर्ण के लोगों की स्त्रियों, विकलाङ्गियों, सन्यासिनियों और गुप्त मन्त्रणा को इधर-उधर करने वाली स्त्रियों के साथ सहवास नहीं करना चाहिए –
"सम्बन्धिमित्रद्विजराजतीक्ष्णवर्णाधिकानां प्रमदा न गम्याः।
व्यङ्गास्तथा प्रव्रजिता विभिन्नमन्त्राश्च धर्मार्थमनोभवज्ञैः॥ –शृङ्गारतिलक, १/१६५

२८. रसगङ्गाधर, १ आनन, भावप्रकरण, पृ० ३५७ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि० सं० २०२०)।

२९. गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्यान्यस्य वा कस्यचिदतिप्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः॥ – वही, पृ० ३५७

३०. एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः – वही, पृ० ३५८

३१. यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः तदा भावध्वनिरेव। – रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।

३२. साहित्यसार, ४/१७८

यहाँ नायक चन्द्रमा का अपनी पत्नी के अतिरिक्त जो अन्य स्त्रियों का स्मरण प्रकट हो रहा है वह अनुचित है। इसके अतिरिक्त यहाँ वृहस्पति (देवगुरु) की पत्नी तारा[३३] का स्मरण भी व्यक्त हो रहा है। यह स्मृति अनुचित विषय (गुरुपत्नी रूप आलम्बन) में होने से भावाभास है।[३४]

इसी प्रकार योगिनी, तपस्विनी, नृपपत्नी, पुत्रवधू एवं भ्रातृपत्नी आदि विषयक भाव वर्णन में भी भावाभास समझना चाहिए। जैसे –

कौरवः कलयन्नेव कृष्णानयनखञ्जनौ।
निधनं गामितो येन कृष्णः पुष्णातु मामसौ॥[३५]

इसमें दुर्योधन को मातृ तुल्य पाण्डव पत्नी द्रौपदी के नेत्रों का स्मरण करते हुए दिखाया गया है। उसकी यह स्मृति अनुचित आलम्बन (द्रौपदी) के विषय में होने से भावाभास है।[३६]

ख. परपत्नीगत भाववर्णन :

अलङ्कारसर्वस्व की 'विमर्शिनी' टीका के लेखक जयरथ ने परपत्नी विषयक 'औत्सुक्य' वर्णन को भावाभास स्वीकार किया है। शास्त्र एवं लोक में परपत्नी के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निन्द्य समझा जाता है।[३७] अतः

---

३३. देवगुरु वृहस्पति की पत्नी तारा को एक बार चन्द्रमा उठा कर ले गया और याचना करने पर भी वापिस नहीं किया। घोर युद्ध हुआ, अन्त में ब्रह्मा ने चन्द्र को इस बात के लिए विवश कर दिया कि तारा वृहस्पति को वापिस कर दी जाए। तारा से बुध नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। वह बुध ही चन्द्रवंशी राजाओं का पूर्वज कहलाया। – संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन आप्टे कृत।

३४. सर्वेत्यादि पदत्रयेण तासां यावत्स्त्रीगुणयुक्तत्वेन नायकस्यान्यस्त्रीस्मरणानौचित्यं द्योत्यते। एवं चात्र ताराख्यगुरुसुन्दरीस्मरणमेव हेत्वलङ्कारादिभ्यः प्राधान्येन ध्वनितम्। तस्य चानुचितविषयत्वेन भावाभासत्वं तेनात्र क्षयीति पदसूचितं नायकस्य महापातकित्वेन राजयक्ष्मशालित्वं व्यज्यते। – साहित्यसार, ४/१७८ 'सरसामोद' संस्कृत व्याख्या।

३५. साहित्यसार, ५/१९, 'सरसामोद' संस्कृत व्याख्या।

३६. यहाँ भावाभास कृष्णरति के अङ्गरूप में वर्णित हुआ है।
– अत्र भगवद्रत्याख्यभावे द्रौपद्याः पाण्डवपत्नीत्वेन मातृप्रायत्वात् दुर्योधननिष्ठ तन्नेत्र स्मृतिरूपभावस्यानुचित-विषयत्वेनाभासत्वात् स तावदमुख्यत्वादङ्गमेव। – साहित्यसार, ५/१९ वृत्ति भाग।

काव्यादि में भी इस प्रकार के शास्त्रनिषिद्ध वर्णन होने पर पाठक को अनौचित्य का ही अनुभव होगा। जयरथ प्रदत्त उदाहरण इस प्रकार है –

द्विषां तवारण्यनिवासमीयुषां नितम्बिनीनां निकुरम्बकं नृप।
मुहुर्मुहुस्त्र्यश्रवलद्विवोचनं न केन पल्लीपतिना न निरीक्षितम्।।[३८]

कवि कह रहा है, हे राजन् ! वनों में पड़े हुए आपके शत्रुओं की झुण्ड की झुण्ड स्त्रियों को बार-बार कनखी के पास घुमा-घुमाकर किस पल्लीपति (भीलों के गाँव के स्वामी) ने नहीं देखा ? अर्थात् सभी ने देखा।

यहाँ शबरों में जो औत्सुक्य भाव दिखाया गया है, वह परस्त्री विषयक होने से अनुचित है। अतः वह भावाभासरूप है। वह कविनिष्ठ राजविषयकरति का अङ्ग है। इस हेतु जयरथ के अनुसार यहाँ 'ऊर्जस्वि-अलङ्कार' है।[३९]

इसी प्रकार परपतिविषयक भाव वर्णन में भी शास्त्रीय दृष्टि से भावाभास स्वीकार किया जाना चाहिए।

३. अननुरक्ता के प्रति भाव-प्रदर्शन :

आचार्य मम्मट ने भावाभास का अधोलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः।।[४०]

सीता को लक्ष्य करके रावण की उक्ति[४१] है कि – वह पूर्णिमा के समान (सुन्दर) मुखवाली, चंचल और बड़ी-बड़ी आँखों से युक्त और उभरते नवयौवन से उद्भूत हावभावों से इठला रही है, सो अब मैं क्या करूँ। उसके साथ किस प्रकार मैत्री सम्बन्ध स्थापित करूँ और उसकी स्वीकृति प्राप्त करने का क्या उपाय है।

यहाँ चिन्ता अनौचित्य प्रवर्तित है। अतः भावाभास है।[४२] काव्य-प्रकाश के

---

३७. परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्।। – मनुस्मृति, ८/३५२

३८. अ० स०, सूत्र ८३ के अन्तर्गत (विमर्शिनी टीका)।

३९. अत्र शबराणां परदारविषयमौत्सुक्यमनौचित्येन प्रवृत्तमिति भावाभासो राजविषयां रतिं प्रत्यङ्गम् - वही, विमर्शिनी टीका।

४०. का० प्र०, ४/३६ (उदाहरण)।

४१. सीतामुद्दिश्य रावणोक्तिरियम् - का० प्र०, वामनी टीका, पृ० १२१

टीकाकार 'वामन झलकीकर' का विचार है कि पहिले स्त्री के अनुराग का वर्णन होना चाहिए। उसके बाद स्त्री के इशारों पर पुरुष का अनुराग दिखाना चाहिए। परन्तु इस नियम के विपरीत यहाँ अननुरक्ता सीता के प्रति रावण (पुरुष) के अनुराग का वर्णन हुआ है। इसलिए इस उदाहरण[४३] में चिन्ता रूपी व्यभिचारिभाव का प्रदर्शन अनौचित्यपूर्ण है। अतः यह भावाभास का उदाहरण है।

उद्योतकार के अनुसार यहाँ **'मैत्री कथं करोमि'** इस वाक्य से मैत्री के अभाव की सूचना मिलती है। अतः यहाँ चिन्ता अनौचित्य प्रवर्तित है।[४४]

इस सन्दर्भ में, हमारा निवेदन है कि पहिले पुरुष का अनुराग वर्णन होने मात्र से अनौचित्य का अनुभव नहीं होता। पुरुष का अनुराग यदि उचित आलम्बन के प्रति प्रदर्शित हो तो स्त्री का अनुराग बाद में दिखाने पर भी पाठक को वहाँ रस अथवा भाव की ही अनुभूति हो सकती है।

महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में तपोवन में वृक्षसिञ्चन करती हुई शकुन्तला को देख कर राजा दुष्यन्त ही पहिले अनुरक्त हुआ है।[४५] वहाँ पाठक को किसी प्रकार भी अनौचित्यानुभूति नहीं होती।

वस्तुतः यहाँ अनौचित्य का कारण अनुचित आलम्बन के प्रति भाव प्रदर्शन है। रावण की चिन्ता मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की पत्नी को लक्ष्य करके प्रकट हुई है। सीता रावण के प्रति उपेक्षाभाव रखती है। पाठक को भी सीता के साथ रावण की मैत्री काम्य नहीं है। अतः वह रावण के चिन्ताभाव से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुचित आलम्बन के प्रति भाव प्रदर्शन का यह उदाहरण दिया है :

निर्माल्यं नयनश्रियः कुवलयं वक्त्रस्य दासः शशी
कान्तिः प्रावरणं तनो र्मधुमुचो यस्याश्च वाचः किल।

---

४२. अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता - का० प्र०, ३/३६ के अन्तर्गत।

४३. "आदौ वाच्यः स्त्रियो रागः पश्चात्पुंसस्तदिङ्गितैः"
इति हि औचित्यम्। तद्वैपरीत्येनाननुरक्तायामनुरागोऽयुक्त इति – रतेरनौचित्यप्रवर्तित्वाद् व्यभिचारिभावस्य चिन्ताया अपि, अनौचित्य-प्रवर्तित्वम्। व्यभिचारिभावस्य चिन्तायाः प्राधान्येनाभिव्यक्तत्वाद् भावत्वम्" – का० प्र०, वामनी टीका, पृ० १२१

४४. 'उद्योतकारस्तु मैत्रीं कथं करोमीत्युक्त्वा मैत्र्यभावलाभादनौचित्य प्रवर्तित-चिन्तेत्याहुः' – का० प्र० 'वामनी टीका', पृ० १२१

४५. द्रष्टव्य, अभिज्ञानशाकुन्तल (प्रथम अङ्क)।

विंशत्या रचिताञ्जलिः करतलैस्त्वां याचते रावण-
स्तां द्रष्टुं जनकात्मजां हृदय हे नेत्राणि मित्री कुरु॥[४६]

अर्थात् (सीता के) आँखों की शोभा की निर्मलता ही कुवलय (नील कमल) है। चन्द्रमा (उस सीता के) मुख का दास है। शरीर की कान्ति ही उसकी ओढनी या दुपट्टा है। और जिसकी वाणियाँ अमृत बरसाने वाली हैं। बीस अंगुलियों से अञ्जलि बनाकर (अर्थात् हाथ जोड़ कर) रावण तुमसे प्रार्थना करता है कि हे हृदय ! जनक तनया सीता को देखने के लिए नेत्रों को मित्र बनाओ अर्थात् नेत्र सृदश बनो।

सीता के रूपमाधुर्य में आसक्त रावण उसे देखने के लिए व्याकुल हो रहा है। सीता उससे घृणा करती हैं, अतः पाठक उसके औत्सुक्यभाव से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। शास्त्रीय शब्दावली में, उपर्युक्त उदाहरण में रावण का औत्सुक्य सीता रूप अनुचित आलम्बन के प्रति प्रकट होने से अनौचित्य प्रवर्तित है। अतः भावाभास है।[४७]

विद्याधर ने भाव की अनुचित-प्रवृत्ति का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :

अस्मद्विक्रमचेष्टितान्यखिलसत्रैलोक्यहेलाजय-
प्रह्वीभूतसुरासुराणि भवतो भूमेः सुता शृण्वती।
पत्यौ द्वेषकषायितेन मनसा स्निग्धा मयि स्थास्यति
स्त्रीणां प्रेम यदुत्तरोत्तरगुणग्रामस्पृहाचञ्चलम्॥[४८]

अर्थात् समस्त त्रैलोक्य को अति सरलता से जीत कर सुर एवं असुरों को जिन्होंने नीचे झुका दिया हे, ऐसी मेरी वीरता की कहानी को सुनकर सीता का मन अपने पति (राम) के प्रति द्वेष से दूषित हो जाएगा और वह मेरे प्रति अनुरक्त हो जाएगी; क्योंकि स्त्रियों का प्रेम गुणों के प्रति उत्तरोत्तर स्पृहा के कारण प्रायः चंचल होता है।

इसमें भी रावण का औत्सुक्त अनौचित्य-प्रवर्तित है। अतः भावाभास है।[४९]

---

४६. का० अनु०, २/५५ के अन्तर्गत।

४७. अत्रौत्सुक्यम् - वही, २/५५ उदाहरण पर वृत्ति।

४८. एकावली, पृ० १०७, तत्त्व विवेचक प्रेस, बम्बई, सन् १९०३

४९. एकावली, पृ० १०७

४. स्वभाव के प्रतिकूल भाव वर्णन :

आचार्य विश्वनाथ ने वेश्या आदि द्वारा लज्जा प्रदर्शन में भावाभास स्वीकार किया है –

भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्।[५०]

वेश्या स्वभाव से ही निर्लज्ज होती है। अपने निर्लज्ज व्यवहारों से पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करना ही उसका कर्म है। वह न किसी से प्रेम करती है, न द्वेष।[५१] अत: वेश्या को लज्जा करते हुए देखकर सहृदय को वितृष्णा ही होगी।

इसी प्रकार बालक आदि की स्त्री विषयक कामना एवं वृद्धा की पुरुषविषयक कामना आदि में भी भावाभास स्वीकार करना चाहिए।

५. अधमपात्रगत भाव वर्णन :

आचार्य शिङ्गभूपाल ने अधमपात्रगत व्यभिचारिभाव के वर्णन को भावाभास माना है। उनके अनुसार अधमपात्रगत भाव वर्णन को अनुचित मानने का अभिप्राय उसकी (भाव प्रदर्शन) की अयोग्यता से है –

अयोग्यकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्[५२]

इन्होंने नीच पुरुषगतभाव का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है –

अभ्युत्तानशयालुना करयुगप्राप्तोपधानश्रिया
गन्धूरस्य तरोस्तले घुटपुटघ्वानानुसन्धायिभिः।
दीर्घैः श्वासभरैः सफूत्कृतिशतैरास्फोटितोष्ठद्वयं
तत्पूर्वं कृषिकर्मणि श्रमवता क्षुद्रेण निद्रायते।।[५३]

– दोनों हाथों को तकिया बना कर गन्धूर वृक्ष के नीचे लेटा हुआ, एवं घर्राटे भरे सी-सी की ध्वनि युक्त लम्बे-लम्बे श्वासों से जिसके दोनों होंठ फट गए हैं, ऐसा कोई क्षुद्र व्यक्ति पूर्वकृत कृषि कर्म के थकावट के कारण सो रहा है।

---

५०. सा० द०, ३/२६६

५१. '...... .. . .वेश्या सामान्यनायिका।
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः।। – वही, ३/६७-६८

५२. र० सु०, २/९९

५३. वही, पृ० ८५

इस पद्य में नीच व्यक्ति की निद्रा का वर्णन किया गया है। सहृदय को इससे समुचित आस्वाद प्राप्त नहीं होता। अतः यहाँ भावाभास है।[५४]

६. पशु पक्षिगत भाव वर्णन :

हेमचन्द्र, शिङ्गभूपाल एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने पशु-पक्षियों के भाव-वर्णन में भावाभास स्वीकार किया है। पशु-पक्षियों में भाव प्रकट करने की योग्यता नहीं होती। अतः उनमें वर्णित भाव अनुचित कहे जाते है।[५५] हेमचन्द्र एवं नरेन्द्र प्रभसूरि ने पशुगत भाव वर्णन का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है :

त्वत्कटाक्षावलीलीलां विलोक्य सहसा प्रिये।
वनं प्रयात्यसौ व्रीडाजडदृष्टि मृगीजनः॥[५६]

– हे प्रिये ! तुम्हारी कटाक्षलीलाओं को देखकर लज्जा से स्तब्धदृष्टि यह मृगी-समुदाय सहसा वन की ओर जा रहा है।

यहाँ व्रीडा भाव का आलम्बन पशु मृगी है। अतः भावाभास है। शिङ्गभूपाल ने अधोलिखित उदाहरण में नीचपक्षिगत भाववर्णन के कारण भावाभास माना है :

वेलातटे प्रसूयेथा या भूः शङ्कितमानसा।
मां जानाति समुद्रोऽयं टिट्टिभं साहसप्रियम्॥[५७]

– समुद्र के तट में बच्चे जनो, मन में शङ्का लाने की आवश्यकता नहीं। (क्योंकि) यह समुद्र साहस-प्रेमी मुझ टिट्टिभ (टिटिहिरी) को जानता है।

यदि समुद्र के किनारे बच्चों को पैदा करती हूँ तो उन्हें उमड़ती हुई समुद्र की लहरें बहा ले जाएँगी। इस प्रकार शङ्का करती हुई अपनी पत्नी के समाने कोई टिटिहिरी पक्षी गर्व कर रहा है। यहाँ 'गर्व' व्यभिचारिभाव तुच्छ पक्षिविषयक होने से सहृदय को समुचित भावास्वाद प्राप्त नहीं होता। अतः यह भावाभासरूप है।[५८]

---

५४. "अत्र नीचगता निद्रा भावकेभ्यो नातिस्वदते।" – र० सु०, पृ० ८५
५५. "अयोग्यकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ् नराश्रयम्–" – वही, २/९९
५६. (क) का० अनु०, २/५४ के अन्तर्गत, पृ० १२२
(ख) अलङ्कार महोदधि, ३/३/५३, पृ० ९६
५७. र० सु०, पृ० ८५
५८. अत्र यदि समुद्रवेलायां प्रसूये, तर्हि उद्वेलकल्लोलमालादिभि र्ममापत्यानि हृतानि भवेयुरित शङ्कितायां निजगृहिण्यां कश्चिद् टिट्टिभः पक्षिविशेषो गर्वायते। तदयं गर्वो नीचतिर्यग्गतत्वादाभासो नातीव स्वदते। – वही, पृ० ८५

उल्लेखनीय है कि शिङ्गभूपाल ने तुच्छ पक्षि विषयक भाव वर्णन में ही अनौचित्य स्वीकार किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे उत्तम पक्षी आदिगत उत्साहादि वर्णन में 'भाव' ही मानते हैं, भावाभास नहीं।

७. निरिन्द्रियगत भाव वर्णन :

आचार्य हेमचन्द्र, शिङ्गभूपाल एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने निरिन्द्रियगत भाव वर्णन को भावाभास माना है। मेघ, पवन, वृक्ष, लता आदि जड़ वस्तु चित्तविकार से शून्य होते हैं। इनमें भाव को ग्रहण करने की योग्यता का सर्वथा अभाव है। अतः इनमें मानवीय भावों का आरोप करना सर्वथा असत्य होने से अनुचित है।[५९]

हेमचन्द्र एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने निरिन्द्रियगत भाव वर्णन का निम्नोक्त उदाहरण दिया है –

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तन्यन्त्यो मेघपङ्क्तयः।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते॥[६०]

– भारी गर्भ के बोझ से खिन्न हुई एवं धीरे-धीरे कराहती (शब्द करती) हुईं मेघपङ्क्तियां पर्वत की अधित्यका (पहाड़ के ऊपर की समतल भूमि) रूपी गोदी में सो रही है। यहाँ 'आलस्य' व्यभिचारिभाव का वर्णन अचेतन मेघगत होने से भावाभास है। मेघपंक्ति का गर्भवती होना और उस कारण आलस्य करना आदि उसके कार्य हैं। सहृदय पाठक को इस प्रकार के असत्य-वर्णन में विश्वास नहीं होता, जिससे वह ऐसे प्रसङ्गों से भाव का निर्विघ्न आस्वाद प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

शिङ्गभूपाल ने भी निरिन्द्रियगतभाव को भावाभास स्वीकार किया है –

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाकोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम्।

---

५९. असत्यत्वादयोग्यत्वादनौचित्यं द्विधा भवेत्।
असत्यत्वकृतं तत् स्यादचेतनगतं तु यत्॥ – र० सु०, २/९९
– विशेष विवरण के लिए, देखिएः प्रस्तुत रचना, अ० ५, 'निरिन्द्रियगतरति प्रकरण।'

६०. (क) का० अनु०, पृ० १२१ (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन्-१९३४)।
(ख) अ० महो०, पृ० ९६ (ओ० इं०, बड़ौदा, १९४२)।

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
नच्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे॥[६१]

– 'कोई पथिक शाखोटक (सेहुँड) के वृक्ष से पूछ रहा है – 'भाई, तुम कौन हो ? (शाखोटक उत्तर देता है)' कहता हूँ भाई, मुझ अभागे को शाखोटक वृक्ष समझो।' (पथिक फिर पूछता है)' तुम इतने वैराग्य से क्यों बोल रहे हो।' (शाखोटक उत्तर देता है)' देखो, रास्ते के बाईं ओर जो बरगद का पेड़ है, उसके नीचे जाकर पथिक विश्राम लेते हैं और मैं रास्ते के बीचो-बीच खड़ा हूँ, फिर भी मेरी छाया परोपकार करने में असमर्थ है।

इस पद्य में शाकोटक (शाखोटक) नामक वृक्ष में वैराग्य की भावना दिखाई गई है किन्तु अचेतन वृक्ष में चित्तविकार की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण वह अनौचित्यपूर्ण है। अतः यहाँ 'निर्वेद' भाव की प्राधान्येन अभिव्यक्ति भावाभासरूपा है।[६२]

भावाभास एवं अलङ्कार :

१. भावाभास एवं ऊर्जस्वि अलङ्कार

२. भावाभास एवं समासोक्ति आदि अलङ्कार।

१. भावाभास एवं ऊर्जस्वि अलङ्कार :

(क) अलङ्कारवादी आचार्य :

अलङ्कारवादी आचार्य उद्भट ने अनौचित्य से प्रवृत्त भाव निरूपण को 'ऊर्जस्वि-अलङ्कार' कहा है।[६३] उसके बाद उनके अनुयायी रुय्यक ने भावाभास को ही 'ऊर्जस्वि' की संज्ञा प्रदान की है।[६४]

---

६१. र० सु०, पृ० ८६

६२. "अत्र वृक्षविशेषत्वादचेतने शाकोटके चित्तविकारस्यासम्भवादनुचितो-निर्वेदोऽयमाभासत्वमापद्यते।" – वही, पृ० ८६

६३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।। – काव्यालङ्कारसार सङ्ग्रह, ४/५

६४. रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय-उर्जस्वि-समाहितानि। अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र ८३
– विशेष विवरण के लिए देखिए, प्रस्तुत कृति, अ० ३ 'रसाभास और ऊर्जस्वि' शीर्षक।

(ख) रस-ध्वनिवादी आचार्य :

रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारवादियों के उपर्युक्त मत के विरुद्ध 'ऊर्जस्वि' का विषय उस काव्य को माना, जिसमें भावाभास अङ्गरूप में वर्णित हो।[६५] अलङ्कारवादियों ने अङ्गीभूत भावाभास को 'ऊर्जस्वि' माना है।

२. भावाभास एवं समासोक्ति आदि अलङ्कार :

आचार्य हेमचन्द्र ने समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा तथा श्लेषादि अलङ्कारों को रसाभास एवं भावाभास का जीवित माना है।[६६] इन अलङ्कारों को आभास का जीवित कहने का तात्पर्य यह है कि ये अलङ्कार रसाभास भावाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इन अलङ्कारों को रसाभास-भावाभास का सहायक मानने का कारण यह है कि इन में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किसी न किसी रूप में होता है, किसी न किसी रूप में दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। समासोक्ति में यही विशेष रूप से सिद्ध होता है। प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप से जहाँ एक ओर यह अलङ्कार सिद्ध होता है, वहाँ दूसरी ओर निरिन्द्रिय एवं तिर्यगादि में मानवीय भावों का प्रदर्शन होने से रसाभास-भावाभास भी उपस्थित हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ –

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसां कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः॥[६७]

– (अल्पवयस्क कुमारी पर आसक्त, अनुराग चेष्टाएं दिखाते हुए कामुक के प्रति किसी की उक्ति है) – हे भ्रमर, उपमर्द सहन करने के योग्य अन्य पुष्पलताओं में अपने मन को विनोदित करो। भोली-भाली थोड़ी उमर वाली

---

६५. (क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥ – ध्व० आ०, २/५
(ख) रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा॥
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्॥ – सा० द०, १०/९५-९६

६६. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम् - का० अनु०, २/५५ सू० के अन्तर्गत।

६७. सा० द०, ३/१६९ (उदाहरण)।

परागशून्य इस नवमालिका (चमेली) की कोमल कली को असमय में क्यों व्यर्थ बदनाम कर रहे हो।

इसमें कामुक तथा भ्रमर का कार्य समान ही दिखाया गया है, अतः यह समासोक्ति का भी उदाहरण है और पक्षी भ्रमर में चपलता के प्रदर्शन से भावाभास का भी उदाहरण है।

इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के उदाहरण भी समझे जा सकते हैं।[६८]

सारांश

संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत भावाभास विषयक सामग्री का अनुशीलन करने के पश्चात् भावाभास के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

१. सभी आचार्यों ने अनौचित्य को भावाभास का आधार स्वीकार किया है।

२. मम्मट एवं जयदेव को छोड़कर शेष सभी आचार्यों ने भावाभास के विवेचन में प्रधानरूप से अभिव्यक्त सञ्चारिभाव के अनुचित प्रवर्त्तन को ही स्पष्ट किया है।

३. किसी भी आचार्य ने अपरिपुष्ट स्थायिभाव का अनौचित्य प्रदर्शित नहीं किया।

४. मम्मट ने शत्रु द्वारा की जाने वाली स्तुति को भावाभास माना है।

५. जयदेव ने भक्त की अनेक देवताविषयक रति को भावाभास कहा है।

६. निम्नोक्त प्रसङ्गों में व्यभिचारिभाव का अनौचित्य स्वीकार किया गया है –

   (क) गुरु, मुनि आदि की कन्या अथवा पत्नी आदि के प्रति भाव प्रदर्शन में,

   (ख) परपत्नीगत भाव वर्णन में,

   (ग) अननुरक्ता स्त्री के प्रति भाव प्रकट करने में,

   (घ) स्वभाव के प्रतिकूल भावप्रदर्शन में,

   (ङ) अधमपात्रनिष्ठ भाव वर्णन में,

---

६८. द्रष्टव्य, प्रस्तुत कृति, अ० - ३ 'रसाभास और अलङ्कार प्रकरण' के अन्तर्गत 'रसाभास और समासोक्ति आदि अलङ्कार' शीर्षक।

(च) पशु–पक्षिगत भाव वर्णन में और

(छ) निरिन्द्रियगत भाव वर्णन में।

७. अलङ्कारवादी आचार्यों ने भावाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वि–अलङ्कार में किया है।

८. हेमचन्द्र ने समासोक्ति आदि अलङ्कारों को भावाभास का जीवित माना है।

– भावाभास के विषय में कतिपय अन्य तथ्य भी प्रकट किए गए हैं :

– भावाभास रसादि ध्वनि अथवा उत्तम काव्य का ही एक प्रकार है। – आनन्दवर्धन, मम्मट।

– भावाभास आस्वादमय है। – विश्वनाथ।

अन्त में भावाभास के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि –

– रसाभास के समान भावाभास के अनौचित्य का आधार भी लोक एवं शास्त्र है।

– भावाभास - काव्य में साधारणीकरण की दशा एवं अनुभूति की प्रक्रिया रसाभास काव्य के समान ही होती है।[६९]

---

६९. देखिए, प्रस्तुत कृति; अ० २ के अन्तर्गत 'रसाभास और अनौचित्य'; 'रसाभास और साधारणीकरण'; 'रसाभास की अनुभूति' शीर्षक।

सप्तम-अध्याय

उपसंहार

रस और भाव की सामग्री में शास्त्रविरुद्धता, लोकाचारहीनता एवं अस्वाभाविकता के कारण सहृदय को प्रतीत होने वाला अनौचित्यानुभव रसाभास एवं भावाभास का कारण बनता है। सर्व प्रथम रुद्रट, रुद्रभट्ट एवं अभिनवगुप्त ने अनुभयनिष्ठ रति कोशृङ्गाराभास माना है। अभिनवगुप्त ने विभावाभास होने पर ही रसाभास स्वीकार किया है। रावण की सीता के प्रति रति में विभाव ही सत्य नहीं है, आभासरूप है, इसलिए वह रसाभास है। इसलिए नहीं कि सीता परस्त्री है। अभिनव ने सीता के प्रति रावण की रति कोशृङ्गाराभास मान कर केवल इतना ही बताना चाहा है कि दुष्ट पात्र का अपने में अननुरक्त किसी सत्पात्र के प्रति प्रेम दिखाने पर सहृदय कोशृङ्गार रस का आस्वाद प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जिसका प्रिय नहीं है, उसके प्रति व्यक्त शोक को भी विभावाभास के कारण ही अनुचित माना गया है। भोजराज ने हीनपात्रगत, तिर्यग्गत, प्रतिनायकगत एवं गौण पदार्थगत रति को रसाभास मान कर रसाभास की सीमा में वृद्धि की। मम्मट ने अनुभयनिष्ठरति के साथ-साथ बहुनायकनिष्ठरति को भी रसाभास में परिगणित कर रसाभास के क्षेत्र को और व्यापक बनाया। अलङ्कारवादी उद्भट, रुय्यक आदि ने रसाभास-भावाभास को ऊर्जस्वि-अलङ्कार में समाहित किया है। हेमचन्द्र ने रसाभास-भावाभास के प्रकरण में एक सर्वथा नवीन तथ्य प्रस्तुत किया है। इन्होंने समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों को रसाभास-भावाभास का जीवित माना है। साथ ही इन्होंने पशु-पक्षियों में एवं जड़ पदार्थों में मानवीय भावारोपण को भी रसाभास माना है। विद्याधर ने अभिनवगुप्त, मम्मट आदि की भांति अनुभयनिष्ठरति को तो रसाभास माना परन्तु भोजराज एवं हेमचन्द्र के मत के विरुद्ध इन्होंने तिर्यग्गतरति को रसाभास न मानकर रस ही स्वीकार किया है।

विद्याधर के पश्चात् विश्वनाथ ने रसाभास-भावाभास के विवेचन में नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक मान्यताओं को स्थान दिया और रसाभास के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य भी जोड़े। इन्होंने उपनायकनिष्ठ, मुनि-गुरु-पत्नीगत, बहुनायक विषयक,

अनुभयनिष्ठ, प्रतिनायकनिष्ठ, अधमपात्रगत तथा तिर्यग्गतरति में शृङ्गाराभास स्वीकार किया है। इसी प्रकार गुरु आदि में क्रोध, हीनपात्र में शान्त, गुरु के प्रति उपहास, ब्राह्मणबध आदि निन्द्य कर्मों में अथवा अधमपात्र में उत्साह तथा उत्तम पात्र में भय का निरूपण होने पर भी रसाभास माना गया है। इनमें से उपनायकनिष्ठ, मुनिगुरुपत्नीगत रति को रसाभास मानने के पीछे सदाचार की भावना है। गुरु आदि में क्रोध, ब्राह्मणबध आदि में उत्साह को रसाभास मानने में लोकाचार की भावना मानी जा सकती है। शेष प्रसङ्गों को रसाभास मानने का कारण मनोवैज्ञानिक है। केशवमिश्र ने पार्वती एवं शिव के केली वर्णन को अनुचित मानते हुए उसे महान् रस दोष माना है।

शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल ने रसाभास का विचार रस-प्रधानता के विचार से करते हुए अङ्गरस को अङ्गीरस की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने पर रसाभास माना है। शिङ्गभूपाल ने रसाभास के अन्य कारण अनौचित्य को स्पष्ट करते हुए अराग (अनुभयनिष्ठरति), अनेकराग (बहुनिष्ठरति), तिर्यग्राग एवं म्लेच्छराग को रसाभास माना है। शिङ्गभूपाल, भानुदत्त तथा अल्लराज ने बहुनायक निष्ठरति की भाँति बहुनायिकानिष्ठ रति को भी रसाभास मान कर समान दृष्टिकोण का परिचय दिया है। शिङ्गभूपाल ने वृक्षादि जड़ पदार्थगत भाव वर्णन को असत्य होने के कारण रसाभास-भावाभास माना है। रूपगोस्वामी यद्यपि भक्ति रस के आचार्य हैं परन्तु रसाभास के निरूपण में इन्होंने अभिनवगुप्त, मम्मट एवं विश्वनाथ के विचारों को ही लगभग अपना लिया है। रसाभास-भावाभास के विषय में गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने वाले अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं। इन्होंने उपनायकनिष्ठ, मुनि-गुर पत्नी आदि गत, बहुनायकनिष्ठ एवं अनुभयनिष्ठ रति में; कलहशील, कुपुत्र आदि विषयक एवं वीतरागादिनिष्ठ शोक में; ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डालादि में वर्णित निर्वेद में; निन्दनीय एवं कायर पुरुषों में तथा पिता आदि के विषय में होने वाले क्रोध एवं उत्साह में; ऐन्द्रजालिक के विषय में होने वाले विस्मय में; गुरु आदि के प्रति उपहास में; महावीरगत भय में तथा यज्ञीय पशु की मज्जा, रुधिर, मांस आदि को देखकर होने वाली जुगुप्सा में रसाभास स्वीकार किया है। इसी प्रकार गुरु कन्या आदि के विषय में होने वाली चिन्ता में भावाभास माना है।

वस्तुतः विश्वनाथ एवं जगन्नाथ के रसाभास-भावाभास के विवेचन में उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। इस विचाराधारा के अनुसार काव्य केवल आनन्द के लिए नहीं है, अपितु वह जीवन के उत्कर्ष के लिए है। अतः सामाजिक नीतिनियमों के विरुद्ध होने वाला वर्णन रसाभास-भावाभास माना गया है। जगन्नाथ के परवर्ती आचार्यों ने रसाभास-भावाभास के सम्बन्ध में कोई नूतन

उद्भावना एवं स्थापना स्थापित नहीं की; इन्होंने पूर्वाचार्यों के मतों को ही यथावत् ग्रहण कर पिष्टपेषण मात्र किया है।

रसाभास और भावाभास ये रस और भाव ही हैं या भिन्न हैं ? इस सम्बन्ध में पण्डितराज ने आचार्यों के दो अलग-अलग मतों का उल्लेख किया है –

१. कुछ आचार्य मानते हैं कि ये भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि दोनों समानाधि -करण नहीं हैं अर्थात् दोनों एक स्थान पर रहने वाले धर्म नहीं हैं। जो निर्मल है, सभी प्रकार के अनौचित्य से रहित होता है, वह रस अथवा भाव है। परन्तु रसाभास अथवा भावाभास में अनौचित्य की स्थिति अनिवार्य रहती है। अतः रस और भाव तथा रसाभास और भावाभास भिन्न-भिन्न हैं।

२. दूसरे आचार्य कहते हैं कि रस अथवा भाव में अनौचित्य के आ जाने से रस अथवा भाव की आत्महानि नहीं होती, स्वरूप नष्ट नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार अनौचित्य विरहित स्थायिभाव रस कहलाता है, उसी प्रकार अनौचित्यपूर्ण स्थायिभाव भी रस ही है। मात्र उसके अनौचित्य अथवा दोष का सङ्केत कर दिया जाता है। इस दोष का सङ्केत करने के लिए ही 'रस' कहने की अपेक्षा 'रसाभास' कहा जाता है। जैसे सदोष अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता तो वह अश्व ही है।

इस मतभेद से जो महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है, वह यह है कि रसाभास अथवा भावाभास-काव्य में अनुभूति सर्वत्र एक ही प्रकार की नहीं होती। रसाभास-भावाभास काव्य में आनन्दानुभूति कहीं तो बाधित अथवा अपूर्ण रह जाती है और कहीं अबाधित। रावण की सीता के प्रति रति में एवं उपनायकनिष्ठ रति में रसानुभूति की प्रक्रिया एवं स्वरूप को अलग-अलग मानना ही युक्ति संगत है।

साहित्य में रसाभास-भावाभास का वर्णन प्रमुख दो लक्ष्यों को लेकर होता है –

१. **प्रथम**, व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र में प्रसृत कुप्रवृत्तियों, अनाचारों एवं त्रुटियों को समाज में उजागर करने के लिए रसाभास-भावाभास का वर्णन अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणतया - यदि कोई कवि समाज में वेश्याओं के भीषण शोषण, धूर्तता, वञ्चना आदि से पुरुषों को सावधान करने के उद्देश्य से काव्य-रचना करना चाहे तो उसे वेश्याओं के लोक एवं शास्त्र गर्हित कार्यों का वर्णन करना ही पड़ेगा, जिससे रसाभास-भावाभास भी स्वतः उपस्थित हो जाएँगे।

२. **दूसरे**, किसी दुष्ट पात्र के प्रति सामाजिक की घृणा, क्षोभ, उपेक्षा आदि भाव जगाने के उद्देश्य से भी कवि-गण रसाभास-भावाभास की

योजना किया करते हैं। जैसे, रावण के प्रति पाठक का क्षोभ, घृणा आदि भाव जगाना अभीष्ट हो तो कवि उससे अधिक से अधिक अनुचित कार्य करवाएगा, जिससे सहृदय पाठक के मन में रावण के प्रति कवि का अभीष्ट भाव-घृणा, क्षोभ आदि-जागृत हो सके। इससे काव्य में रसाभास-भावाभास का महत्त्व एवं स्थान निश्चित होता है।

वस्तुत: रसाभास-भावाभास की कल्पना में भारतीय आचार्यों के आदर्शवादी एवं यथार्थवादी दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों का समन्वय हुआ है। आचार्यों ने नैतिक एवं सामाजिक वर्जनाओं से युक्त काव्य को रसाभास-भावाभास मान कर जहाँ एक ओर साहित्य को आदर्शवादी बनाने का निर्देश दिया है, वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा रसाभास-भावाभास को रस की ही कोटि में स्थान देना इस तथ्य की ओर सङ्केत करता है कि काव्यकार किसी भी प्रकार के आदर्श अथवा नीति के पालन के लिए बाध्य नहीं है। काव्य-जगत् का वह स्वयं प्रजापति है। यथारुचि वह काव्य-रचना के लिए स्वतन्त्र है। व्यक्ति अथवा समाज के दोषों का यथावत् चित्र उतारने के लिए वह सदाचार एवं लोकाचार की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय तथ्य का भी उल्लेख कर सकता है और करना भी चाहिए, तभी कोई साहित्य समाज का सच्चा दर्पण बन सकता है। रसाभास-भावाभास की सिद्धि भी इसी में है।

अनुशीलित – ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
१. अभिनवभारती	: अभिनवगुप्त (हिन्दी भाष्यकार, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि)	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६०। १म संस्करण।
२. अलङ्कारमहोदधि	: नरेन्द्र प्रभसूरि (सम्पादक, लालचन्द्र भगवान् दास गान्धी)	ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ोदा, १९४२ ई०
३. अलङ्काररत्नाकर	: शोभाकरमित्र (सम्पादक - सी० आर० देवधर)	ओरियन्टल बुक एंजेन्सी, पूना, १९४२ ई०
४. अलङ्कारशेखर	: केशवमिश्र	पाण्डुरङ्ग जावजी निणर्यसागर प्रेस, मुम्बई - सन् १९२६
५. अलङ्कारसर्वस्व	: रुय्यक (हिन्दी व्याख्या - डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी - १ सन् - १९७१
६. अलङ्कारसारसंग्रह	: उद्भट (प्रतिहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति समेत)	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना - १९२५ ई०
७. उज्ज्वलनीलमणि	: रूपगोस्वामी	
८. एकावली	: विद्याधर	तत्त्वविवेचक प्रेस, मुम्बई, सन् - १९०३।
९. औचित्य-विचारचर्चा	: क्षेमेन्द्र (सम्पादक - प्रो० राममूर्त्ति त्रिपाठी)	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, वि० सं० - २०२१

१०. काव्यदर्पण : राजचूडामणि दीक्षित (सम्पा० पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री) श्री वाणीविलास प्रेस, राजस्थान।

११. काव्यप्रकाश : मम्मट (हिन्दी भाष्यकार, आचार्य विश्वेश्वर) ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी - १९६० ई०

१२. काव्यप्रकाश : मम्मट (व्याख्याकार - हरिदत्त शास्त्री) साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ - २, १९७७ ई०

१३. काव्यप्रकाश : मम्मट (वामनाचार्य झलकीकर कृत बालबोधिनी टीकायुक्त)

१४. काव्यप्रकाश दीपिका : चण्डीदास (सम्पा० शिवप्रसाद भट्टाचार्य) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-१९६५ ई०।

१५. काव्यप्रदीप : गोविन्दठक्कुर निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई - १९३३।

१६. काव्यप्रकाश-विवेक : श्रीधर (सम्पा०, शिवप्रसाद भट्टाचार्य)

१७. काव्यादर्शसङ्केत : (काव्यप्रकाश टीका) भट्ट सोमेश्वर- राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, राजस्थान १९५९ ई०

१८. काव्यादर्श : दण्डी (व्याख्याकार-आचार्य श्रीरामचन्द्र मिश्र) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - १९५८ ई०

१९. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र काव्यमाला - ७०, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९३४ ई०

२०. काव्यालङ्कार : भामह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२ ई०।

२१. काव्यालङ्कार : रुद्रट (व्याख्याकार - रामदेव शुक्ल) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - १, १९६६ ई०

२२. काव्यालङ्कार-सारसंग्रह	: उद्भट (इन्दुराजविरचित 'लघुवृत्ति' युक्त)	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२५ ई०
२३. काव्यालङ्कारसूत्र	: वामन	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि० सं० - २०३३
२४. कुवलयानन्द	: अप्पयदीक्षित (व्याख्याकार, डा० भोलाशंकर व्यास)	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी - १९६३ ई०
२५. चन्द्रालोक	: जयदेव (गागाभट्टकृत 'राकागम' संस्कृत टीका युक्त)	जयकृष्णदास हरिदासगुप्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी - वि० सं०, १९९५
२६. दशरूपक	: धनंजय (व्याख्याकार - डा० भोलाशंकर व्यास)	चौखम्बा विद्याभवन, बनारस - १९५५ ई०
२७. ध्वन्यालोक	: आनन्दवर्धन (व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर)	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि० सं० - २०२८
२८. ध्वन्यालोकलोचन	: अभिनवगुप्त (व्याख्याकार, जगन्नाथ पाठक)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - १९७९ ई०
२९. ध्वन्यालोकलोचन	: (पंडित रामषारक कृत 'बालप्रिया' संस्कृत टीका युक्त)	चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस।
३०. नञ्जराजयशोभूषण	: अभिनवकालिदास	ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा - १९३० ई०
३१. नाटकलक्षण रत्नकोश	: सागरनन्दी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी - १९७२ ई०
३२. नाट्यशास्त्र	: भरत (हिन्दी अनुवादक डा० रघुवंश)	

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
३३. नाट्यशास्त्र	: भरत (सम्पादक - बटुकनाथ एवं बलदेव उपाध्याय)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, बनारस - १९२९
३४. प्रतापरुद्रीयम्	: विद्यानाथ	कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - १९८१ ई०
३५. भक्तिरसामृत सिन्धु	: रूपगोस्वामी (व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर)	हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - १९६३ ई०
३६. भगवद्भक्ति रसायन	: मधुसूदन सरस्वती	
३७. भावप्रकाशन	: शारदातनय -	ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३० ई०
३८. रसगङ्गाधर	: जगन्नाथ (सम्पादक - मधुसूदन शास्त्री)	बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वि० सं०, २०२०
३९. रसगङ्गाधर	: जगन्नाथ (बद्रीनाथ कृत 'चन्द्रिका संस्कृत व्याख्या सहित)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७० ई०
४०. रसचिन्द्रका	: पं० श्री विश्वेश्वर पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस - बनारस सिटी, वि० सं० - १९८३
४१. रसतरङ्गिणी	: भानुदत्त (सम्पादक, देवदत्तर कौशिक)	मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, १९७४ ई०
४२. रसमञ्जरी	: भानुदत्त 'सुरभि' संस्कृत व्याख्या युक्त, (सम्पादक, पं० जगन्नाथ पाठक)	श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवनम्, बनारस, १९५१ ई०
४३. रसरत्नप्रदीपिका	: अल्लराज	भारतीय विद्याभवन, मुंबई, १९४५ ई०

४४. रसार्णव सुधाकर	: शिङ्गभूपाल	अनन्तशयन ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क - ५०, १९१६ ई०
४५. वक्रोक्तिजीवित	: कुन्तक (व्याख्याकार, श्री राधेश्याम मिश्र)	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी - वि० सं० - २०३३
४६. वाग्भटालङ्कार	: वाग्भट	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७
४७. व्यक्तिविवेक	: महिमभट्ट (सम्पादक, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस - वाराणसी, १९६४ ई०
४८. शृङ्गारतिलक	: रुद्रभट (सम्पादक, डा० आर० पिशल)	प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी-२, १९६८ ई०
४९. शृङ्गारप्रकाश	: भोजराज (डा० वी० राधवन् का शोधग्रन्थ) (हिन्दी अनुवादक, डा० पी०डी० अग्निहोत्री)	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल सन्, १९३९
५०. सरस्वती कण्ठाभरण	: भोजराज (व्याख्याकार, डा० कामेश्वरनाथ मिश्र)	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९७६
५१. साहित्यदर्पण	: विश्वनाथ (श्री शालग्राम कृत हिन्दी व्याख्या युक्त)	मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी, १९७७ई०
५२. साहित्यसार	: अच्युतराय (सरसामोद संस्कृत टीका युक्त)	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, सन् १९०६
५३. साहित्यसुधासिन्धु	: विश्वनाथदेव (सम्पादक, डा० रामप्रताप)	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७८ ई०

(ख) संस्कृत के काव्य-नाटक ग्रन्थ

१. अन्योक्तिमुक्तालता : शम्भु कवि — काव्यमाला गुच्छक - २, पाण्डुरंग जावजी, निणर्यसागर प्रेस, मुंबई, सन् - १९३७

२. अमरुशतक : अमरुक कवि (अनु० कमलेश दत्त त्रिपाठी) — मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

३. अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी सन्, १९८१

४. उत्तररामचरित : भवभूति (हिन्दी व्याख्याकार, डा० कृष्णकान्त शुक्ल प्रो० उमाकान्त शुक्ल) — साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, सन् १९७८

५. कुमारसम्भव : कालिदास (टीका - पं० गंगाधर शास्त्री) — चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सन् - १९५१

६. नैषधचरित : श्रीहर्ष (टीका हरगोविन्द शास्त्री) — चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सन् - १९५१

७. भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ (अनु० हरदत्त शर्मा) — पूना ओरियन्टल बुक एजेन्सी, १९३५ ई०

८. महावीरचरित : भवभूति (टीकाकार, श्रीरामचन्द्र मिश्र) — चौखम्बा विद्याभवन, चौक बनारस-१ सन् - १९५५

९. रघुवंश : कालिदास

(ग) अन्य ग्रन्थ

१. पाणिनीय धातुपाठ : लक्ष्मण जोशी

२. मनुस्मृति : मनु, — चौखम्बा सं० सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६५

३. महाभारत	: व्यास (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ खण्ड)	श्रीगीता प्रेस, गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश)
४. वाल्मीकीयरामायण	: वाल्मीकि (टीकाकार, पं० रामतेज शास्त्री)	पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९५९ ई०
५. श्रीमद्भागवत	: व्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश) वि० सं० - २०२०

(घ) हिन्दी - ग्रन्थ

१. अभिनव का रस-विवेचन	: नगीनदास पारेख (हिन्दी अनुवादक - डा० प्रेम स्वरूप गुप्त डा० सुरेशचन्द्र त्रिवेदी डा० श्रीराम नागर)	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी - १, प्रथम संस्करण,
२. आधुनिक युगों में नवीन रसों की परिकल्पना	: डा० सुन्दरलाल कथूरिया	विद्यार्थी प्रकाशन, के-७१, कृष्णनगर, दिल्ली - ५१, सन्-१९७६
३. काव्य में उदात्त तत्त्व	: डा० नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, वि० सं०, २०१३
४. काव्य में रस योजना	: डा० रविदत्त पाण्डेय	प्रकाशक-विमल पाण्डेय, ४९९/४, भोलानाथ नगर, शाहदरा, दिल्ली - ३२ प्रथम संस्करण, १९७९ ई०
५. काव्याङ्गप्रक्रिया	: डा० शङ्करदेव अवतरे	लिपि प्रकाशन, ई० - १०/४, कृष्णनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७७ ई०
६. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा	: डा० नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, वि० सं०, २०१३
७. भारतीय काव्य शास्त्र के प्रति-निधि सिद्धांत	: डा० राजवंश सहाय 'हीरा	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७ ई०

८. भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धांत : डा० कृष्णदेव झारी — अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ई०

९. भारतीय काव्याङ्ग : डा० सत्यदेव चौधरी — साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५९ ई०

१०. भारतीय साहित्यशास्त्र : आचार्य बलदेव उपाध्याय — नन्दकिशोर एण्ड सन्स चौक, वाराणसी सन् - १९६३

११. भारतीय साहित्य मेंशृङ्गार रस : डा० गणपतिचन्द्र गुप्त — नेशनल पब्लिशिंग हाउस २३, दरियागंज, दिल्ली, १९७२ ई०

१२. विचार और विश्लेषण : डा० नगेन्द्र — नेशल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१ ई०

१३. विचार और विवेचन : डा० नगेन्द्र — नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, १९६४ ई०

१४. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त — भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण, १९६२ ई०

१५. रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ-संस्करण वि० सं० - २०२३

१६. रससिद्धान्त : डा० नगेन्द्र — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९८० ई०

१७. रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष : डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी — प्रकाशक - एस० बलवन्त अजन्ता पब्लिकेशन्स (इन्डिया), दिल्ली - ७

१८. रससिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या : डा० तारकनाथ बाली — विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सन् - १९६४

१९. रससिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण : डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली - ६, सन् - १९६०

२०. रसाभास : डा० प्रशान्तकुमार वेदालंकार — शोधप्रबन्ध प्रकाशन, दिल्ली - ७, सन् - १९७८

२१. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सन् - १९७७

२२. शृङ्गाररस भावना और विश्लेषण : रमाशंकर जैतली — राजस्थान दिल्ली ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७२ ई०

२३. शृङ्गार रस का शास्त्रीय विवेचन : डा० इन्द्रपाल सिंह — चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी - १, १९६७ ई०

२४. समीक्षालोक : भगीरथ दीक्षित — इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली - ११००५१, द्वितीय संस्करण, १९७६ ई०

२५. संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति : डा० हरिश्चन्द्र वर्मा — लीलाकमल प्रकाशन, डी-१४१, साकेत, मेरठ।

२६. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास : डा० पी० वी० काणे (अनुवादक, डा० इन्द्रचन्द्र जोशी) — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ई०

२७. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय — सन् - १९५८

२८. साहित्य सन्दर्भ और मूल्य : डा० रामदशरथ मिश्र — भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली सन् - १९६१

(ङ) कोश-ग्रन्थ

१. अमरकोश : अमरसिंह — पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९५८

२. शब्दार्थचिन्तामणि (चतुर्थ भाग) : सुखानन्द — सज्जनयन्त्रालय, उदयपुर, १३ अक्टूबर, १९८५

३. संस्कृत हिन्दी कोश : वामनशिवराम आप्टे — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली - ७, प्रथम-संस्करण, १९६६

४. हलायुध कोश (अभिधानरत्न माला) : सम्पादक-जयशंकर जोशी — प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, वि० सं०, - २०१४

(च) ENGLISH BOOKS

1. Bhojaś Sṛngāra Prakāś — Dr. V. Raghavan — Karnataka Publishing House, Bombay, 1940.
2. Essays on Indian Poeticś (Volume - 1-2) — Satya Dev Chaudhari — Vasudev Prakashan, Delhi - 9, 1965.
3. History of Sanskrit Poetics — Sushil Kumar De — K.L. Mukhopadyay, Calcutta, 1960.
4. Studies in Indian Poetics — Siv Prasad Bhattacharya — Indian Studies : Past & Present, Calcutta - 20, 1964.
5. Sanskrit-English Dictionary — Sir Monier Willeam — Oriental Publishers 1488, Pataudi House Daria Ganj. Delhi-110 006.
6. Psychological Studies in Rasa — Rakesh Gupta — 1950.
7. Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit — A. Sankaran — Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi - 55, 1973.
8. The Character of Love — John Bayley — Collier Books New York, N.Y.I. Edn., 1963.
9. The Number of Rasas — V. Raghavan — Adyar Library, ADYAR (MADRAS), 1940.
10. The Sahitya-darpan of Vishwa-natha & The History of Sanskrit Poetics — P.V. Kane — 3rd Edition, Bombay, 1951.